DOWNLOADED FROM
WWW.AYUTECH.NET
AyuTech™
WHATSAPP - 9420697079

According to the syllabus of C.C.I.M., New Delhi.

शारीर क्रिया विज्ञान

(भाग १)

(हिन्दी)

वैद्य शिवाजी वाव्हळ एम्. एफ्. ए. एम्.	वैद्य राजेंद्र देशपांडे एम्. डी (शारीर क्रिया, कायचिकित्सा)
प्राचार्य, विभाग प्रमुख, शरीर रचना विज्ञान, गं. शा. गुणे आ. म. वि., अ. नगर. (निवृत्त),	**विभाग प्रमुख,** शारीर क्रिया विज्ञान, आयुर्वेद महाविद्यालय, निगडी, पुणे – ४४. **Cell - 922 68 10 630** **Phone - 020 - 25653630 (R)**
विभाग प्रमुख, शरीर रचना विज्ञान, येरला आयुर्वेद महाविद्यालय, खारघर, मुंबई.	

शंतनू प्रकाशन
www.shantanuprakashan.com

५	जीवनीयतत्व क्षाणांवग्न्यायां उत्पन्न लक्षणानि। (And Study of Vitamins & vitamin deficiencies)	२८६-२९४ ३०८-३१०
६	आहार परिणामकरभावाः	३२८
७	(पाकाग्निः) जठराग्निः	३२२
८	अच्छं पित्तं	३४२,४०३
९	भुताग्निधात्वंग्निनां वर्णनम् च।	३२२,३२३
गट ५		
१	दंतजिव्हालालाग्रंथी ग्रसनिकाभिअन्य पाकक्रियायाः विवेचनम्	३१४,३१८
२	महास्त्रोतांसि पाकक्रिया निमित्तागांनाम् क्रियायाश्च वर्णनम्। (And Study of Digestive System and Digestion Taking Place At Various Sites Like Mouth, Stomach, etc.)	३५३-३७६
३	आहार पाकक्रियायां अवस्थापाक क्रियायाश्च संपूर्ण वर्णनम्	३३८-३४३
४	सारकिट्ट विभाजनं सारानु शोषणं च (And Study of Digestion And Absorption)	३७६-३८०
गट ६		
१	आहारेण वातादि दोषोत्पत्तयः।	६०
२	विपाकस्य संपूर्ण वर्णनं च।	३४३
३	यकृत क्रियायाः वर्णनम्। (Liver Functions)	३१७ ३६०
४	प्रतिहारिणी सिरायाः वर्णनम्। तस्या यकृतसह संबंधस्य वर्णनम् च (And Liver Function, Portal Veins etc.)	३९३
५	आहारस्य सारभुतांश द्वारा रसादि धातोः उत्पत्ती वर्णनम्	३४७-३५२
६	धातुपाक वर्णनम् एतत संबंधीत विविधन्यायानां परिचयाः	४०४-४०८
७	मृदुमध्य क्रुर कोष्ठवर्णनम्।	३४४-३४६
८	अग्न्याशय प्लीहा क्रीयायाश्च वर्णनम्। (And Functions of Stomach, Small Intestine, Spleen Etc.)	३६९,३७२,३७५,३९८

अनुक्रमणिका

प्रकरण १	आयुर्वेद – परिचय	-----	१
प्रकरण २	शारीर क्रिया विज्ञान – महत्व	-----	११
प्रकरण ३	आयुर्वेद का मूलाधार – मौलिक सिद्धांत	-----	२०
प्रकरण ४	चिकित्साधिष्ठित पुरुष	-----	४८
प्रकरण ५	त्रिदोष – त्रिदेव के सन्मान	-----	५६
प्रकरण ६	वात दोष	-----	७४
प्रकरण ७	पित्त दोष	-----	१०१
प्रकरण ८	कफ दोष	-----	११९
प्रकरण ९	त्रिदोष समारोप एवं संशोधन	-----	१३५
प्रकरण १०	श्वसन प्रक्रिया	-----	१४१
प्रकरण ११	वाक्प्रवृत्ती	-----	१८६
प्रकरण १२	रस – रक्त संवहन प्रक्रिया	-----	१९७
प्रकरण १३	षट्क्रियाकाल	-----	२४१
प्रकरण १४	प्रकृति विचार	-----	२४७
प्रकरण १५	आहार	-----	२६९
प्रकरण १६	Nutrition	-----	२८१
प्रकरण १७	अन्नपचन प्रक्रिया	-----	३१४
प्रकरण १८	Digestion Enzyme, Progess	-----	३५३
प्रकरण १९	धातु पोषण न्याय	-----	४०४
प्रकरण २०	अभ्यासक्रम में समाविष्ट नूतन विषयांश	-----	४०९

प्रकरण १

आयुर्वेद - परिचय

आयुर्वेद भारत के साथही युरोप, अमरीका में भी लोकप्रिय हो रहा है और उसे - "Most wanted Medical Science अथवा Life Science माना जाता है।

Emergency में अथवा Infectious Diseases में Modern medicine निश्चितही उपयुक्त है। तथापि इस शास्त्र की भी कुछ मर्यादाएँ हैं। विशेषतः Chronic Diseases, Metabolic Disorders, Auto immune Diseases, Allergic conditions, Mental stress में आयुर्वेद शास्त्र की सलाह (प्रकृती, Daily Routine, Seasonal Adjustments, Diet) अत्यंत उपयुक्त है। इसी लिये जागतिक आरोग्य संघटना ने (WHO) आयुर्वेद को Alternative system of Medicine के स्वरुप में मान्यता दी है।

आयुर्वेद

आयुषः वेदः आयुर्वेदः।

आयुर्वेद का अर्थ है - आयुष्य का वेद। आयुर्वेद = आयु + वेद।

आयु का अर्थ हैं - जीवन और वेद का अर्थ है - ज्ञान। आयुर्वेद जीवन का सर्वांगीण ज्ञान कराने वाला शास्त्र है। यह केवल वैद्यक शास्त्र नहीं, बल्कि जीवन शास्त्र है, जीवन विद्या है।

आयु

आयु इति जीवित कालः।

जन्म से लेकर मृत्यु तक का काल यही आयु है।

शरीर - इन्द्रिय - सत्व - आत्मा, संयोगो धारि जीवितम्।

नित्यगः अनुबन्धश्च पर्यायः आयुरुच्यते॥ ... च.सू. १/४२

'आयु' का लक्षण

शरीर इन्द्रिय, सत्व, आत्मा इनके संयोग को आयु कहते है।

आयु के पर्याय – धारि, जीवित, नित्यग तथा अनुबन्ध

१) धारि

धारण करना। जब तक शरीर का इन्द्रिय, मन, आत्मा इनसे संयोग बना रहता है, तब तक ही मनुष्य को आयुष्यमान, दीर्घायु कहते है।

तत्पश्चात् गतायु = मृत कहते है, अतः संयोग बनाएँ रखने वाला = धारि।

धारयति, शरीर पूतितां गन्तुं न ददाति इति।

(अर्थात् शरीर को सड़ने, गलने, क्षरण होने की प्रक्रिया से बचाया जाता है।

धारि का अर्थ है - देह पालनम्, देह यापनम्, देह वर्तनम्।)

'धारणं' इस कार्य के २ भाग

अ) (शरीर सुखपूर्वक रखकर वृद्धि।)

ब) (क्षय, हानि, विकार (उपप्लव, दुःख) इनसे बचाव।) आयुर्वेद के अनुसार शरीर वृद्धी यह एक स्वभावसिद्ध धर्म है। अदृष्ट, काल, आहार ये इसके निमित्त कारण हैं। साथही प्रतिकूल परिस्थिती का अभाव (अविघात) यह भी एक सहायक किन्तु महत्त्वपूर्ण कारण है। वृद्धी (शरीर का बढना) स्वाभाविक और नैसर्गिक प्रक्रिया है, किंतु विशिष्ठ काल तक ही, अतः वृद्धी का काल यह एक कारण है।

वृद्धी के पर्यायी शब्द

उपचय, आप्यायन, राशि (पेशीयों का प्रमाण) - आकृती - वजन - लंबाई - चौडाई - उँचाई - गोलाई आदि सभीं प्रमाणों में बढौती अर्थात वृद्धी।

२) जीवितम्

जीवयति प्राणान् धारयति इति।

(अन्न, हवा, पानी इन बाह्य प्राणों द्वारा शरीर - इन्द्रिय - सत्व - आत्मा इन आभ्यंतर प्राणों का आजीवन धारण किया जाता है और शरीर जीवित रहता है।)

३) नित्यग

नित्यं गच्छीत इति नित्यगः।

मनुष्य प्राणियों में होने वाली गतिशीलता का कारण, इस लिए नित्यग यह नाम है।

आयु नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छति इति।

(आयुष्य नित्य, हर क्षण कम होता है और यह हमेशा (नित्यग) चलता रहता है।)

४) अनुबन्ध

अनुबन्धाति शरीर अन्तराणि इति।

(आयुष्य का संबंध, दूसरे शरीर से (प्रत्येक नवीन जन्म में) आता रहता है।)

अनुबन्धाति आयुः अपरापरशरीरादि – संयोग रुपतया इति अनुबन्धः।

(पर (आत्मा) और अपर (पांचभौतिक देह) इनका संयोग सातत्य से बना रहने की प्रक्रिया आयुष्य में महत्त्वपूर्ण है।)

'अनुबन्ध' शब्द 'चेतनावृत्ति' का सूचक है। चरक संहिता में 'अर्थे दशमहामूलीय अध्याय' (च.सू.३०) में यह सूचित किया गया है।

तत्र आयुश्चेतनानुवृत्ति जीवितम् अनुबन्धो धारि च इति एको अर्थः।

चेतनावृत्ति अर्थात जन्म से लेकर मृत्यु तक चेतना कायम रहना।

आयु शब्द के पर्यायों के अर्थ अब तक हमने देखे।

आयु = शरीर + इन्द्रिय + सत्व + आत्मा।

शरीर

(शरीर शब्दस्य व्याख्या, शरीरस्य पर्यायक शब्दानां परिचयः।)

मनुष्य देह ही शरीर है।

व्युत्पत्ति

शीर्यते तत् शरीरम्। ..... **जिसका क्षरण होता है वह शरीर।**

व्याख्या

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूत विकार समुदायात्मकं समयोगवाहि। ... च.शा. ६/४

अर्थ – चेतना धातु (आत्मा) जिसमें अधिकारपूर्वक प्रविष्ट होता है, जो पंचमहाभूत विकारों के समुदाय से बना है और जिसमें सभी घटकों का समयोगवाहित्व दिखता है, उसे शरीर कहते है।

मनुष्य देह में उपस्थित चेतना धातु का (आत्मा) महत्त्व स्पष्ट करने के लिये अनेक सूत्रों का उल्लेख आयुर्वेद में किया गया है।

- **खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः।**
  चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः॥ ... च.शा. १
- **पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इति उच्यते।** ... सु.सू. १/२२

आत्मा परिचय

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्वभूत गुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ ... च.सू. १/५६

अर्थ

आत्मा निर्विकार है, पर (श्रेष्ठ) है, साथ ही मन, पंचमहाभूत गुण (शब्द, स्पर्श आदि) आदि इन्द्रियों की दृष्टी से चैतन्य का कारण है। आत्मा नित्य तथा द्रष्टा (साक्षी) होकर सभीं क्रियाओं का अवलोकन करता है।

निर्विकार का अर्थ है - तटस्थ. सुख दुःख समेकृत्वा।

पंचमहाभूत विकार समुदायात्मकम्

इस पृथ्वी पर उपस्थित प्रत्येक वस्तु पाँच मूलभूत पदार्थों से निर्मित है। उन्ही पंचमहाभूतों से (पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश) मानवी शरीर की निर्मिती होती है।

पंचमहाभूत इंद्रियगम्य नहीं होते (ज्ञानेंद्रिय के द्वारा उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता)। हमारे आस-पास जो कुछ भी उपस्थित है, वह सब पंचमहाभूतों से ही बना है अर्थात् पंचमहाभूत विकार है।

पंचमहाभूत विकार समुदायात्मकम्।

इससे मुख्यतः शरीर रचनात्मक जानकारी और 'समयोगवाही' शब्द से प्राकृत शारीर क्रिया सूचित की गई है।

दोष, धातु, मल ये पंचमहाभूत विकार हैं। इनसे निर्मित षडंग, पञ्चदश कोष्ठाङ्ग, षट्पञ्चाशत प्रत्यङ्ग आदि के समुदाय से निर्मित शरीर को **पंचमहाभूत विकार समुदायात्मकम्** कहा गया है।

शरीर असंख्य सूक्ष्म घटकों से बना है।

शरीरावयावास्तु परमाणुभेदेनापरिसङ्ख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात् अतिसौक्ष्म्यात् अतीन्द्रियत्वाच्च।

तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च। ... च.शा.७/१७

यहाँ पर **संयोग** का अर्थ है - 'पंचमहाभूतों के समवाय से जन्म लेने वाला पुरुष'। इस परमाणुसंयोग में वायु, कर्म, स्वभाव कारणस्वरुप में होते हैं।

इसी प्रकार **विभाग** (मृत्यु - आत्मा शरीर से पृथक् होना) इसके विषय में है।

समयोगवाहीत्व

समयोगवाहीत्व का अर्थ है - शरीर घटकों में सहकार्य, सहयोग, शारीरिक स्थूल, सूक्ष्म भावों में अपने आप में एवं एक दूसरे में सामंजस्य की भावना। उदा.

समदोषः, समाग्निश्च ...।

यह अवस्था।

शरीर में विरुद्ध गुण युक्त भावपदार्थ होते हैं।

उदा.- शीतगुणी कफ और उष्णगुणी पित्त इनमें सामंजस्य यह शरीर का वैशिष्ट्य है।

एकदूसरे को हानी पहुँचाए बगैर, परस्पर सहिष्णुता से रहना यही समयोगवाहीत्व है। सहिष्णुता 'सत्व' निदर्शक है। मानसिक स्तर पर सत्व और शारीरिक स्तर पर वायु योगवाही है। समयोगवाहीत्व की दृष्टी से वायु महत्त्वपूर्ण है। शरीर की क्रिया व्यापारों में घनिष्ट सहयोग होता है। यही समयोगवाहीत्व है।

उदा.- उष्णता अधिक होने पर रक्तवाहिनियाँ विस्तृत होकर स्वेद के द्वारा उष्णता

बाहर पडना।

हृदय, यकृत, वृक्क तथा फुफ्फुस के कार्य में परस्पर सहकार्य, उदक, स्वेद, मूत्र, क्लेद इनमे परस्पर समयोगत्व, सहअस्तित्व होता है। दोष आदि की साम्यावस्था से आरोग्यप्राप्ती (दोष साम्यम्/अरोगता) होती है। मानसिक भावों की साम्यावस्था का योग ने गौरव किया है (समत्वं योग उच्यते)। शरीर और मन इन दोनों में सहकार्य बनाए रखना यही समयोगवाहीत्व है।

शरीर का यह समयोग जीवंत शरीर में ही साध्य हो सकता है। अतः शारीर क्रिया के समयोग का मुख्य हेतू शरीरस्थ चेतनाधातु (आत्मा) है।

सुश्रुतोक्त शरीर व्याख्या

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थम् आत्मप्रकृति विकार समुच्छ्रितं 'गर्भ' इति उच्यते। तं चेतनावस्थितं वायु र्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्त - पाद - जिव्हा - घ्राण कर्ण- नितम्बादिभि रङ्गैरुपेतस्तदा शरीरं इति संज्ञां लभते।

तच्च षड्गं - शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति। ... सु. शा. ५/३

शरीर वृद्धीकर भाव

तद्यथा - कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहार - सौष्ठवम्, अविघातश्चेति॥

... च. शा. ६/१२

शरीर पर्याय

'श्रृ हिंसायाम' धातु से 'शरीर' शब्द की उत्पत्ती होती है।

शरीर शब्द के अन्य संदर्भ

१) आत्मनो भोगायतनं शरीरम्।

२) **आपाद तलमस्तमाकृतिः॥**

१	**काय**	**चीयते अनेन इति कायः (जिसका पोषण होता है।)**	**चय**	(Anabolism)
२	**शरीर**	**शीर्यते अनेन इति शरीरम्**	**अपचय**	(Catabolism)
३	**देह**	**धार्यते अनेन इति देहः**	**चयापचय**	(Metabolism)

'दिह उपचये धातु' से 'देह' शद्ध बनता है। जब तक अंग, प्रत्यंगों की वृद्धी होती है, तब तक 'देह' संज्ञा और तत्पश्चात् 'शरीर' संज्ञा, ऐसा भी एक मत है।

सूक्ष्म शरीर - अतिवाहिक शरीर - लिंग शरीर

आत्मा निर्गुण, निराकार एवं अविनाशी है। इसके कारण ही पूर्वजन्म के शुभ - अशुभ संस्कार अगले जीवन में भी संकरित होते हैं। एक देह की समाप्ति के पश्चात दूसरे देह में जाने तक, पूर्व शरीर के शुभाशुभ घटकों का सूक्ष्म परिणाम धारण करने वाले कुछ अधिष्ठान की आवश्यकता होती है। इसी अधिष्ठान को सूक्ष्म शरीर, अतिवाहिक शरीर, लिंग शरीर कहा जाता है। निर्गुण आत्मा पर गुणदोष नहीं रह सकते, अतः शुक्रशोणित संयोग का स्थूल अधिष्ठान प्राप्त होने तक आत्मा 'सूक्ष्म-अतिवाहक-लिंग' इस परमसूक्ष्म अधिष्ठान का उपयोग करता है। शुक्रशोणित संयोग के पश्चात शनैः शनैः पांचभौतिक विकारों के आवरण प्राप्त होकर स्थूलदेह का व्यक्तीकरण होता है।

शरीर - प्रकार

तत्र शरीरं योनिविशेषात् चतुर्विधम् उक्तम् अग्रे। ... च.शा.४/३५

१	जरायुज	Born from Womb	मनुष्य, गाय, भैस, घोडा, बकरी, बंदर
२	अण्डज	Born from Egg	पक्षी, मछली,सांप,छिपकली,चींटियां,ब्रह्म
३	स्वेदज	Generated by Warm Vapour Moisture	लीखा
४	उद्भिज	Sprouting	वृक्ष, इंद्रगोप

... च.शा. ३/१६

पुराण मत के अनुसार योनी संख्या ८४ लक्ष है।

'आयु' = शरीर + इंद्रिय + सत्व + आत्मा।

अब तक हमने 'शरीर' का अध्ययन किया।

इन्द्रिय क्या है ?

एकादश इन्द्रिय = ५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + १ उभयेन्द्रिय (मन)

इन्द्रिय

इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्' इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रियजुष्टम् इन्द्रियदत्तम् इति वा। ... ५/२/९३ इति साधुः।

ज्ञानेंद्रिय

ज्ञान ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय।

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनम् इति पञ्चेन्द्रियाणि। ... च. सू. ८/८

५ ज्ञानेंद्रिय (Five Senses)

श्रोत्र (कर्ण), त्वक् (त्वचा), चक्षु (नेत्र),
रसना (जिव्हा), घ्राण (नासा)

पञ्चेन्द्रिय अधिष्ठानानि

अक्षिणी कर्णो नासिके जिव्हा त्वक् इति॥ ... च. सू. ८/१०

अधिष्ठानानि – अधिकृत्य तिष्ठन्तीति, अधिष्ठानानि।

अधिष्ठान, इस आश्रय के स्थान में इंद्रिय निवास करते है।

जैसे - आत्मा देह में निवास करता है।

पञ्चेन्द्रियार्थाः – शब्दस्पर्शरुपरसगन्धाः। ... च. सू. ८/११

इन्द्रिय	विषय (इन्द्रियार्थ)
१) त्वक्	स्पर्श
२) रसना	रस
३) श्रोत्र	शब्द
४) चक्षु	रुप
५) घ्राण	गंध

प्रत्येक इन्द्रिय केवल अपने-अपने विषयों का अथवा अर्थ का ही ग्रहण कर सकता है।

नियतं तुल्ययोनित्वात् न अन्येन अन्यम् इति स्थितिः। ... सु. शा. १

कर्मेंद्रिय

ज्ञान ग्रहण के पश्चात, मन के आदेशानुसार कार्य करनेवाले इन्द्रिय।

हस्तौ पादौगुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि च।

कर्मेंद्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्मणि।

पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे।

जिव्हा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमो ऽनृता। ... च. शा. १/२५,२६

कर्मेंद्रिय	चरकोक्त कार्य	सुश्रुतोक्त कार्य
वाक्	वाक् उच्चारण	वचन
पाणि (हस्त)	ग्रहण, धारण, दान	आदान
पाद	गमन, रुकना	विहरण
पायु (गुद)	मल, अपानवायु त्याग	विसर्ग
उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)	मूत्र, वीर्य, त्याग	आनन्द

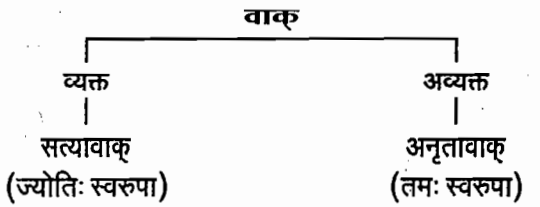

उभयेंद्रिय – मन

ज्ञानेंद्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर, उसके अनुसार कर्मेंद्रियों से सुयोग्य कार्य कराने का कार्य **मन** करता है, अतः मन ज्ञानेंद्रिय एवं कर्मेंद्रिय दोनों भी है।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थ आत्मसम्पत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतं इन्द्रियाणाम्। ...च.सू. ८ /४

मन को अतीन्द्रिय कहा गया है, इसीको **सत्व** भी कहा गया है। कुछ आचार्य इसे **चेतस** कहते हैं। मन इंद्रियग्राह्य अर्थ और आत्मा इन दोनों के संयोग से चेष्टा (कार्य) करता है, साथही इंद्रियों के व्यापार एवं इंद्रियजन्य ज्ञान में मन प्रेरक होता है।

चरकाचार्य ने मन को **अतीन्द्रिय** माना है, और यही नैयायिक का भी मत है, क्यों कि मन को परमाणुस्वरुप मानने के कारण वह अतीन्द्रिय है।

इन्द्रियम् अतिक्रान्तम्।

अन्नभट्ट का मत

सुखादि उपलब्धि साधनम् इन्द्रियं मनः।

तत् च प्रतिआत्मनियत्वात् अनन्तं परमाणुरुपं नित्यं च॥

इंद्रिय स्थूल होते हैं और मन सूक्ष्मतर होने के कारण अतीन्द्रिय है। सभी इंद्रिय केवल अपना-अपना ही विषय ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। तथापि मन सभी विषयों का ग्रहण करता है, अतः अतीन्द्रिय।

शरीर के तीन आधारस्तंभ

सत्वम् - आत्मा - शरीरं च त्रयम् एतत् त्रिदण्डवत्।

लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ... च. सू. १/४६

मन, आत्मा तथा शरीर ये तीनों तिपाई के समान होते हैं। इन तीनों के संयोग से ही जीवात्मा की (लोक) स्थिति है। इसमे (लोक में) ही सभी प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् मन, आत्मा तथा शरीर ये जीवन के तीन आधारस्तंभ हैं।

सारांश

- **आयुर्वेद** = आयुष्य का वेद (आयु + वेद)।
- **आयु** = शरीर, इंद्रिय, सत्व, आत्मा का संयोग।
- **शरीर** = पांचभौतिक घटकों का समुदाय एवं समयोग तथा मुख्यतः चैतन्य का अधिष्ठान।

इस शरीर का अध्ययन करने के लिए ही शरीर क्रिया का ज्ञान आवश्यक है। शरीर क्रिया विज्ञान के प्रयोजन का विस्तृत विवेचन अगले प्रकरण में।

प्रकरण २

शारीर क्रिया विज्ञान - महत्व

Read

आयुर्वेद का अर्थ है - 'आयु' का वेद। आयु (आयुष्य) शरीर, इंद्रिय, सत्व, आत्मा इनके संयोग से निर्मित है। इसलिए आयुर्वेद समझने के लिए 'शरीर' का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

शरीर से संबंधित (विषयवस्तु) अर्थात **शारीर।**

शरीरस्य अधिकृत्य कृतं तत्रं शारीरम्।

शरीर से संबंधित सभी घटनाओं का, क्रिया व्यापारों का ज्ञान यही **शारीर क्रिया विज्ञान** है।

शरीर ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट करते हुए चरकाचार्य कहते है -

शरीर विचयः शरीर उपकारार्थम् इष्यते।

ज्ञात्वा हि शरीरतत्वं शरीर उपकार करेषु भावेषु ज्ञानम् उत्पद्यते।

तस्मात् शरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः॥ ... च. शा. ६/३

अर्थ

शरीर का विचय (अंग - प्रत्यंग तथा रस, रक्तादि का विभागशः ज्ञान), शरीर के उपकार (स्वास्थ्य, वृद्धी) के लिए अत्यंत उपयोगी है। शरीर तत्वों को ठीक से समझने से शरीर पर उपकार करने वाले भावों का ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः शरीर विचय नामक इस अध्याय की कुशल विद्वानों ने प्रशंसा की है।

शरीर ज्ञान का महत्त्व

शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक्।

आयुर्वेदं स कात्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ ... च.शा.६/१९

सर्व प्रकार से, संपूर्ण शरीर का ज्ञान जिस वैद्य को होता है, वही समस्त सृष्टी के लिये सुखदायी आयुर्वेद को पूर्णतः जान सकता है।

इस श्लोक में शरीर - विज्ञान - विशेषज्ञ चिकित्सक की प्रशंसा की है, जिसने अष्टांग आयुर्वेद का विधिवत् शास्त्राभ्यास एवं कर्माभ्यास किया है।

व्यावहारिक लाभ

शारीर क्रिया अर्थात शरीर घटकों की प्राकृत स्थिती का (Physiology), प्राकृत कार्यों का (Normal Functions) अध्ययन है। यदि प्राकृत का ही आकलन न हो, तो विकृती समझना भी असंभव है।

उदा. - प्राकृत नाड़ी गति (Pulse Rate) ७२/ मिनट यह ज्ञान नहीं होगा तो १००, ११० का अर्थ है कि नाड़ी गति बिगड़ी है, विकृत हुई है, यह नहीं समझेगा। यदि विकृती न समझे तो उपचार करना भी असंभव है।

पर्यायी नाम

आयुर्वेद के अनुसार दोष, धातु एवं मल ये शरीर के मूलभूत घटक होते हैं। अतः शारीर क्रिया में मुख्यतः दोष, धातु, मल के स्वरुप का और तत् संबंधित क्रिया व्यापारों का मुख्यतः अध्ययन किया जाता है। इसीलिए शारीर क्रिया विज्ञान को ही **दोष – धातु – मल – विज्ञान** यह संज्ञा भी दी जाती है।

दोष धातु मल के साम्य - वैषम्य का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की समग्र प्राकृत, विकृत स्थिती का ज्ञान होता है। संपूर्ण शरीर का प्रविभागशः ज्ञान अंग-प्रत्यगों का स्थूल, सूक्ष्म अवयवों के सहित ज्ञान तथा उस प्रत्येक की विभिन्न अवस्थानुसार विशेषता इनका सभी प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने का शास्त्रादेश है। अतः विस्तार से शरीर की उत्त्पत्ती, पोषण वृद्धि, बल, निद्रा, वय, प्रकृति के अनुसार संहनन प्रमाण, अग्नि आदि विशेष दृष्टी से साथ ही प्राण, अन्न, उदक आदि १३ स्त्रोतस, आमाशय आदि ७ आशय, हृदय, बस्ति, शिर प्रधान मर्म, फुफ्फुस, यकृत, प्लीहा, वृक्क, आंत्र आदि कोष्ठांग, इन्द्रिय, मन, आत्मा इन सब का सुस्पष्ट स्पष्टीकरण आवश्यक है। क्यों कि इन सब के समुदाय से ही पुरुष बना हुआ है। पादतल से मस्तक तक संपूर्ण शरीर का बाह्य-अभ्यंतर ज्ञान आवश्यक है। आचार्य चक्रपाणी के अनुसार, वातादि प्रकृती भेद से शरीर ज्ञान कराना यह एक ज्ञान का प्रकार है। साथही ह्रस्व - दीर्घ, कृश - स्थूल आदि प्रमाण, आकृती भेद से, अर्थात् विभिन्न दृष्टीकोण से शरीर का अध्ययन करना चाहिए। शरीर का ज्ञान **सर्वकाले – सर्व अवस्थासु** इस प्रकार करें। बाल - युवा - मध्य - प्रौढ, स्वप्न - जागृत, प्रसन्नता - चिंतामुक्त इसके अनुसार शरीर स्वरुप भिन्न होता है।

शरीर ज्ञान २ प्रकार से

शरीर रचना (Anatomy)	शारीर क्रिया (Physiology)

शारीर क्रिया में समाविष्ट **क्रिया** शब्द के विषय में विस्तार से अध्ययन करते है।

क्रिया पदस्य व्याख्या

क्रिया का अर्थ है - कार्य, चलन-वलन, हलचल, गतिविधि, घटनाएँ।

पर्याय

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था, स एव क्रिया, कर्म, यत्नः कार्यसमारम्भश्च ॥

... च. वि. ८/७७

अर्थ – कोई भी कार्य करने के लिए जो चेष्टा (व्यापार - Movement) होती है, उसी को 'प्रवृत्ति' कहते है। यही क्रिया, कर्म, यत्न (प्रयत्न) और कार्य समारम्भ है।

न्यायदर्शन - (वाणी, बुद्धी) शरीर द्वारा जिस कार्य का आरंभ होता है, उसे प्रवृत्ती कहते है।

दो प्रकार की प्रवृत्ती – पाप, पुण्य

व्याख्या

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितम् उच्यते ॥ **... च. सू. १/४९**

अर्थ – प्रयत्नादि चेष्टाओं को ही कर्म कहा जाता है।

प्रयत्न शद्ब से आत्मा की आदि प्रवृत्ती का ग्रहण होता है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःख प्रयत्न चेतना धृतिः।

बुद्धीः स्मृतिः अहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥ **... च. शा. १/७२**

यहाँ **आदि** शद्ब संस्कारादि जनित क्रियाओं का बोध कराता है। **चेष्टित** शद्ब उत्क्षेपणादि व्यापारों का संकेतक है।

चलनात्मकं कर्म यह भी कर्म की व्याख्या है।

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।

कर्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म न अन्यद् अपेक्षते ॥ **...च.सू. १/५२**

अर्थ – संयोग एवं विभाग का कर्म यही कारण है। यह कर्म द्रव्याश्रित होता है।

कर्तव्य की क्रिया को कर्म कहते है। पूर्वोक्त संयोग, विभाग के लिए, कर्म, अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता।

पांच प्रमुख चेष्टाएं

१) उत्क्षेपणम् २) अपक्षेपणम् ३) आकुञ्चनम्

४) प्रसारणम् ५) गमनम्

- **प्रयत्नः चेतना धातोः गुणाः ॥** **... इति सुश्रुत**
- **अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ॥** **... इति चरकः**

आत्म प्रयत्न के कारण हस्त आदि इंद्रियों में कर्म उत्पन्न होता है।

आत्मसंयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ **... कणाद ५/११**

आत्मप्रयत्न के कारण ही स्वयंचलित वायु बाकी अणुओं में गति उत्पन्न कर उनके संयोग-विभाग कराता है।

तेषा संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च ॥ ...च.शा.७/१७

शरीर की क्रियाओं में भौतिक और रासायनिक ऐसे सर्व प्रकारों का समावेश होता है।

प्रज्ञापूर्वक कार्य – स्वास्थ्यदायक, मोक्षप्रवर्तक

प्रज्ञापराध से कार्य – व्याधिउत्पादक

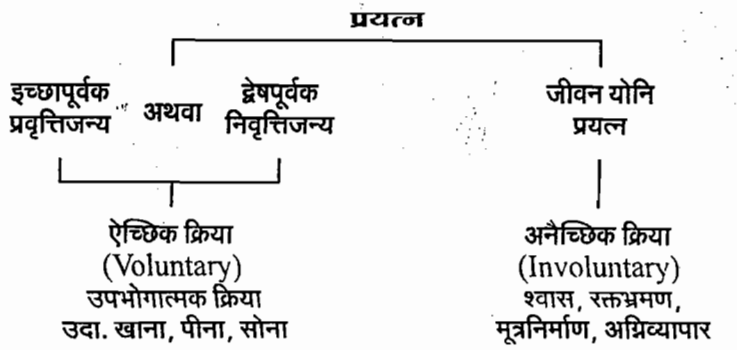

शरीर कार्य में मन के कार्य का भी समावेश होता है। दोष - धातु - मल ये द्रव्य उनके विशिष्ट गुणों के अनुसार विशिष्ट कार्य करते हैं। यही द्रव्य - गुण - कर्म सिद्धान्त है। सभी शारीरिक क्रियाएं एक-दूसरे को पूरक, प्रेरक, पोषक, साधक होने पर ही समयोगवाहित्व (Well Co-ordination) बना रहता है।

आयुर्वेद प्रयोजन के वर्णन में विशिष्ट कर्म का उल्लेख मिलता है।

धातुसाम्य क्रिया

धातु साम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्य अस्य प्रयोजनम्। **...च. सू. १/५३**

आयुर्वेद चिकित्सा में अंतर्भूत शोधन प्रक्रिया का उल्लेख भी **पंचकर्म** ऐसा ही है।

व्याधी की संप्राप्ती बताते हुए षट् - **क्रिया** - काल, उपचारार्थ चिकित्सा - **कर्म** ऐसे शद्ध प्रयोग किए जाते है। इस प्रकार विविध स्थानों में उल्लेखित **क्रिया, कर्म** इन शद्धों के अर्थ अब अधिक सुस्पष्ट हो सकते है।

शारीर क्रिया विषय की उपयोगिता आयुर्वेद की सभीं शाखाओं में है। आयुर्वेद की शाखाओं को **अष्टांग आयुर्वेद** कहते है।

अष्टांग आयुर्वेद

क्राय बाल ग्रह उर्ध्वांग शल्य दंष्ट्रा जरा वृषान्।

अष्टावङ्गानि तस्राहुश्चिकित्सा येषु संश्रिता ॥ **... वा. सू. १/५**

अष्टांग का सुश्रुतोक्त स्पष्टीकरण (सु.सू. १/७)

१) **कायचिकित्सा (Internal Medicine)**

कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधिनां ज्वर - रक्तपित्त- शोष - उन्माद - अपस्मार - कुष्ठ - मेह - अतिसारादीनाम् उपशमनार्थम् ॥

२) **बाल (Paediatrics) = कौमारभृत्यतंत्र**

कौमारभृत्यं नाम कुमारभरण धात्रीक्षीरदोष संशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधीनाम् उपशमनार्थम् ॥

३) ग्रह (Psychiatry, Infectious Diseases) = भूतविद्या

भूतविद्या नाम देव असुर गन्धर्व यक्ष रक्षः पितृपिशाच नाग ग्रहाद्य उपसृष्टचेतसां शान्तिकर्म बलि हरणादि ग्रहउपशमनार्थम् ।।

४) उर्ध्वांग (E. N. T. & Opthalmology) = शालक्यतंत्र

शालक्यं नाम उर्ध्वजत्रुगतानां श्रवण – नयन – वदन घ्राणादिसंश्रितानां व्याधीनाम् उपशमनार्थम् ।।

५) शल्य (Surgery)

तत्र शल्य नाम विविध तृण – काष्ठ – पाषाण – पांशु – लोह – लोष्ट– अस्थि – बाल – नख – पूयास्त्राव दुष्टव्रणान्तर्गर्भशल्य उद्धरणार्थ यन्त्र – शस्त्र – क्षार – अग्नि प्राणिधान – व्रणविनिश्चयार्थ च ।।

पांशु = धूल (Dust), लोष्ट = मिट्टी का गोला

६) दंष्ट्रा (Toxicology) = अगदतंत्र

अगदतंत्र नाम सर्प कीट लूता मूषकादि दष्टविष व्यञ्जनार्थं विविध विष संयोग उपशमनार्थ च ।।

७) जरा (Geriatrics) = रसायनतंत्र

रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनम् आयुः मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थ च ।

८) वृषान् (Aphrodisiacs) = वाजीकरण तंत्र

वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्प – दुष्ट – क्षीण – विशुष्क रेतसाम् आप्यायन प्रसाद उपचयजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च ।।

अष्टांग / आयुर्वेद का उद्देश

प्रयोजनं च अस्य स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम् ।

आतुरस्य विकारप्रशमनं च ।। ... च. सू. ३०/२६

- प्रथम उद्देश - प्रतिबंधात्मक - स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य बनाएं रखना
- द्वितीय उद्देश - उपचारात्मक - व्याधी ठीक करना

यदि निरोगी व्यक्ति का स्वास्थ्य बनाएं रखना होगा तो **स्वस्थ किसे कहा जाता है?** इसका ज्ञान आवश्यक है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनाः स्वस्थ इति अभिधीयते ।। ... सु. सू. १५/४१

जिस व्यक्ती के शरीर में दोष, अग्नि, धातु, मल इन सभी की साम्यावस्था है, आत्मा - इंद्रिय - मन इनमें प्रसन्नता है, उसे स्वस्थ कहा जा सकता है।

स्वस्थ कौन है यह सुनिश्चित करने के लिए, व्यावहारिक दृष्टी से उपयुक्त श्लोक काश्यप संहिता में वर्णित है।

अन्नाभिलाषो, भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च ।

सृष्टविण् मूत्र वातत्वं, शरीरस्य च लाघवम् ।।

सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च, सुख स्वप्न प्रबोधनम् ।

बल वर्णायुषां लाभः सौमनस्यं समाग्निता ।।

विद्यात् आरोग्यलिंगानि विपरीते विपर्ययम् । ... का.खिल. अ. ५

निरोगी रहने की युक्ती चरकाचार्य ने वर्णन की है।

नरो हित आहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेषु असक्तः दाता समः सत्यपरः क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवति अरोगः ।।

... च. शा. २/४६, अ. हृ. सू. ४/३६

स्वस्थ रहने के विषय में सविस्तर उपदेश 'स्वस्थवृत्त' विषय में किया है।

उपचारात्मक उद्देश

व्याधि

रोगस्तु दोषवैषम्यम् ।

चिकित्सा

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः ।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजांस्मृतम् ।। ...च.सू.१६/३४

चिकित्सा सूत्र

प्रशाम्यति औषधैः पूर्वो दैवव्युक्तिव्यपाश्रयैः ।

मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभिः ।। ... च. सु. १/५८

संक्षेपतः, आयुर्वेद में जीवन का सर्वांगीण अध्ययन किया जाता है. यह **आयुर्वेद शब्द की व्याख्या** से स्पष्ट होता है।

हिताहितं सुखं दुःखम् आयुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्तं आयुर्वेदः स उच्यते॥ ... च.सू. १ /४१

अर्थ – हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु तथा इस प्रकार के आयु के लिए हितकर = पथ्य (द्रव्य, गुण, कर्म) अथवा अहितकर = अपथ्य क्या है?

आयु का मान = प्रमाण - अवधि और उनके लक्षणों का वर्णन जिस शास्त्र में होता हैं, उसे आयुर्वेद कहा जाता है।

सत्व गुण प्रधान और दैवी संपदा युक्त मनुष्य की आयु 'हित आयु'(गीता - अध्याय १७) और इसके विपरीत 'अहित आयु' समझी जाती है। आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त के विधिवत् सेवन के फलस्वरुप प्राप्त सुखमय जीवन काल यही 'सुख आयु' है, इसके विपरीत 'दुःख आयु' है।

हितकर अहितकर आयु लक्षण

हितैषिणः, पुनःभूतानो, परस्वात् उपरतस्य, सत्यवादिनः, शमपरस्य, परीक्ष्यकारीणः, अप्रमत्तस्य, त्रिवर्गम् परस्परेण अनुपहतम् उपसेवमानस्य, पूजार्हसम्पूजकस्य, ज्ञान विज्ञान उपशमन-शीलस्य वृद्धोपसेविनः, सुनियत राग-रोष-ईर्ष्या-मद-मान वेगस्य, सततं विविधप्रदानपरस्य, तपोज्ञानप्रशम नित्यस्य अध्यात्मविदः, तत् परस्य, लोकम् इमं च अमुं च अवेक्षमाणस्य, स्मृतिमतिमतः, हितम् आयुः उच्यते, अहितम् अतः विपर्ययेण॥

... च. सू. ३०/२४

सुखकर - असुखकर आयु लक्षण

तत्र शारीरमानसाभ्यां रोगाभ्याम् अनभिद्रुतस्य विशेषेण यौवनवतः, समर्थानुगत बल वीर्य यशः पौरुष पराक्रमस्य, ज्ञान विज्ञान इंद्रिय इंद्रियार्थ बल समुदाये वर्तमानस्य परम रुचिर विविध उपभोगस्य, समृद्ध सर्वारम्भस्य, यथेष्टविचारिणः सुखम् आयुरुच्यते, असुखमतो विर्ययेण॥ ...च.सू.३०/२४

सुखकर आयु में मुख्यतः Materialistic View होता है, तथा हितकर आयु में Spiritual Development होती है। जीवन में हमेशा सुख के साथही, हितकर आचार संहिता का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। धूम्रपान क्षणिक सुखदायी है, किंतु हितकर नहीं। महाविद्यालयीन जीवन में सातत्यपूर्ण पढ़ाई, कष्ट क्वचित क्लेशदायी लग सकते हैं, परंतु अंतिमतः हितकारक ही होते हैं। हितकारक - अहितकारक, सुखकारक - दुःखकारक इन शब्दों से जीवन की Qualitative Study संपूर्ण होती है, तो मान शब्द से Quantitative Assessment भी होती है।

आयु के प्रमाण में निम्न संदर्भ महत्वपूर्ण हैं।

च. सू. ३०/२५	...	**आयु का प्रमाण**
च. वि. ३/२५, २६	...	**सत्य, त्रेता, द्वापार, कलि युग के अनुसार आयु प्रमाण**
च. वि. ३/३२ से ३४	...	**दैव, पुरुषाकार के अनुसार आयु प्रमाण**
च. वि. ८/११७	...	**अंगुली प्रमाण**
च. वि. ८/१२२	...	**बाल-मध्य-जीर्ण-वय परिचय/लक्षण**
च. शा. ७/१५	...	**रसादि का अंजली प्रमाण**
सु. सू. ३५/४ से ११	...	**अल्प मध्यम - दीर्घायुष्य के लक्षण**

मान = मीयते अनेन, इति मानम्॥

प्रकार

१) पौतवमान (Measures of Weight)

२) द्रुवयमान (Measures of Volume of Capacity)

३) पाथ्यमान (Measures of Length)

कोष्ठ के अनुसार औषध द्रव्यों का मान, संदर्भ - च.क. १२/८७-९७

सुश्रुतोक्त व्याख्या (आयुर्वेद)

आयुरस्मिन विद्यते, अनेन वा आयुर्विन्दन्ति इति आयुर्वेदः॥ ...सु.सू.१/१५

यह व्याख्या सभी प्रकार के वैद्यक शास्त्रों के विषय में सत्य है। किन्तु आयुर्वेद यह योगरूढ संज्ञा है और इससे केवल **विशिष्ट सिद्धांतों पर आधारित** प्राचीन भारतीय वैद्यक शास्त्र का बोध होता है। आयुर्वेद के इन मूलभूत सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन अगले प्रकरण में।

प्रकरण ३

आयुर्वेद का मूलाधार – मौलिक सिद्धांत

सिद्धांत

सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य,
हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः ॥ ... च. वि. ८/३७

अर्थ – परीक्षकों ने अनेक प्रकार से परीक्षण कर, हेतुओं के द्वारा, उन विषयों को सिद्ध कर, जिन निर्णयों की स्थापना की है, उन्हे सिद्धांत कहते है। क्वचित व्यवहार में बदलाव दिखाई दे सकता है, किन्तु आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांत त्रिकालाबाधित हैं, अतः आयुर्वेद **शाश्वत** है।

उदा. - वाग्भटाचार्य के अनुसार,

दर्शन स्पर्शन प्रश्नैः परीक्षेत् च रोगिणम्। ... अ.हृ.सू.१/२२

इसी प्रकार सद्यकाल में सभी Pathies के वैद्यकीय व्यावसायिक, रुग्ण परीक्षा करते हैं। प्राचीन काल में सिर्फ आँखों की सहायता से ही दर्शन परीक्षा की जाती थी। सद्य काल में इसके लिए Microscope, Scopies आदि का प्रयोग होता है। व्यवहार में बदलाव के बावजूद सिद्धांत वही हैं। शारीर क्रिया विषय में उपयुक्त कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का विवेचन इस प्रकरण में किया है।

सिद्धांत १ – मनुष्य निसर्ग की प्रतिकृती है।

मनुष्य और उसके आसपास का निसर्ग इनमें अत्यंत घनिष्ठ नाता है। मनुष्य और निसर्ग इन दोनों की **उत्पत्ती, संघटन, कार्यपद्धति** इनमें **साधर्म्य** (समानता) है। शास्त्रीय भाषा में यह साधर्म्य 'पुरुषस्य लोकतुल्यत्वम्।' इस सिद्धांत के द्वारा स्पष्ट किया है।

एवम् अयं लोकसम्मित पुरुषः।

यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषाः तावन्ताः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति। ...च.शा.४/१३

अर्थ – लोक तथा पुरुष समानता - इस प्रकार यह पुरुष लोक संमित (निसर्ग सदृश) है (सृष्टी में जितने मूर्तिमान (शरीरधारी) भावविशेष हैं, उतने ही भावविशेष पुरुष में होते हैं। उसी प्रकार जितने भावविशेष पुरुष में हैं, उतने ही निसर्ग में भी होते हैं। निसर्ग तथा पुरुष के भावविशेषों का विद्वान इसी प्रकार अवलोकन (अध्ययन) करते हैं।) (इन विषयों का अधिक विवेचन चरकाचार्य ने पुरुषविचय अध्याय में किया है। लोक तथा पुरुष इनकी समानता का ज्ञान मोक्षमार्ग प्राप्त करने में सहायभूत होता है। यहाँ 'समित' शद्ब का अर्थ है -'तुल्य' अथवा एक समान 'तुल्या सम्मितं तुल्याम्।' इसीको **पिण्डब्रह्माण्डन्याय** कहते है।)

पुरुष शद्ब का अर्थ भी 'पुरि (शरीर) शेते इति पुरुषः' ऐसा है। अर्थात्, जब चैतन्य शरीर में उपस्थित होता है, वही पुरुष। अतः चिकित्सा पुरुष कहा जाता है, चिकित्सा शरीर नहीं।

साधर्म्य (२ प्रकार)

- रचनात्मक
- क्रियात्मक

१) **रचनात्मक साधर्म्य / समानता**

सर्वम् इदम् पांचभौतिकम् अस्मिन् अर्थे।

आसपास की सृष्टी की उत्पत्ती जिस प्रकार पांच विशिष्ट घटकों से हुई है, उन्हीं घटकों से मनुष्य देह की रचना हुई है। ये पांच घटक सदा-सर्वदा सर्वव्यापत अस्तित्व में होने के कारण उन्हे महाभूत कहते हैं। सृष्टी में पर्वत, पत्थर, मिट्टी, लकडी आदि पार्थिव घटक होते हैं, इसी प्रकार शरीर में भी अस्थि, मांस आदि पार्थिव पदार्थ होते हैं। सृष्टी में वर्षा, नदी, नाले, सागर इन के द्वारा जलीय घटक उपस्थित हैं, उसी प्रकार शरीर में भी मल, मूत्र, रस आदि जलीय भावपदार्थ होते हैं। इन पांचभौतिक घटकों के साम्य - वैषम्य पर ही निसर्ग और मनुष्य का संतुलन निर्भर है।

२) **क्रियात्मक समानता**

विसर्ग आदान विक्षेपैः सोम सूर्य अनिल यथा।
धारयन्ति जगत् देहं कफपित्तअनिल स्तथा॥ ... सु. सू. २१/८

विसर्ग, आदान, विक्षेप इन क्रियाओं से जिस प्रकार चंद्र, सूर्य, वायु सृष्टी का धारण करते हैं, उसी प्रकार क्रिया कर कफ, पित्त, वात शरीर का धारण करते हैं।

सृष्टी के घटक	मनुष्य देह के घटक	क्रिया साधर्म्य
चंद्र	कफ	बल देना, स्थैर्य
सूर्य	पित्त	बल कम करना, परिणमन
हवा	वात	प्रेरणा देना

इस सिद्धांत में अंतर्भूत 'लोक(निसर्ग)' इस प्रकार के विषय में सुश्रुत कहते हैं-

- **लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः स्थावरो जङ्गमश्च, द्विविधात्मक एव अग्नेयः सौम्यश्च ।।** ... सु. सू. १/२२
- **तासां स्थावराश्चतुर्विधाः वनस्पतया, वृक्षा, वीरुध, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा औषधय इति ।...सु.सू.१/२९**
- **जङ्गमाः खलु अपि चतुर्विधाः-जरायुज अण्डज स्वेदज उद्भिज्जाः।**
  तत्र पशुमनुष्य व्यालादयो जरायुजाः ।
  खग-सर्प-सरीसृर्प प्रभृतयो अण्डजाः, कृमि-कीटक-पिपीलिका प्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोप - मण्डूक - प्रभृतय उद्भिजाः ।। ... सु. सू. १ /३०

'लोकसम्मित पुरुष' सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन चरकाचार्य ने शारीर स्थान में 'पुरुष विचय शारीर' नामक पांचवे अध्याय में निम्न श्लोकों के द्वारा किया है।

च.शा. ५/३ ..... अग्निवेश का प्रश्न

च.शा. ५/४ ..... भगवान आत्रेय का उत्तर

च.शा. ५/५ ..... लोकपुरुष साम्य विवेचन

चरकोक्त तालिका

क्र.	लोकगत भाव	पुरुषगत भाव
१	पृथ्वी	मूर्ति (शरीर)
२	आप (जल)	क्लेद (~~आर्द्रता~~)
३	तेजस (अग्नि)	अभिसन्ताप
४	वायु	प्राणवायु
५	वियत (आकाश)	सुषिर (रोमकूप आदि)
६	ब्रह्मा (अव्यक्त)	अन्तरात्मा
७	ब्राह्मी विभूति	अन्तरात्मा विभूति
८	ब्राह्मी की विभूति (प्रजापती)	सत्व - मन
९	इन्द्र	अहंकार
१०	आदित्य	आदान
११	आदित्य	क्षेप (क्रोध)
१२	सोम (चन्द्रमा)	प्रसाद
१३	अश्वयुग	सुख
१४	अश्विनीकुमार	कान्ति (शोभा)
१५	मरुद्गण	उत्साह
१६	विश्वेदेव	इन्द्रिय, उनके विषय
१७	तमस्	मोह
१८	ज्योति	ज्ञान
१९	सर्गादि	गर्भाधान
२०	कृत (सत्य) युग	बाल्यावस्था
२१	त्रेतायुग	युवावस्था
२२	द्वापार युग	स्थविरता (वृद्धावस्था)
२३	कलियुग	आतुर अवस्था
२४	युगान्त काल	मरण (मृत्यु)

पुरुष लोक सम्मित सिद्धान्त का प्रयोजन

आत्रेय अग्निवेश से कहते है -

हे अग्निवेश, संपूर्ण जगत् को (समाज को) स्वयं में तथा आसपास की सृष्टी में, समानरूपता दिखाई देने के कारण पुरुष की **सत्याबुद्धी** उत्पन्न होती है। संपूर्ण सृष्टी को स्वयं में अनुभूत करने वाला पुरुष जानता है कि सुख तथा दुःख का कर्ता आत्मा ही होता

है। अर्थात्, स्वयं के आत्मा के सिवाएं अन्य कुछ भी सुख-दुःख की उत्पत्ती अथवा प्राप्ती को कारण नहीं होता, क्यों कि समस्त जगत् कर्मात्मक ही होता है। संपूर्ण जगत् रुप 'मैं ही हूँ' इस अनुभूती से मोक्ष प्राप्ती के लिए ज्ञान उत्पन्न होता है। वहाँ लोक शद्ब संयोग की अपेक्षा करता है। षड्धातुसमूह (पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा) यही सामान्यतः 'संपूर्ण लोक' है। ... च.शा. ५/७

चरकाचार्य का यही विचार, यौगिक प्रक्रिया का प्रारंभ है। वह निम्न प्रकार से -

- **सर्वभूतस्थम् आत्मानं सर्वभूतानि च आत्मनि।**

  ईक्षते योग युक्त आत्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ... गीता ६/२९
- **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो अर्जुन।**

  सुखं वायदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ... गीता ६/३२
- आत्मवत् सर्वभूतेषु। ... चाणक्यनीति

इस ज्ञान का उपयोग

च.शा. ५/२०

समस्त संसार (विश्व) अपना विस्तार है ऐसी मान्यता तथा स्वयं मे ही समस्त सृष्टी का अनुभव करना इससे तत्वज्ञानी (परावरदृक्) व्यक्तिओं की ज्ञानजनित शांती नष्ट नहीं होती।

च.शा. ५/२१

सदैव सर्व अवस्थाओं में (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ती) सर्व शरीर में भावों को समानुपात देखने से ब्रह्मभूत (जीवनमुक्त) तथा शुद्ध (सत्व) पुरुष का शरीर, इंद्रिय आदि के साथ संयोग (पुनर्जन्म) नहीं होता।

मनुष्य सृष्टी का ही एक घटक है। आसपास की सृष्टी में होने वाले स्वाभाविक बदलावों का (ऋतुचर्या आदि) हितकर-अहितकर परिणाम उस पर होता रहता है। अतः निसर्ग के अनुकूल व्यवहार करना फलदायी है।

सिद्धांत २ - पांचभौतिक सिद्धांत

सृष्टी तथा मुनष्यदेह का प्रत्येक घटक पाँच मूलभूत घटकों से उत्पन्न हुआ है। ये घटक सदासर्वदा एवं सर्वव्याप्त स्वरुप में (महा) अस्तित्व में होने के कारण (भू-भवति-अस्तित्व में होना) उन्हे महाभूत कहते है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश ये महाभूत **इंद्रियगम्य** (इंद्रियों के द्वारा ज्ञात होने जैसे) नहीं होते। हम जो देखते है वह महाभूतों से निर्माण हुए **कार्यद्रव्य** होते हैं।

(महाभूत विकार - जैसे पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीस, आकाशीय)

सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम् अस्मिन अर्थे। तत् अचेतनावत् चेतनं च।

तस्य गुणाः शद्बादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः कर्म पञ्चविधम् उक्तं वमनादि॥

... च.सू. २६/१०

आयुर्वेदशास्त्र में द्रव्य को पञ्चमहाभूतात्मक माना है।

इह हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्।

तस्य अधिष्ठानम् पृथिवी, योनिः उदकः ख अनिल अनल समवायानि निवृत्ति विशेषौ॥ ... अ. सं. सू. १७

हर एक द्रव्य में पाँचो महाभूत अल्प-अधिक मात्रा में होते हैं। परंतु 'व्यपदेशस्तु भूयसा' (उत्कर्षेण तु व्यपदेशः) इस न्याय के अनुसार जिस महाभूत का अधिक्य होता है, उसके अनुसार नामोल्लेख किया जाता है।

उदा. अस्थि में पार्थिवता अधिक अतः पार्थिव आदि।

व्यपदेशस्तु भूयसा

व्यपदेशः - इदं पार्थिवं इदं आप्यम् इत्यादि भेदेन व्यवहारः।

स भूयसा अधिकेन भूतेन, यत्र यस्याधिक्यं तस्य तेन व्यपदेशः॥

... अ. ह. सू. ९/२ (हेमाद्री कृत आयुर्वेद रसायन टीका)

पांचभौतिक द्रव्यों के गुण तथा कार्य संदर्भ (अ. ह. सू. ९/५ - ९)

१) **तत्र द्रव्यं गुरु स्थूल स्थिर गन्धगुणोल्बणम्।**

पार्थिव गौरव स्थैर्य संङ्घातोपचयावहम्॥

२) द्रव शीत गुरु स्निग्ध मन्द सान्द्र रसोल्बणम् ।
आप्यं स्नेहन विष्यन्द क्लेद प्रल्हाद बंधकृत् ।।

३) रुक्ष तीक्ष्ण उष्ण विशद सूक्ष्म रुप गुणोल्बणम् ।
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम् ।।

४) वायव्यं रुक्ष विशद लघु स्पर्श गुणोल्बणम् ।
रौक्ष्य लाघव वैशद्य विचार ग्लानि कारकम् ।।

५) नाभसं सूक्ष्म विशद लघु शद्ब गुणोल्बणम् । सौषिर्यलाघवकरम् ।

सभी द्रव्य पांचभौतिक होते है, अतः सृष्टी में ऐसा कोई द्रव्य नहीं जो औषधी स्वरुप नहीं ।

न अनौषधी भूतं जगति किञ्चिद् द्रव्यम् उपलभ्यते । ... च. सू.२६ /१२

इसी अर्थ के श्लोक – सु. सू. ४१/५, अ. हृ. सू. ९ /१०

पंचमहाभूतों का समावेश कारण द्रव्य में किया जा सकता है ।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः ।

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रियम् अचेतनम् । ... च. सू. १/४८

मनुष्य देह पंचमहाभूतों से बना हुआ है ।

ख.न्यश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः । ... च. शा. १/१६

पञ्चभूत – शरीरिसमवायः पुरुष इति उच्यते, तस्मिन् क्रिया सो अधिष्ठानम् ।

... सु. सू. १/२२

मानवी शरीर

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पंचमहाभूतविकार समुदायात्मकं, समयोगवाही ।।

पंचमहाभूत यह पदार्थों का केवल समुदाय नहीं, बल्कि उनमें समयोगवाहित्व भी महत्वपूर्ण है ।

शरीर में उपस्थित पांचभौतिक घटक

चरक के अनुसार ... च. सू. ७/१६

१) तत्र यत् विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमंत् गुरु खर कठिनम् अङ्गं, नख – अस्थि दन्त मांस चर्म वर्चः केश श्मश्रु लोम कण्डरादि तत् पार्थिवं गन्धो घ्राणं च ।।

२) यत् द्रव सर मंद स्निग्ध मृदु पिच्छिलं रस रुधिर वसा कफ पित्त मूत्र स्वेदादि तत् आप्यं रसो रसनं च ।।

३) यत् पित्तम् उष्मा च यो या च भाः शरीरे यत् सर्वम् आग्नेयं रुपं दर्शनं च ।

४) यत् उच्छ्वास प्रश्वास उन्मेष निमेष आकुंचन प्रसारण गमन प्रेरणधारणादि, तद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च ।।

५) यद् विविक्तम् उच्यते महान्ति च अणूनि स्त्रोतांसि तत् अन्तरीक्षं शद्बः श्रोत्रं च ।।

पांचभौतिक शरीर के लिए पांचभौतिक आहार की उपयोगिता

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः ।

विपक्वः पञ्चधा सम्यक् गुणान् स्वानभिवर्धयेत ।। ... सु. सू. ४६/५२६

पंचमहाभूतों की उत्पत्ती किस प्रकार हुई है ?

पदार्थ विज्ञान विषय में, सृष्टी उत्पत्ती का अध्ययन करने पर, सांख्य दर्शन के आधार पर इस विषय में सविस्तर स्पष्टीकरण हो सकता है ।

सु. शा. १/३-६ इसका भी अध्ययन इस विषय में आवश्यक है ।

पंचमहाभूत विषयक संक्षिप्त विवेचन

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु ।। ... सु. शा. १/२२

अष्टौ प्रकृतयः – अव्यक्त, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्रा

षोडशविकार – पाँच ज्ञानेंद्रिय + पाँच कर्मेन्द्रिय + एक उभयेन्द्रिय (मन) + पाँच महाभूत

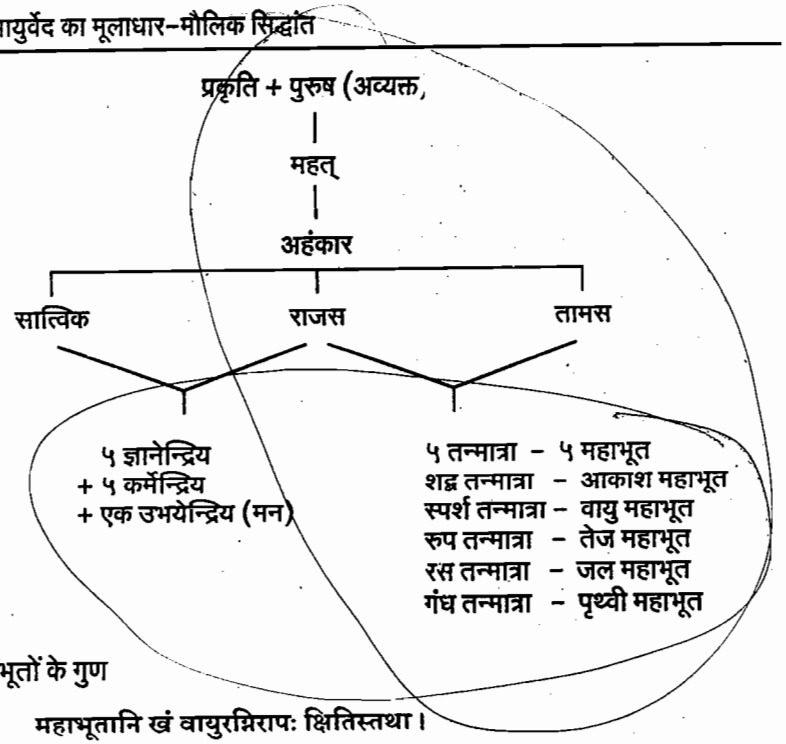

महाभूतों के गुण

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।

शब्द – स्पर्शश्च रुपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥ ... च. शा. १/२७

गुणान्तर प्रवेश क्रम

तेषमेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।

पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥ ... च. शा. १/२८

महाभूत	गुण
आकाश	शब्द
वायु	शब्द + स्पर्श
तेज	शब्द + स्पर्श + रुप
जल	शब्द + स्पर्श + रुप + रस
पृथ्वी	शब्द + स्पर्श + रुप + रस + गंध

गौरव – लाघव क्रम

आयुर्वेदीय क्रम के अनुसार आकाश से पृथ्वी तक, उत्तरोत्तर तत्व गुरुतर हैं।

पंचमहाभूत के लक्षण

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।

आकाशस्य ऽ प्रतिघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्।

लक्षणं सर्वम् एतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।

स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः। स्पर्शो हि सविपर्ययः॥ ... च.शा. १/२९, ३०

अर्थ – पृथ्वी, जल, वायु एवं तेज इन चार महाभूतों के क्रमशः **खरत्व, द्रवत्व, चलत्व** तथा **उष्णत्व** ये लिंग (लक्षण) हैं। आकाश का लक्षण **अप्रतिघात** है। उपर्युक्त पंचमहाभूतों में से प्रथम चारों के लक्षणों का (खरत्व आदि) ज्ञान स्पर्शनेन्द्रियों के द्वारा होता है। आकाशतत्व का लक्षण 'अप्रतिघात' का ज्ञान स्पर्श के विपरीत होकर भी स्पर्शनेन्द्रिय का ही विषय (स्पर्श-अभाव स्वरुप में) माना जाता है, अन्य किसी का नहीं।

त्रिगुण – पंचमहाभूत संबंध

तत्र सत्वबहुलम् आकाशं रजोबहुलो वायुः सत्व रजो बहुलो अग्निः,
सत्वतमोआपः, तमोबहुला पृथिवी इति॥ ... सु. शा. १/२०

अन्योन्याजुप्रविष्ट

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाणि एतानि निर्दिशेत्॥

स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणं ईष्यते। ... सु. शा. १/२१

अर्थ – ये सभी पंचमहाभूत एकदूसरे में प्रविष्ट होकर द्रव्य में स्थित होते हैं और जिस द्रव्य में जिस महाभूत का प्राधान्य होता है, उस द्रव्य में उस तत्व का लक्षण व्यक्त होता है।

पांचभौतिक परीक्षण – व्यवहारतः

	महाभूत	परीक्षण पद्धति
१	पृथ्वी	१) मल, मूत्र, स्वेद, कफ, पित्त - विशिष्ट गंध के द्वारा पार्थिव घटकों की प्राकृतता के विषय में अनुमान - डायबेटिक कोमा (किटोॲसीडोसीस) में मूत्र को विशिष्ट गंध (Fruity odour). २) स्थिरता, स्थैर्य की दृष्टी से उँचाई, वजन प्रमाण (आकृती) ३) अस्थिप्रधान घटक परीक्षा - अस्थि, संधी, नख, केश. ४) पार्थिव घटकों के विषय में मूर्ती परीक्षा - गुल्म, अर्बुद.
२	जल	१) रस परीक्षण - मधुमेह - मूत्र, पित्तज छर्दी में उत्पन्न अम्लत्व. २) रस, रक्त, मूत्र इनका - प्राकृत प्रवाहित्व, उनकी प्राकृत आप्यता का सूचक. ३) क्षय में - अबधातुक्षय लक्षण. ४) रस सारता का परीक्षण.
३	तेज	१) वर्ण परीक्षा - नेत्र एवं उपकरणों की सहायता से (स्कोपी). २) विविध पचन व्यापार. ३) शरीर तापमान.
४	वायु	१) हलचल - श्वसन वेग, नाडी वेग, E.C.G. परीक्षण, आंत्र की गतिविधियाँ
५	आकाश	१) फुप्फुस, हृदय, उदर इन स्थानों के अवकाश के परीक्षणार्थ स्पर्शन परीक्षा (Palpation, Percussion) २) क्ष किरण परीक्षा ३) सी.टी. स्कॅन (Computerised Tomography)

दोष धातु मलांना पंचमहाभूतात्मक उत्पत्ति

१) दोषधातुमलाः पंचमहाभूंत विकारत्वेन पांचभौतिकाः ॥

२) पंचभूतात्मके देहे हि आहारः पांचभौतिकः ।
विपक्वः पंचधासम्यगुणान्स्वान अभिवर्धयेत् ॥ ... सु. सू. ४६/५२४

३) वायु आकाश धातुभ्यां वायुः । आग्नेयं पित्तम् ।
अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा ॥ ... अ. सं. सू. २०/१

४) तत्र वायोः वायुरेव योनिः, पित्तस्य अग्निः, कफस्य आपः ।
एवं धातु मल क्षये अपिस्वयोनिवर्धतं व्याख्येयम् ।
तत्र पंचभूतात्मकत्वेन, रसः आप्यः, रक्तं तेजोजलात्मकं,
मांसं पार्थिवं, मेदोजलपृथिव्यात्मकार, अस्थि पृथिवी अनिलात्मकम्, मज्जा शुक्रं च आप्यं, मूत्रं जल अनलात्मकमं, पुरीषं पार्थिवम् आर्तवं आग्नेयं, स्वेदः स्तन्यं च आप्यम् ॥ ... सुश्रुत भानुमती टीका

पांचभौतिक चिकित्सा

शरीर के पांचभौतिक घटकों की साम्यवैषम्यावस्था समझकर और आहार, वनस्पतियों का पांचभौतिकत्व समझकर, चिकित्सा करने की यशस्वी, उज्ज्वल परंपरा का श्रेय महाराष्ट्र में सांगली के सुप्रसिद्ध वैद्य दातार शास्त्री इन्हे है ।

पांचभौतिक चिकित्सा – व्यवहारतः

	महाभूत	व्याधी	चिकित्सा
१	पृथ्वी	भारक्षय (कृशता)	गेहूँ की खीर, गोंद के लड्डू, खजूर
२	आप	अवधातुक्षय	जलसंजीवनी, लाजाजल, मनुक्का जल, सिद्धजल आदि
३	तेज	अग्निमांद्य	पिप्पली, आर्द्रक, लहसुन
४	वायु	कुंठित गति - आध्मान, अवरोध	स्नेहन, स्वेदन (गति अनुलोमनार्थ)

५ आकाश	आकाश कम कर फुफ्फुस आदि स्थानों में पूय - जल संचिती आदि	संचित द्रव्यों का निर्हरण.

सिद्धांत ३ – दोषधातुमलमूलत्वम्

सुश्रुताचार्य ने यह सिद्धान्त सूत्रस्थान के अध्याय १५ में (दोषधातुमलक्षय-वृद्धिविज्ञानीयम् अध्याय) श्लोक ३-१२ में सविस्तर स्पष्ट किया है।

हमने पहले ही पढ़ा है कि शारीर क्रिया विज्ञान को ही **दोष–धातु–मल विज्ञान** यह भी संज्ञा दी जाती है। पंचमहाभूतों से उत्पन्न दोष, धातु, मल ये शरीर के मूलभूत घटक हैं। इन घटकों का विस्तृत विवेचन उनसे संबंधित प्रकरणों में किया जाएगा। उनका अल्प परिचय निम्न प्रकार से दिया जा सकता है।

१) **दोष–** तीन होते हैं, जैसे - वात, पित्त, कफ। शरीर की सर्व शरीर रचना एवं शारीर क्रिया व्यापारों को जिम्मेदार तीन मूलभूत घटक।

२) **धातु–** धारणात् धातवः। शरीर स्थिती बनाएं रखने वाले, शरीर का धारण करने वाले घटक।

दोषों के कार्य का माध्यम होने वाले सात घटक - सप्तधातु।

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र।

३) **मल –** शारीरिक क्रिया व्यापारों द्वारा निर्मित त्याज्य, अग्राह्य (अहितकर) पदार्थ त्रिमल, मूत्र, पुरीष, स्वेद।

ग्रंथोक्त संदर्भ

१) **वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषः समासतः।** ... अ. हृ. सू. १/६

२) **रस असृक् मांस मेदोस्थि मज्ज शुक्राणि धातवः।**
सप्त दूष्याः। मलमूत्र शकृत् स्वेदादयोऽपि च॥ ... अ. हृ. सू. १/१३

दोष – धातु – मल = शरीररुप वृक्ष के मूल

- **दोष धातुमल मूलं हि शरीरं तस्मात् एतेषां लक्षणम् उच्यमानम् उपधारय॥**
  ... सु. सू १५/३
- **यस्मात् शरीरं दोषादि मूलं, यथावृक्षादीनां संभव – स्थित – प्रलयेषु मूलं प्रधानं, तथा शरीरस्य वातादय इत्यर्थः॥** **... डल्हण(निबंधसंग्रह टीका)**

अर्थ – वातादि दोष, रसादि धातु एवं मूत्रादि मल ये पदार्थ शरीर धारणा के मूलाधार होते हैं। अतः उनके लक्षणों का वर्णन यहाँ किया गया है।

डल्हण

जिस प्रकार किसी पेड की उत्पत्ती, स्थिति, विनाश उसके जडों पर निर्भर होता है, उसी प्रकार धातु, दोष तथा मल इन पर शरीर की उत्पत्ती, स्थिति एवं विनाश निर्भर होता है।

यही सिद्धांत वाग्भट ने भी स्पष्ट किया है।

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य। **... अ. हृ. सू. ११/१-४**

१) **दोषधातुमल यही 'उत्पत्ती' के कारण**

दोषों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी है।

प्रकृत्यारंभकत्वे अपि दुष्टिकर्तृत्वम् दोषत्वम्।

अर्थात्, शरीर की (प्रकृती की) निर्मिती में कारणस्वरुप, परंतु विकृत अवस्था में शरीर के अन्य घटकों को बिगाडने में समर्थ, वे दोष होते हैं। मनुष्य देह जन्मतः ही सप्तधात्वात्मक होता है।

२) **दोष – धातु - मल यही 'स्थिती' के कारण**

स्वस्थ की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ...।

'विसर्ग आदान विक्षेपैः ...।' इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि निसर्ग में उपस्थित चंद्र, सूर्य, वायु के समान ही त्रिदोष शरीर का धारण करते हैं। धातुओं की निरुक्ति ही 'धारणात धातवः' इस प्रकार वर्णित है।

३) दोष धातु मल यही 'प्रलय' (विनाश) के कारण

विकृता अविकृता देह घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च।

दोष धातु मल ये घटक अविकृत होने पर शरीर का धारण करते हैं (वर्तयन्ति) और विकृत होने पर (बिगड़ने पर) शरीर का विनाश करते हैं (बीमारी अथवा मृत्यू - घ्नन्ति)।

दोष-धातु-मल का इस सिद्धान्त में वर्णित महत्त्व, उनके कार्यों का अध्ययन करने पर, तत्काल समझ में आता है। तथापि इस प्रत्येक के, विशेषतः दोषों के, कार्य विस्तारपूर्वक अगले कुछ प्रकरणों मे दिए हैं, अतः यहाँ द्विरुक्ती टाली गई है।

१) सभी प्रकार की गतिविधियाँ

२) विविध प्रकार के पचन व्यापार

३) संयोग - पोषण - वृद्धी

ये तीन कार्य क्रमशः वात, पित्त एवं कफ के हैं। धातु-मल का विस्तार से विचार 'शारीर क्रिया विज्ञान - भाग २' में किया गया है। यहाँ केवल धातुओं के श्रेष्ठ कर्म संक्षेपतः विषद किए हैं।

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे।

गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम्॥ ... अ.हृ.सू. ११/४

अरुणदत्त की सर्वांगसुंदर टीका

१) **प्रीणनं** – आप्यायनम्। रसो हि सम्यक् अभ्यवहरतः स्त्रोतांसि प्रविश्य इन्द्रिय प्रसादम् अभिनिर्वर्तनम् मनसः प्रीतिम् आदधाति।

२) **र्ज.ग्नं** – ओजोवृद्धिकरम्, रक्तकर्म

३) **लेपः** – मांसस्य कर्म, तत् उपालिप्तानि अस्थीनि चेष्टां क्षमनो।

४) **स्नेहो** – नेत्रादिषु स्निग्धता, मेदसः कर्म।

५) **धारणं** – उर्ध्वधारणम्। अस्थि कर्म।

६) **पूरणे** – स्नेहेनअस्नाम्, मज्ज: कर्म।

७) **शुक्रस्य गर्भोत्पत्तिः** – श्रेष्ठं कर्मेति योज्यम्।

मल के प्रमुख कार्य

अवष्टंम्भः पुरीषस्य, मूत्रस्य क्लेदवाहनम्, स्वेदस्य क्लेदविधृतिः।

अरुणदत्त

अवष्टम्भो – देहधारणशक्तिः श्रेष्ठं कर्म पुरीषस्य स्मृतम्। मूत्रस्य क्लेदवाहनं श्रेष्ठ कर्म, मूत्रं क्लेदं निर्वाहयति। स्वेदस्य क्लेदविधारणं श्रेष्ठं कर्म, क्लेदाभावो हि शोषः स्यात्, मध्यम त्वकस्नेहक च रोमधारणम् अपि।

हेमाद्रि

क्लेदवाहनम् – क्लेदस्यबहिर्निगमनम्।

स्वेदस्य – केशविधृतिः रोम्णांम् अवलम्बनम्॥

सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व

आयुर्वेद में व्याधी कि अपेक्षा रुग्ण को अधिक महत्त्व दिया गया है। (Ayurveda Treats the Patient and not the Disease)। किसी व्यक्ति की व्याधिप्रतिकारक्षमता अच्छी होगी तो वह व्याधी पीडित होगा ही नहीं। अतः दोष, धातु, मल इन मूलभूत घटकों का ठीक से ध्यान रखकर उनकी साम्यावस्था बनाएं रखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

- **विकारो धातु वैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।** ... चरक
- **रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यम् अरोगता।** ... वाग्भट

शरीर अनगिनत सूक्ष्म घटकों से (Cells) बनता है, ऐसा चरकाचार्य ने स्पष्ट किया है।

शरीर अवयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्, अतिसौक्ष्म्यात्, अतीन्द्रियत्वाच्च।

इस प्रत्येक सूक्ष्म घटक के स्तर पर उत्पत्ति - स्थिति - लय ये घटनाएँ होती रहती हैं। इसीलिए दोष-धातु-मल का अस्तित्व इस प्रत्येक सूक्ष्म घटक स्तर पर मानना जरुरी है।

प्रत्येक व्यक्ति का शरीर एवं मन इस संयुक्त स्वरुप में ही विचार करना उचित है, ऐसी आयुर्वेद की धारणा है। शारीर-मानस दृष्टीकोण (Psycho-Somatic Approach, Holistic Thinking) आयुर्वेद का वैशिष्ट्य है। किन्तु व्यवहार में मानसिक स्तर के घटकों की परीक्षा तुलनात्मक दृष्टी से कठिन है। साथही सूक्ष्म भावों के कार्य की अभिव्यक्ती स्थूलभावों के माध्यम के द्वारा ही होती है। अतः स्थूलभावों का व्यावहारिक महत्त्व स्पष्ट करने के लिए सुश्रुताचार्य ने कहा है -

दोषधातु मल मूलं हि शरीरम्।

दोष-धातु-मल की परस्पर भिन्नता

१) धातु

शरीर में कुछ घटक ऐसे हैं कि जो व्याधी न होने पर क्रमशः सीमित काल तक बढ़ते ही जाते हैं और बाद में टिकाऊ स्वरुप में स्थिर रहते हैं। इनमें से कोई भी घटक, खुद से संबंधित अंतःस्त्वचा और बाह्य आवरण छोड़कर बाहर नहीं निकलता।

ये घटक शरीर छोड़कर बाहर नहीं निकलते।

(अपवाद - गर्भोत्पादन कार्य के लिए प्रासंगिक शुक्रच्युती)

इस प्रकार के घटकों को रसादि सप्तधातु कहते है।

२) मल

उपरोक्त समूह से अलग, कुछ घटक तो ऐसे हैं कि जो शरीर से दूर गए, उत्सर्जित किए गए तो ही आरोग्य उत्तम रहता है। इस समूह में मूत्रादि त्रिमल का समावेश होता है।

३) दोष

तीसरे समूह में समाविष्ट घटक - मल के समान त्याज्य स्वरुप में शरीर से बाहर भी नहीं निकलते और धातुघटकों के समान बढ़ते हुए भी नहीं दिखते। ये घटक अपने मूल स्थान से (शाखा भाग से) विविध अंतरालों में (कोष्ठ में) स्वकार्य के लिए किंचित कालावधि के लिए स्त्रवित होते हैं (उदीरित होते हैं)। लेकिन कार्य समाप्ती के बाद पुनः स्त्रवण कम कर/बंद कर शरीर में ही स्थित रहते हैं।

संक्षिप्त

दोष धातु उपधातु मलानां व्युत्पत्ति, संख्याजन्य सामान्य परिचयः

१) व्युत्पत्ती

दोष = दूषयन्ति इति दोषः,

धातु = धारणात् धातवः, मल = मलीनिकरणात् मलः॥

२) संख्या (अ. ह. सू. १/६)

- दोष = त्रिदोष (वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषः समासतः॥)
- धातु = सप्त धातु (रस असृक् मांस मेदो अस्थि मज्जा शुक्राणि धातवः।)
- मल = त्रिमल (मल मूत्र शकृत् स्वेददादयो ऽ पिच।)

उपधातु

सिरा स्नायु रजः स्तन्यत्वचोगति विवार्जिताः।
धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात् ते उपधातवः॥

...च.चि.१५/१५ चक्रपाणि टीका

उपधातु कौनसे हैं ?

रसात् स्तन्यं, ततो रक्तं, असृजः कण्डरा सिराः।
मांसाद् वसा, त्वचा षटश्च मेदसः स्नायुसंभवाः॥ ...च.चि.१५/१७

धातु – उपधातु – मल निदर्शक तालिका

क्र.	धातु	उपधातु	मल
१	रस	स्तन्य, रज	कफ
२	रक्त	सिरा, कंडरा	पित्त
३	मांस	वसा, त्वचा	ख मल
४	मेद	संधी, स्नायु	स्वेद
५	अस्थि	दंत	नख, केश, लोम
६	मज्जा	---	(त्वचा - अक्षि - पुरीष) स्नेह
७	शुक्र	---	ओज

दोष धातु मल तुलना निदर्शक तालिका

क्र.	तुलना	दोष	धातु	मल
१	परिभाषा	दूषणात् दोषः	धारणात् धातवः	मलिनीकरणात् मलः
२	संख्या	३	७	मुख्य ३
३	व्याधिकर्तृत्व	दोष	दूष्य	दूष्य
४	प्रकार	शारीर, मानस	धातु एवं उपधातु	आहारमल एवं धातुमल
५	स्व अग्नि	नहीं	हाँ	नहीं
७	अन्योन्तारण	नहीं	हाँ	नहीं

संक्षेपतः, दोष, धातु, मल ये शरीर के आधारस्तंभ हैं। शरीर की प्राकृत-विकृत स्थिति का ज्ञान दोषादिकों के प्राकृत तथा विकृत लक्षणों द्वारा होता है। अतः 'दोष धातु मला मूलं हि शरीरम्' यह महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

सिद्धांत ४ – सामान्य विशेष सिद्धान्त ।

प्रतिबंधात्मक तथा उपचारात्मक, आयुर्वेद के इन दोनों उद्दिष्टों की पूर्ती के लिए इस सिद्धान्त का उपयोग होता है।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ऱ्हासहेतुविशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥ **... च. सू. १/४४**

सामान्य का अर्थ है - समानता और विशेष का अर्थ है - विरोधी।

सामान्य यानि समान गुणधर्म के पदार्थ।

उदा. शक्कर अर्थात गुड दोनों भी मधुरता बढ़ाते हैं।

विशेष पदार्थ अर्थात विरुद्ध गुणधर्म के पदार्थ।

उदा. शक्कर और हरी मिर्च यह विशेष का उदाहरण है।

सामान्य विशेष सिद्धान्त का वैद्यकीय व्यवसाय में लाभ

१) **प्रतिबंधात्मक सलाह** – वात, पित्त, कफ अथवा द्वंद्वज प्रकृती की व्यक्ति को सामान्य विशेष सिद्धान्त के आधार पर ही स्वास्थ्य रक्षण की सलाह दी जाती है।

उदा. वातप्रकृती की व्यक्ति को रुक्ष गुण के विरोधी दृष्टी से नियमित तेल मालिश करानो चाहिए। पित्त प्रकृती व्यक्ति को अधिक तीखें, मसालों से भरपूर पदार्थों का सेवन टालना चाहिए। कफप्रकृती के व्यक्ति को नियमित व्यायाम करना चाहिए।

२) **व्याधी परिमोक्ष की दृष्टी से** – किसी भी व्याधी में त्रिदोषों की वृद्धी है अथवा क्षय यह जान कर उससे संबंधित दोषों के गुण-कर्म के समान अथवा विरोधी उपचारों की योजना की जा सकती है।

उदा. अति गुरु भोजन के कारण, अजीर्ण होने पर गुरु × लघु = लंघन चिकित्सा।

मसालों से भरपूर पदार्थ खाने से अम्लपित्त होने पर शीतगुण युक्त दुग्ध प्राशन करना।

सामान्य विशेष के व्यावहारिक उपयुक्त उदाहरण

क्र.	भावपदार्थ	सामान्य/विशेष	उदाहरण
१	वात	सामान्य	अति शारीरिक, मानसिक थकान, सातत्य से उपवास, अति रुक्ष, शीत पदार्थ सातत्य से खाना
		विशेष	विश्राम, अंतर्बाह्य स्नेहन
२	पित्त	सामान्य	अति तीखें, मसालों से युक्त पदार्थ खाना, अति संताप, धूप में - भट्टी के पास काम करना
		विशेष	सौम्य, शीत गुणों के पदार्थ खाना, दूध, चपाती, शांत रहना
३	कफ	सामान्य	पचन कि दृष्टी से भारी, थंड़े पदार्थ अति मात्रा में खाना, बैठ कर काम करना
		विशेष	उपवास, व्यायाम
४	रस	सामान्य	द्रव, मृदु, मधुर, स्निग्ध आहार, सिद्ध जलपान
		विशेष	*परिश्रम, रुक्ष आहार, विष संपर्क, अब्धातुक्षय*

५	रक्त	सामान्य	लाल, पीले चमकीले रंग का, अधिक्य होने वाले, अम्ल गुणयुक्त, लोहयुक्त पदार्थ
		विशेष	विषसंपर्क, तीक्ष्ण द्रव्य अथवा औषध
६	मांस	सामान्य	मांसाहार, गेंहू, उडद, जर्दालू आदि पौष्टिक पदार्थ
		विशेष	उपवास, परिश्रम, शुष्क आहार
७	स्वेद	सामान्य	उष्ण वातावरण, व्यायाम
		विशेष	शीत वातावरण, विश्राम

व्यावहारिक उपयुक्तता की दृष्टी से सामान्य विशेष सिद्धान्त का महत्त्व अनन्यसाधारण है।

सिद्धांत ५ – रोग, आरोग्य क्या है ?

रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यम् अरोगता। **...अ.ह.सू. १/२०**

वातादि दोषों में (एक, दो अथवा तीनों में भी) स्वप्रमाण के अनुसार वैषम्य (वृद्धी अथवा क्षय) व्याधी को कारण होता है। दोषवैषम्य यह कारण और रोग यह कार्य, इसके विपरीत, दोष साम्य (समभाव) अरोगता के लिए (आरोग्य के लिए) कारण ।

सामान्य विशेष सिद्धान्त के अनुसार दोषों में वृद्धी अथवा क्षय अवस्था दिखाई देती है। प्रकुपित दोष शरीर के अन्य घटकों को (धातु-मल को) बिगाड़कर व्याधी उत्पन्न करते हैं।

दोष के कारण बिगड़े हुए धातु तथा मल इन घटकों को **दूष्य** कहते है। (अ.ह.सू.१)

दोष – दूष्य संमूर्च्छना जनितो व्याधिः।

यही सिद्धान्त चरकाचार्य के अनुसार,

विकारो धातु वैषम्यं, साम्यं प्रकृतिरुच्यते।

सुखसंज्ञकम् आरोग्यं, विकारो दुःखमेव च॥

इस श्लोक में वातादि त्रिदोष एवं सप्त धातु इन सब को सम्मीलित रुप से **धातु** कहा गया है।

सुखदुःख की परिभाषा

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्, अनुकूलवेदनीयं सुखम्। **... पातञ्जल योगदर्शन**

सारांश, व्याधि निर्मिती में **दोष में उत्पन्न वैषम्य** यह प्रमुख कारण है, यह आकलन इस सिद्धांत से होता है।

सिद्धांत ६ – रोग के त्रिविध कारण

'दोषवैषम्य' यह व्याधिनिर्मिती का प्रमुख कारण होता है, इस प्रकार के उपरोक्त सिद्धांत का अध्ययन हमने किया। तथापि यह दोषवैषम्य किस कारण उत्पन्न होता है ? इसका वर्णन करते हुए वाग्भटाचार्य ने रोग एवं आरोग्य के मूलभूत कारण एक सुंदर श्लोक में स्पष्ट किये हैं।

कालार्थकर्मणां योगो हीन मिथ्यातिमात्रकः।

सम्यक् योगश्च विज्ञोयो रोगारोग्यैककारणम्॥ **... अ. ह. सू. १/१९**

१) काल, अर्थ एवं कर्म इन तीनों का मनुष्य शरीर के साथ आने वाला सम्पर्क (योग) यदि हीन (कम), मिथ्या (विकृत) अथवा अति (अधिक) मात्रा में हुआ तो रोग (Disease) निर्माण होते हैं। सम्यक् मात्रा में सम्पर्क होने पर स्वास्थ्य बना रहता है।

काल = Seasons,

अर्थ = contact with senses like Touch, Smell, Hearing, Taste, Vision

कर्म = Physical, mental, verbal activities

आरोग्य के सम्यक् कारण

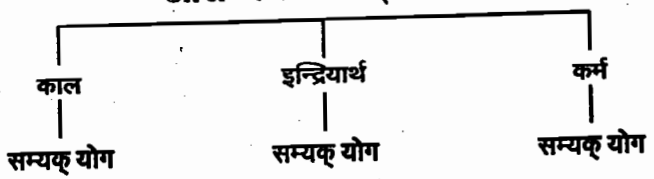

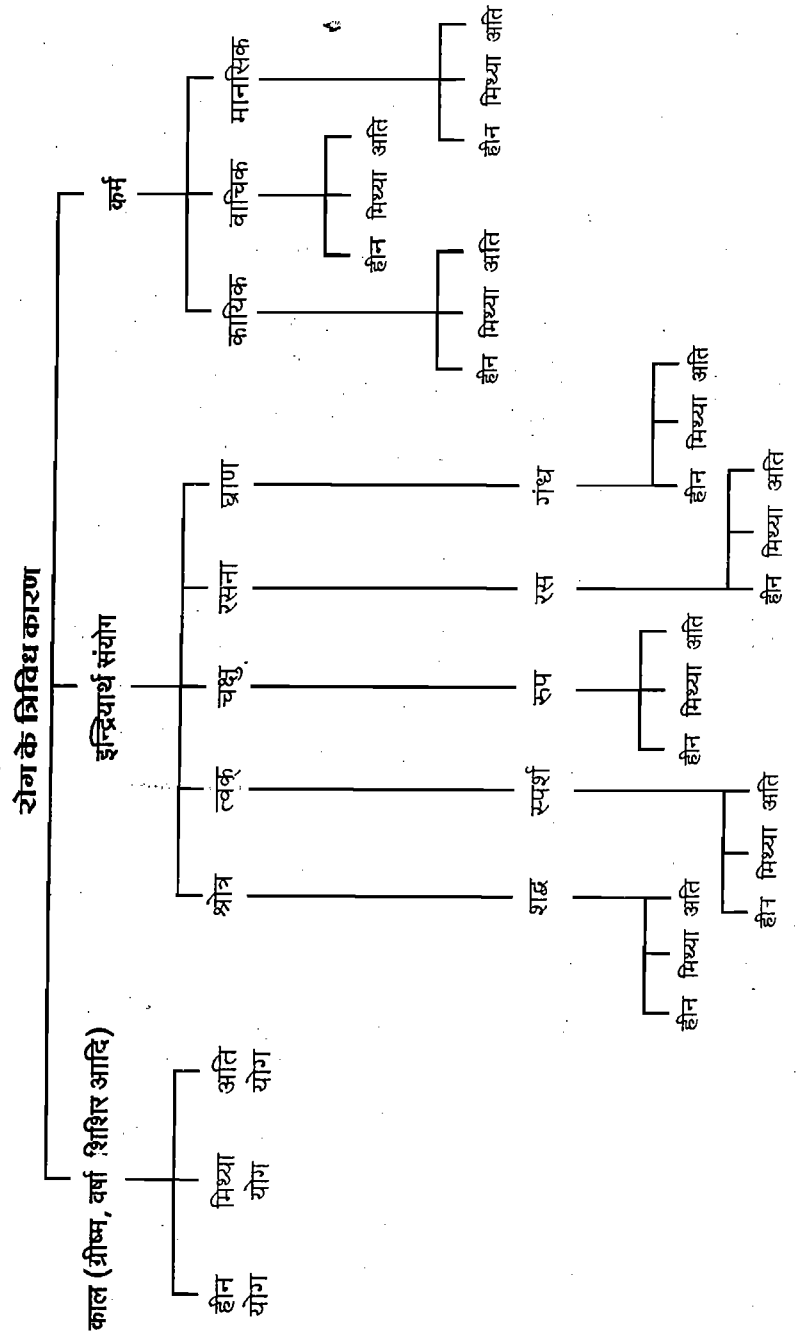

१) चक्षुरेन्द्रिय

अ) **अतियोग** – **अतिप्रभावतां दृश्यानाम् अतिमात्रं दर्शनम्।**
(दीर्घकाल T.V., Computer का उपयोग)

ब) **अयोग** – **सर्वशो अदर्शनम् अयोगः।**

क) **मिथ्यायोग** – अतिश्लिष्ट (अतिसमीप), अतिविप्रकृष्ट (अतिदूर), रौद्र (उग्र स्वरुप), भैरवात् (भयकारक), अद्‌भुद (आश्चर्यजनक), द्विष्ट (द्वेषपूर्ण घृणास्पद पदार्थ), बीभत्स (घिनौने, मन उद्वेगग्रस्त करने वाले), विकृत (कुरुप), वित्रासनादि रुप (विशेष स्वरुप में डराने वाले)

२) श्रवणेंद्रिय

अ) **अतियोग** – बड़ी आवाज अधिक मात्रा में अथवा नित्य सुनना
(Sound pollution)

ब) **अयोग** – **सर्वशो अश्रवणाम् अयोगः।**

क) **मिथ्यायोग** – परुष (कठोर शब्द), इष्टविनाश (प्रियजनों के विनाश के बारे में शब्द), उपाघात (हानिसूचक), प्रघर्षण (तिरस्कार, अपमान), भीषणादि (भयसूचक शब्द)

३) घ्राणेन्द्रिय

अ) **अतियोग** – अतितीक्ष्ण (मिर्च पिसने के दौरान निकली खाँक), उग्रगंध, अभिष्यंदी (प्रतिश्यायकारक) गंध

ब) **अयोग** – **सर्वशो अघ्राणम्।**

क) **मिथ्यायोग** – पूति (दुर्गंध), द्विष्ट (द्वेषकारक गंध), अमेध्य (अपवित्र), क्लिन्य (सड़ा हुआ), विषपवन (दुर्गंधित वायु), कुणपगन्ध (मृत शरीर का गंध) तथा Air pollution

४) **रसनेन्द्रिय**

अ) अतियोग – **रसानाम् अतिआदानाम् अतियोगः।**

ब) अयोग – **सर्वशो अनादानाम् अयोगः।**

क) मिथ्यायोग – प्रकृति, करण, संयोग, देश काल आदि दृष्टी से विरुद्ध अन्न स्वरुप में रसनेन्द्रिय से संपर्क।

५) **स्पर्शनेन्द्रिय**

अ) अतियोग – **अतियोग शीत उष्णानां स्पृर्शानां, स्नानअभ्यंग - उत्सादीनां च अति उपसेवनं अतियोगः।**

ब) अयोग – **सर्वांशो अनुपसेवनं अयोगः।**

क) मिथ्यायोग – **स्नानादीनो शीतोष्णोदीनां च स्पृशानाम् न अनुपूर्वे अपि सेवनं, सेवनं विषमस्थान।**

खुरदरे स्थान पर बैठने से उत्पन्न कष्ट, **अभिघात** (चोट पहुँचना), **अशुचि** (अपवित्रता) तथा भूत कृमि, कीटकों का स्पर्श तथा Air pollution

कर्म के लक्षण तथा अतियोगादि

कर्म – **वाक्, मनः शरीर प्रवृत्तिः।**

अ) अतियोग – **वाङ्मन शरीराति अतिप्रवृत्तिः अतियोगः।**

ब) अयोग – **सर्वशो अप्रवृत्तिः अयोगः।**

क) मिथ्यायोग – वेगधारण - उदीरण, विषमस्खलन (विषम स्थान पर फिसलना), गमन (अधिक चलना), पतन (गिरना), अङ्गप्रणिधान (शरीर को विषम स्थिति में रखना), अङ्गप्रदूषण (शरीर अवयवों को दूषित करना अथवा रखना), प्रहार (चोट पहुँचना), मर्दन (कुचले जाना), प्राणोपरोध (साँस रुकना), संक्लेशन (शारीरिक क्लेश) ये सब शारीरिक मिथ्यायोग के उदाहरण हैं।

सूचक (चुगली करना), अनृत (झूठ बोलना), अकाल कलह (अयोग्य समय झगडा करना), अप्रिय, अबद्ध (असंबद्ध), अनुपचार (औचित्य छोड़कर), परुष वचन (कठोर भाषण) ये वाणी के मिथ्यायोग हैं।

भय, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, मान (घमंड), ईर्ष्या, मिथ्यादर्शन ये मन के मिथ्यायोग हैं।

असात्मइंद्रियार्थ संयोग अथवा कर्मों का त्रिविध योग ये सभी **प्रज्ञापराध के कारण ही** (बुद्धी की गलती के कारण) होते हैं।

धी धृति स्मृती विभ्रष्टः यत् कुरुते अशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

काल निष्प्रत्यनिक होता है।

तथापि काल के दुष्परिणाम टालें नहीं जा सकते।

अ) अतियोग – **अतिमात्र स्वलक्षणः।**
तीव्र ग्रीष्म ऋतु, अति वर्षा आदि।

ब) अयोग – **हीन स्वलक्षणः।**

क) मिथ्यायोग – **यथा स्वलक्षण विपरीत लक्षणस्तु।**

सारांश, चरकाचार्य के अनुसार - निज, आगंतु, मानस व्याधियों के त्रिविध कारण निम्न हैं -

इति असात्म्य इंन्द्रियार्थ संयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति त्रय स्त्रिविध विकल्या हेतवो विकाराणो, समयोगयुक्तास्तु प्रकृति हेतवो भवन्ति॥

... च. सू. ११/४३

टिप्पणि – समयोग का अर्थ

समदोषः समाग्निश्चसमधातुमलक्रियः।

इसी के साथ इंद्रिय विषयों का सात्म्यकारक संयोग, प्रज्ञा का (सत्-असत् विवेक बुद्धी) सदुपयोग अर्थात् पूर्ण रुप से सद्वृत्त का आचरण इन सब का परिणाम आरोग्यदायी होता है, अन्यथा विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धांत के व्यावहारिक उदाहरण

क्र.	इन्द्रिय	इन्द्रियार्थ	उदाहरण	प्रकार
१	श्रोत्रेंद्रिय	शब्द	जन्मतः बाधीर्य परिणामतः मूकत्व की संभावना	अयोग
२	श्रोत्रेंद्रिय	शब्द	सद्यकालीन ध्वनी प्रदूषण के परिणामतः रक्तचापवृद्धी, मानसिक तनाव में वृद्धी.	अतियोग
३	श्रोत्रेंद्रिय	शब्द	कुत्ते-बिल्ली का रोना, चमगादड़ की आवाज, चीखना, गलिच्छ शब्द, परिणामतः मानसिक तनाव, खिन्नता, अनुत्साह	मिथ्यायोग
४	घ्राणेंद्रिय	गंध	वायु प्रदूषण, परिणामतः कास, श्वास	मिथ्यायोग
५	चक्षुरेन्द्रिय	रुप	अधिक समय टीव्ही, व्हिडीओ गेम्स्, संगणक से जुड़ा काम करना, परिणामतः नेत्रशूल, शिरःशूल, अम्लपित्त आदि	अतियोग

सिद्धांत ७ – सत्कार्यवाद

प्रत्येक स्वास्थ्यकारक अथवा व्याधिकारक वस्तु को कुछ ना कुछ कारण होता ही है, होने वाले हर एक कार्य का कारण होता ही है। वैद्यकीय व्यवसाय में यह कार्य-कारण संबंध समझना अत्यंत जरुरी होता है। इस सिद्धान्त का मूल संदर्भ गीता २/१६ एवं सांख्यकारिका ९ में विस्तारपूर्वक दिया है।

'कारण के अनुसार ही कार्य' होता है, इस सिद्धान्त का शारीर क्रिया में दोष, धातु, मल के कार्य समझने के लिए किस प्रकार उपयोग होता है, यह निम्न सिद्धान्त से स्पष्ट होता है।

सिद्धांत ८ – द्रव्य–गुण–कर्म सिद्धान्त

द्रव्य

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्ये॥ ... च. सू. १/५१

अर्थ – जिसमें कर्म एवं गुण आश्रित हैं तथा जो गुण, कर्म का समवायिकारण है, उसे द्रव्य कहते है। निम्न संदर्भो से यह अर्थ अधिक स्पष्ट होता है।

क्रियागुणावत् समवायिकारणं द्रव्यम्। ... सु. सू. ४०

क्रिया गुणवत् समवायिकारणम् इति द्रव्यलक्षणम्। ...वैशेषिक १/२५

समवायि

समवायो अपृथक्भावो भूम्यादीनां गुणैर्मतः॥ ... च. सू. १/५०

भूमि आदि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों के साथ **अपृथक्भाव** यही समवाय है।

कारण द्रव्य कौनसे हैं ?

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं, निरिन्द्रिम् अचेतनम्॥ ... च. सू. १/४८

दोष, धातु, मल ये पांचभौतिक द्रव्यों से बने हुए कार्यद्रव्य हैं।

गुण

समवायो तु निश्चेष्टः कारणं गुणः॥ ... च. सू. १/५१

जो समवायी, अर्थात् किसी के आधार से रहने वाला, निष्क्रिय तथा कारण है, उसे गुण कहते है।

गुण कौनसे हैं ?

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः। गुणाः प्रोक्ता॥ ... च. सू. १/४९

कर्म

संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यम् आश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म, कर्म न अन्यद् अपेक्षते॥ ... च. सू. १/५२

अर्थ – संयोग एवं विभाग को कर्म ही कारण हैं। कर्म द्रव्याश्रित होता है। कर्तव्ययुक्त क्रिया को कर्म कहते है। पूर्वोक्त संयोग, विभाग के लिए, कर्म अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता।

इसके बाद के कुछ प्रकरणों में वात, पित्त, कफ इन **त्रिदोषरुपी** द्रव्यों का अध्ययन निरुक्ती, स्वरुप, संघटन इस स्वरुप में किया जाएगा। तत्पश्चात् त्रिदोषों के गुणों का अध्ययन किया जाएगा। गुण के अनुसारही होने वाले कार्य का अध्ययन करना इससे सुगम हो जाएगा।

प्रकरण ४

चिकित्साधिष्ठित पुरुष

शरीर

- **अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरि समवायः पुरुषः इत्युच्यते। ...सु. सू. ६/४**
- **तत्र शरीर नामं चेतनाधिष्ठानभूतं।**

  पंचमहाभूत विकार समुदायात्मकम्॥ ...च.शा.६/४

पुरुष

जिसमें चेतना का अधिष्ठान होता है, उस पंचमहाभूतविकारों के समुदाय को 'शरीर' कहा जाता है, इस प्रकार शरीर की व्याख्या चरकाचार्य ने की है।

चेतना का अर्थ है - आत्मा, जीवात्मा। यह चेतना और पांचभौतिक शारीर के संयोग को आयुर्वेद में चिकित्साधिष्ठित पुरुष कहा गया है।

खाद्यश्चेनाधिष्ठा धातवः पुरुष स्मृतः।

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः॥ ... च. शा. १/१६

आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है 'चिकित्सा'। यह चिकित्सा चेतनायुक्त अर्थात् सजीव शरीर पर करनी होती है। चेतनाविरहित शरीर अर्थात मृत शरीर। चेतना नष्ट होने पर वैद्य का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। अत. चिकित्साधिष्ठित पुरुष के वर्णन में 'पंचमहाभूतात्मक चेतनामय शरीर' ऐसा कहा गया है।

- **यद्यपि अत्र पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इतिसामान्येन पुरुष शद्वेन पश्वादिरपि वाच्यः तथापि मनुष्यजातिरेव अत्र पुरुष शद्वेन उच्यते, तस्य उपकार्यत्वात्। ... सु. सू. १/२२, डल्हण टीका**

डल्हण के इस मत की पुष्टी करते हुए चरक टीकाकार चक्रदत्त कहते है -

- **पुरुषशद्वेन च इह सामान्येन प्राणिपाचिना अपि प्रकरणान्मनुष्यरुपः एवः पुरुषः उच्यते। ... च. शा. १/१६ चक्रदत्त टीका**

चिकित्साधिष्ठित पुरुष का वर्णन निम्न विवेचन से समझा जा सकता है।

१) एक धातुक पुरुष (चैतन्य/आत्मा) २) त्रिधातुक पुरुष

३) षड्धातुक पुरुष ४) चतुर्विंशतिक पुरुष ५) राशि पुरुष

६) संयोग पुरुष ७) कर्म पुरुष

१) त्रिधातुक पुरुष

सत्त्वं आत्मा शरीरंच त्रयम् एतत त्रिदण्डवत्।

लोकः तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्॥ ... च. सू.

सत्त्व (मन), आत्मा और शरीर के संयोग को त्रिधातुक पुरुष कहते है। इसके घटकों को 'त्रिदण्ड' कहा है। इसी तिपाई पर ही मनुष्य का जीवन आधारित होता है।

इस त्रिधातुक पुरुष में शारीरिक रोगों का अधिष्ठान शरीर है, तथा मानसिक रोगों का अधिष्ठान मन है। लेकिन इनके साथही आत्मा का भी अनन्यसाधारण महत्त्व है, क्यों कि आत्मा ही शरीर और मन को चालना देता है।

षड्धातुक पुरुष अथवा त्रिधातुक पुरुष का अध्ययन करते समय उसमे पंचज्ञानेंद्रिय, पंचमहाभूत का विचार भी अपेक्षित है।

२) षड्धातुक पुरुष

खाद्यश्चेतना षष्ठाधातवाः पुरुषः स्मृतः। ... च. शा. १ /१५

ख अर्थात् आकाशादि महाभूत एवं आत्मा इनसे युक्त पुरुष को ही षड्धातुक पुरुष कहते है। चिकित्सा की दृष्टी से ऐसे पुरुष का विचार किया जाता है।

पंचमहाभूत और चेतना इन दोनों घटकों के समावेश से ही चिकित्सा परिपूर्ण हो सकती है। शरीर का प्रत्येक घटक पंचमहाभूतों से बना होता है। इसी लिए दोष, धातु, मल की साम्यावस्था निर्माण करते हुए अप्रत्यक्षतः पांचभौतिक घटकों की ही साम्यावस्था निर्माण होती है। 'चेतना' की विशेषता समझने में निम्न टिप्पणि महत्त्वपूर्ण है - चिकित्सा केवल पांचभौतिक जीवंत व्यक्ति पर ही की जाती है, मृत व्यक्ती पर नहीं। पंचमहाभूत और आत्मा यही शरीर का धारण करते हैं, अतः उन्हे 'षड्धातु' कहा गया है।

पंच महाभूतशारीरि समवायः पुरुषः।

स एव कर्मपुरुषः चिकित्साधिकृतः॥ **... सु. शा. १/२१**

यहाँ 'शारीरि' इस शब्द से आत्मा यह अर्थ अपेक्षित है, तथापि वैद्य की दृष्टीसे मन युक्त आत्मा का विचार करना अधिक उचित होगा। मानवी देह की चिकित्सा करने के लिए प्रयोग किए जाने वाले औषधी द्रव्य और आहार्य द्रव्य पांचभौतिक होते है, तथापि रुग्ण पर उपचार करते हुए पांचभौतिक शरीर का स्थूल एवं सूक्ष्म स्तर पर अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर विचार करने से चिकित्सा में परिपूर्णता आती है। (अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार, सायको सोमॅटीक व्याधियों का प्रमाण बढ़ता ही जा रहा है, इसलिए चिकित्सा के संदर्भ में उपरोक्त विचार मौलिक है।)

चिकित्स्य पुरुष का यथोचित वर्णन यही षड्धातुक पुरुष है।

३) चतुर्विंशतिक पुरुष

प्रकृति, पुरुष (अव्यक्त तत्त्व), महत्, अहंकार, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रा, मन इन २४ घटकों का समावेश चतुर्विंशतिक पुरुष में किया गया है। इन २४ तत्त्वों का विचार तत्त्वज्ञान-स्वरुप है और सांख्य ने मोक्ष के संदर्भ में यह विचार अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

प्रत्यक्ष व्यवहार में इस चतुर्विंशतिक पुरुष को अधिक महत्व देना जरुरी नहीं।

४) राशि पुरुष

प्रभवो न ह्यनादित्वात् विद्यते परमात्मनः।

पुरुषो राशिसंज्ञस्तु॥ **... च. शा. १/५३**

उपरोक्त षड्धात्वात्मक एवं त्रिधातुक पुरुषों मे प्रत्येक घटक का विचार महत्त्वपूर्ण है। तथापि चिकित्साविषय पुरुष के अध्ययन के दौरान संबंधित पुरुष में उपस्थित सभी घटकों का विचार करना जरुरी है।

षड्धात्वात्मक पुरुष का विचार करते हुए पंचमहाभूत और आत्मा इनसे युक्त पुरुष का विचार करना पड़ता है। केवल पंचमहाभूत अथवा केवल आत्मा इनके स्वतंत्र रुप से अर्थात् अलग-अलग विचार को कुछ भी महत्व नहीं रहता, क्यों कि पांचभौतिक शरीर से आत्मा संलग्न न होने पर उस शरीर में जीवन लक्षणों का व्यक्तीकरण ही नहीं होता।

संक्षेपतः, मनुष्य देह के संदर्भ में अनेक महत्त्वपूर्ण घटकों का विचार एकत्रित स्वरुप में करना पड़ता है। इसीको राशि पुरुष कहते है। **राशि का अर्थ है – समुदाय।** राशि पुरुष का अर्थ है - समुदायात्मक पुरुष। राशि पुरुष का यह अर्थ समझने पर षड्धात्वात्मक पुरुष अर्थात छः घटकों का समुदाय स्वरुप पुरुष, त्रिधातुक पुरुष अर्थात तीन घटकों का संयोग समुदाय स्वरुप पुरुष यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

खाद्यः श्रेतनाषष्ठाधातवः पुरुषः स्मृतः।

५) संयोग पुरुष

पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति।

स एव कर्मपुरुषः चिकित्सा ऽधिकृतः॥ **... सु. शा. १/१६**

राशि पुरुषों में जिस प्रकार छह, तीन अथवा चौबीस घटकों का समुदाय होता है, उसी प्रकार संयोग भी होता है। अत. षड्धात्वात्मक पुरुष को 'राशिपुरुष' के साथ ही 'संयोग पुरुष' यह संज्ञा भी दी जाती है।

६) कर्म पुरुष

मोहेच्छाद्वेष कर्मणः। **... च. शा. १/५३**

मोहाद्धि भावेषु इच्छा द्वेषश्च भवति, ततः प्रवृतिः प्रवृतैः धर्माधर्मौ तौ च शरीरं जनयतः भोगार्थम्। **... च. शा. १/५३ चक्रदत्त टीका**

आयुर्वेद के अनुसार, आत्मा अविनाशी होता है और शरीर विनाशी होता है। शरीर मृत होने पर आत्मा एक पांचभौतिक शरीर से दूसरे पांचभौतिक शरीर में प्रवेश करता है। इसीलिए मृत्यू के पश्चात् भी जनम-जनम का संबंध बना रहता है। अतः भविष्य तथा वर्तमान जन्म में आत्मा यह घटक कायम रहता है। इस प्रकार भूत (गत), सद्य, भविष्य जन्मों में किए भले-बुरे कर्मों का फल मनुष्य को वर्तमान जन्म में प्राप्त होता है। यही विचार कर्म पुरुष सिद्धांत का मूल आधार है।

कर्म का अर्थ है - कृत्य। आयुर्वेद में उल्लेखित सत्कार्यवाद सिद्धांत के अनुसार धर्माचरण अथवा अधर्माचरण के अनुसार मनुष्य को मानव अथवा किसी और तीर्यक योनी में से संचार करना पड़ता है, क्यों कि प्राक्तन जन्म का फल प्राप्त करने के उद्देश से आत्मा सूक्ष्म लिंग शरीर के साथ एक योनी से दूसरे योनी में जन्म लेता है और शरीर के माध्यम से सुखदुःख की अनुभूति करता है, इसीलिए कहा गया है -

आत्मनः भोगयतने शरीरं।

७) चेतना पुरुष

आयुर्वेद ने चिकित्सा की दृष्टी से चेतना पुरुष का विचार किया है। सांख्य ने चौबीस तत्त्वों का पुरुष माना है। इन चौबीस तत्त्वों में प्रकृति पुरुष (अव्यक्त तत्त्व), बुद्धी, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचज्ञानेंद्रिय, पंचकर्मेंद्रिय, पंचमहाभूत तथा मन का समावेश होता है। इन चौबीस पुरुष में आत्मा का प्रवेश होने पर इनमें चेतना निर्माण होती है। आयुर्वेद ने चिकित्सा की दृष्टी से इस प्रकार के चेतना पुरुष का विचार किया है।

चिकित्साधिष्ठित पुरुष का पांचभौतिकत्त्व

शरीर और सृष्टी में उपस्थित सभी द्रव्य पंचमहाभूतों से निर्मित हैं।

सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकं अस्मिन् अर्थे।

तैत्तिरियोपनिषद् में पुरुष की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इसका विवेचन किया गया है। प्रथमतः आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधी वनस्पती उत्पन्न होती है। इन वनस्पतीयों का अन्न के स्वरूप में उपयोग कर पुरुष की उत्पत्ती होती है।

आकाशवायुः वायोस्तेजः तेजसः उदकम्, उदकात् पृथिवि, पृथिव्या ओषधयः, ओषाधिभ्योअन्नम्, अन्नात् पुरुषः। ... तैत्तिरियोपनिषद २/१

इस उत्पत्तीक्रम के अनुसार, पुरुष की उत्पत्ति अंतिमतः पंचमहाभूतों से होती है। यहाँ जिस पुरुष का वर्णन किया है, वह पुरुष सांख्य को अभिप्रेत चिकित्साधिष्ठित पुरुष ही है।

इस प्रकार, शरीर पांचभौतिक द्रव्य से निर्मित है, ऐसा वर्णन करते हुए कौनसे घटक किन महाभूतों से बनते है इसका विवेचन चरकादी आचार्यों ने किया है। इस विवेचन का अध्ययन करने से पहले यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि शरीर के सभी द्रव्य, प्रत्येक घटक ये सभी महाभूतों के संयोग से बने हुए हैं, अर्थात् कोई एक घटक किसी एक ही महाभूत से बना हुआ नहीं। ये सब पांचभौतिक द्रव्य ही हैं। इस प्रत्येक में सभी महाभूतों के अंश निश्चित ही हैं। तथापि इन घटकों में पंचमहाभूतों के अंश अल्प-अधिक मात्रा में होते हैं। इसी कारण घटकद्रव्यों में विविधता होती है। महाभूतों के इस तर-तम भाव का विचार कर जिन महाभूतों का अधिक्य होता है, उन महाभूतों के

अनुसार नामकरण किया जाता है। 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से यह उचित भी है। शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गंध ये महाभूतों के विशेष गुण हैं। अप्रतिघात, चलत्व, उष्णत्व, द्रवत्व एवं खरत्व ये स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य असाधारण लक्षण हैं। इसके अनुसार शरीरभावों का नाभस, वायवीय, आग्नेय, आप्य और पार्थिव इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है।

१) पार्थिव द्रव्य

चरकाचार्य के अनुसार, शरीर में जो स्थूल, स्थिर, मूर्तिमान, गुरु, खर, कठिन अवयव हैं, वे सभी पार्थिव हैं।

उदा. नख, अस्थि, दन्त, दन्तवेष्ट, मांस, त्वचा, पुरीष, केस, श्मश्रू, लोम, कण्डरा, आदि।

गंध यह पार्थिव द्रव्य का विशेष गुण है तथा गंधग्राहक घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है ।

- **तत्र विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद् गुरुखरकठिनम् नखास्थिदन्तवेष्टमांसचर्मवर्चः केशश्मश्रुलोमकण्डरादि तत् पार्थिवं गधो घ्राणं च। ... च. शा. ७/१६**

आचार्य वाग्भट के अनुसार, धैर्य, गौरव ये गुण पार्थिव हैं।

- **पार्थिवाणि घ्राणं गंध, केशनखस्थ्यादि मूर्तिसमूहः धैर्य गौरवं च। ...अ.सं.शा.५**

२) आप्य (जलीय) द्रव्य

चरकाचार्य के अनुसार, शरीर में जो द्रव, सर, मंद, स्निग्ध, मृदु, पिच्छिल अवयव हैं, वे सभी आप्य हैं।

उदा. रस, रक्त, वसा, कफ, पित्त, मूत्र, स्वेद आदि।

रस यह आप्य द्रव्य का विशेष गुण है तथा रसाग्राहक रसनेन्द्रिय (जिव्हा) आप्य है।

- **यद्द्रवसरमंदस्निग्धमृदुपिच्छिल रसरुधिरवसा कफपित्तमूत्रस्वेदादि तत् आप्यं रसो रसनं च। ... च.शा.७/१६**

सुश्रुताचार्य के अनुसार, सभी द्रव्य समूह, गुरुता, शैत्य, स्नेह इन गुणों का अधिक्य जिनमें होता है, वे द्रव्य आप्य होते हैं।

- **आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्व द्रव्यसमुहः गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च।**

... सु. शा. १/१९

आचार्य वाग्भट के अनुसार, क्लेद आप्य है और शैथिल्य एवं स्नेह ये क्लेद के दो विशेष गुण हैं।

- **आप्याजीव्हारसक्लेदः।** **... अ. सं. शा. ३/४**

३) तैजस (आग्नेय) द्रव्य

आचार्य चरक के अनुसार, शरीर में जो उष्ण, तीक्ष्ण भावपदार्थ हैं, वे सभी तैजस हैं। उदा. पित्त, प्रभा (कान्ति), अग्नि ये सभी तैजस हैं। रुप उनका विशेष गुण है और रुपग्राहक चक्षुरेन्द्रिय तैजस है।

- **यत् पित्तं उष्मा यो या च भा शरीरे तत् सर्व आग्नेयं रुपं दर्शनं च।**

... च. शा. ७/१६

सुश्रुताचार्य ने वर्ण, देहोष्मा, भ्राजिष्णुता, शौर्य, पचन, तैक्ष्ण्य आदि सभी को तैजस माना है।

- **तैजसास्तु रुपं रुपेन्द्रियं वर्णः संतापः भ्राजिष्णुता पक्तिः असर्ष तैक्ष्ण्यं शौर्य च।**

... सु. शा. १/१९

अष्टांग संग्रहाचार्य के अनुसार मेधा तैजस है।

- **आग्नेयाणि दर्शनं रुपं पित्तमूष्मा पक्ति संतापो मेधावर्णो सास्तेयजः शौर्य च।**

... अ.सं. शा. ५

४) वायवीय द्रव्य

चरकाचार्य के अनुसार, शरीर में होने वाली सभी गतिविधियों को कारण होने वाले द्रव्य वायवीय हैं। उच्छ्वास, प्रश्वास, उन्मेष, निमेष, आकुंचन, प्रसारण, गमन, प्रेरण, धारणादि कर्म वायवीय हैं। स्पर्श उनका विशेष गुण है और स्पर्शग्राहक त्वगेन्द्रिय वायवीय हैं।

- **यद् उच्छ्वास प्रश्वास निमेष आकुंचन प्रसारण गमनं प्रेरण, धारणादि शद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च।** **... च. शा. ७ /१६**

आचार्य सुश्रुत के अनुसार, लाघवता, सर्व शरीरस्पंदन एवं चेष्टा ये गुण वायवीय हैं।

- **वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पदनं लघुताच।**

... सु. शा. १/१९

५) आकाशीय (वायस) द्रव्य

चरकाचार्य के अनुसार, शरीर स्थित सभी लघु-बृहत् अवकाश (रिक्त स्थान), आशय, स्त्रोतस आकाशीय हैं। शद्ध यह उनका विशेष गुण है और शद्धग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय आकाशीय है।

- **यद् विविक्तमुच्यते महान्तिच अणूनि स्त्रोतांसि तद् अंतरिक्ष शद्धः श्रोत्रं च।**

... च. शा. ७/१६

सुश्रुताचार्य के अनुसार, सभी छिद्रसमूह आकाशीय हैं।

- **आंतरिक्षास्तु शद्धः शद्धेन्द्रियं सर्वछिद्रसमूहः विविक्तता च।** **... सु. शा. १/१९**

प्रकरण ५

त्रिदोष –त्रिदेव के समान

Read

ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेव जितना ही महत्त्व मनुष्य जीवन में 'वात-पित्त-कफ' इन त्रिदोषों का है। 'दोष-धातु-मल विज्ञान' अध्ययन का आरंभ 'त्रिदोषों से ही' करना उचित है।

'त्रिदोष सिद्धांत' आयुर्वेद की बुनियाद है।

दोष – कितने और कौनसे ?

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसग्रहः।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तमएव च ॥ **... च. सू. १/५७**

अर्थ – वात, पित्त, कफ - ये ३ - शारीर दोष (शरीर से संबंधित) हैं और रज एवं तम - ये २ - मानस दोष हैं।

वात, पित्त, कफ इन तीन घटकों को ही प्रसंगवशात्, उनके कार्य के अनुसार दोष, धातु, मल ये तीनों संज्ञाएँ दी जा सकती हैं।

वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मलास्तथा।

तत्रापि पञ्चधा ख्याता प्रत्येकं देहधारणात् ॥

शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात्।

वातपित्त कफा ज्ञेया मलिनीकाणान्मलाः ॥ **... शा.प्र.खं.अ.५**

१) प्रकूपित अवस्था में वात, पित्त, कफ ये घटक शरीर स्थित अन्य घटकों को प्रकूपित करने का कार्य करते है। अतः कहा गया है -

शरीर दूषणाद् दोषा।

२) सामावस्था में वात, पित्त, कफ ये घटक शरीर (क्रिया व्यापार) बनाएं रखने का कार्य करते हैं। अतः कहा गया है -

धातवो देहधारणात्।

३) वात, पित्त, कफ इनका किसी एक स्थान में, ~~सुनिश्चित कार्य सम्पन्न होने के~~ पश्चात वे मल स्वरुप होते जाते हैं। इस स्वरुप में उनका शरीर से निष्कासन होना आवश्यक है, अन्यथा यही घटक (विकृत कफ, विकृत पित्त) शरीर में विकृति (गंदगी) निर्माण करते है। अतः कहा गया है -

मलिनीकरणात् मलः।

यदि वात, पित्त, कफ शरीर को दूषित कर उसे क्षीण कर रहे हो तो **शरीर** शद्ब का उपयोग किया जाता है। (क्यों कि शृ = हिंसायाम् धातु से शरीर शद्ब की निष्पत्ति और शृ धातु का अर्थ = विनाश - क्षीणता की ओर प्रवृत्ती)

यदि वात, पित्त, कफ प्राकृतावस्था में धातुस्वरुप कार्य करते है तो शरीर के लिए **देह** शद्ब का उपयोग किया जाता है। (देह = दिह उपचये = वृद्धी = स्वस्थ अथवा पुष्ट होना)

शरीर – मानस दोष महत्त्व

शरीरं सत्व संज्ञ च व्याधीनामाश्रयो मतः। **... च. सू. १/५५**

शरीर एवं मन, पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त स्वरुप में व्याधीओं का आश्रय होते हैं। वात, पित्त, कफ ये त्रिदोष शारीरिक व्याधीओं का तथा रज, तम ये मानस दोष मानसिक व्याधीओं का कारण होते हैं।

सत्व गुण शुद्ध तथा अविकारी होता है।

सत्वं सुखे सज्ञयति।

दोष – निरुक्ति

दूषयन्ति इति दोषः।

जो घटक (प्रकूपित होने पर) बाकी घटकों को बिगाड़ते हैं (प्रकूपित करते हैं), उन्हे दोष कहते हैं।

वात, पित्त, कफ ये घटक जब द्रव्यतः, गुणतः, कर्मतः साम्यावस्था में होते हैं, तब स्वास्थ्य बना रहता है। किन्तु कुपित हो जाने पर शरीर सन्तुलन बिगाड देते हैं।

दोषाः पुनस्त्रयो वात, पित्त श्लेष्माणः।

ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिम् आपन्नस्तु खलु

नानाविधैर्विकारैः शरीरम् उपतापयन्ति। **... च. वि. १**

साम्यावस्था में शरीर के सभीं प्राकृत क्रिया व्यापारों को जिम्मेदार होने वाले ये घटक आहार-विहार में अयोग के कारणवश प्रकूपित होने पर शरीर के धातु, मल इन बाकी घटकों को भी बिगाड़ते हैं और व्याधी उत्पन्न करते हैं।

दोष - दूष्य संमूर्च्छना जनितो व्याधिः।

दोषों के द्वारा बिगड़े (प्रकूपित) धातु, मल इन घटकों को **दूष्य** कहते है।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्ज शुक्राणि धातवः।

सप्त दूष्या मला मूत्रशकृतस्वेदादयोऽपि च॥ **... अ.हृ.सू. १**

प्रकूपित दोष तुलना में दुर्बल स्थानों को (दूष्य) अपना लक्ष्य बनाते हैं। इस लिए स्वास्थ्य रक्षण के लिए दोषों की साम्यावस्था बनाएं रखने के साथही धातुओं को सारवान (उत्तम दर्जे का) बनाना अर्थात् व्याधिप्रतिकारक्षमता बढ़ाना भी महत्वपूर्ण है।

दोष – व्याख्या

प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।

जो प्रकृती निर्माण (शरीर निर्मिती) को जिम्मेदार होते हैं और प्रकुपित अवस्था में दूसरों को बिगाड़ने का सामर्थ्य रखते हैं, वे दोष कहलाते हैं।

वात, पित्त श्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः।

तैरेव अव्यापन्नैरधोमध्योर्त्वसन्निविष्टैः शरीरम् इदं धार्यते अगारम् इव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणम् आहुः ऐके।

ते एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। **... सु. सू. २१/३**

अर्थ – वात, पित्त, कफ ये देह की उत्पत्ती के हेतू हैं। वे अव्यापन्न (प्राकृत) अवस्था में शरीर के (क्रमशः) अधो, मध्य, उर्ध्व भाग में रह कर, खंभों से जिस प्रकार घर को सहारा दिया जाता है, उसी प्रकार ये तीन घटक शरीर को आधार देते हैं। अतः इस देह को कुछ विद्वान त्रिस्थूण यह संज्ञा भी देते हैं। ये तीन विकृत होने पर (व्यापन्नाः), प्रलय (देह का विनाश) का कारण होते हैं।

कालमापन के अनुसार उपबृंहण

१) **चरक संहिता** – केवल वात दोष का विवेचन (वात प्रकार के नाम, स्थान, गुणकर्म) है; पित्त, कफ दोष के प्रकार वर्णित नहीं।

२) **सुश्रुत संहिता** – वात, पित्त प्रकारों के विषय में वर्णन है, कफ प्रकार वर्णित नहीं।

३) **अष्टांग हृदय** – वात, पित्त, कफ तीनों के भी प्रकार सविस्तर वर्णित हैं।

त्रिदोष अध्ययन की रुपरेषा

१) निरुक्ती २) पर्यायी नाम ३) संघटन ४) स्वरुप
५) स्थान ६) गुण ७) कार्य ८) प्रकार
... ये प्राकृतत्व के मुद्दे
९) दोषवृद्धी १०) दोषक्षय ... ये विकृतीवाचक मुद्दे

निरुक्ती के अंतर्गत - वात, पित्त, कफ संस्कृत भाषा की दृष्टीसे किस मूल धातु से उत्पन्न हुए हैं - इसका अध्ययन किया जाता है। निरुक्ती अथवा पर्यायी नाम से भी त्रिदोषों का स्वरुप, गुण अथवा कार्य आदि के विषय में जानकारी मिलती है।

त्रिदोष – स्वरुप

वर्गीकरण १ – त्रिदोष

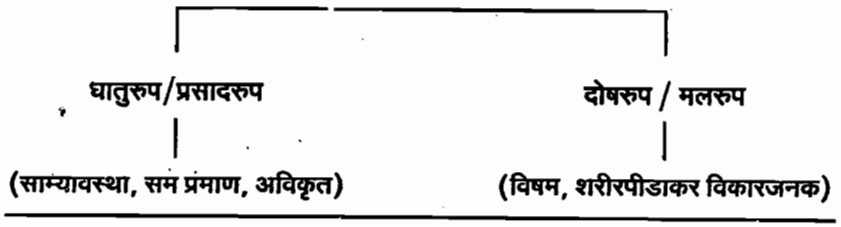

वर्गीकरण २ – त्रिदोष

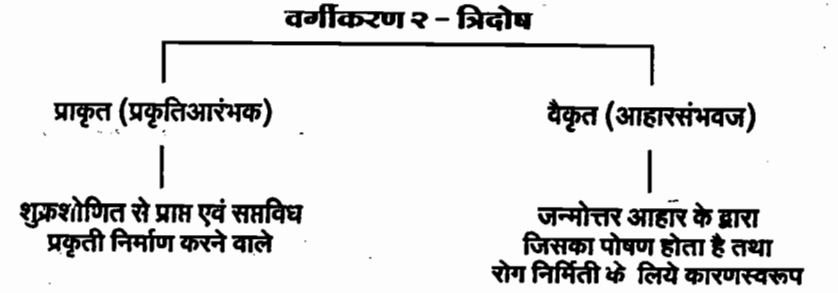

दोष किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

इसका स्पष्टीकरण दो प्रकार से दिया जा सकता है, जैसे -

१) प्रकृती आरंभक दोष २) आहारसंभवज दोष

वैकृत दोष (आहारसंभवज दोष)

तत्र आहार प्रसादाख्यौ रसः किट्टं च मलाख्यम् अभिनिवर्तते ।

किट्टत् स्वेदमूत्र पुरीष वातपित्तश्लेष्मणः ॥ ... च. सू. २८/४

तीन महत्त्वपूर्ण दोषों का किट्ट भाग द्वारा पोषण होकर रसमल = कफ, रक्तमल = पित्त, अन्नमल = वात इस स्वरुप में निर्माण होते हैं।

यहाँ 'मल' शद्ध अलग दृष्टीकोण से प्रयुक्त किया गया है। मूत्र, पुरीष ये घटक शरीर से बाहर निष्कासित किये जाते हैं, अतः उन्हें मल कहना सुयोग्य है,किन्तु त्रिदोषों को मल क्यों कहा गया है?

१) रसमल कफ

रस का संपूर्ण शरीर में वहन होते हुए रसवह स्त्रोतस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म वहन मार्ग से, हर समय तत्रस्थ धातुपोषक अंश बाहर निकलते हैं। ये अंश मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र का पोषण करने के लिए रसवह स्त्रोतस द्वारा उपयोग में लाएं जाते हैं। अर्थात् यह धातुपोषक अंश (कफ) निश्चित रुप से शरीर उपयोगी है। किन्तु केवल रसवह स्त्रोतस से बाहर निकलने के कारण ही उसे 'रसमल कफ' कहते है।

२) रक्त का मल पित्त

रक्तवह स्त्रोतस से बाहर निकलकर वर्ण, स्वरुप बदलकर अन्नादि घटकों से संबद्ध होने वाला अथवा पचन, परिणमन कार्य में सहायताकारक घटक (पित्त) रक्त के स्वरुप में पुनः उपयोगी न होने के कारण पित्तदोष को 'रक्तमल' कहा गया है।

३) अन्नमल वात

शरीर के सभी क्रिया व्यापारों में धातुओं का कम-अधिक क्षरण होता ही रहता है। परंतु, विलुप्त होने वाले इन घटकों की गिनती करना कठिन है। धातुओं का पोषण अन्न के द्वारा होता है। धातुओं के क्षरण के कारण ही (उनसे मिलने वाली ऊर्जा से ही) सभी शरीर क्रिया व्यापार, सभी हलचलें (गतियाँ/गतिविधियाँ) होती हैं। गति यह वात

का ही कार्य है। संक्षेपतः, अन्न का धातुओं के माध्यम के द्वारा दूर जाने वाला (विलुप्त / नष्ट होने वाला) यह घटक 'अन्नमल वात' इस संज्ञा से जाना जाता है।

त्रिदोष - गुण

वात, पित्त एवं कफ के कार्य समझने के लिए प्रत्येक के गुण समझना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्यों कि गुणों के अनुसारही कार्य होता है। दोषों के गुण अर्थात् 'विंशति गुर्वादि गुण'। ये २० गुण केवल भौतिक स्वरुप के (Physical) ही नहीं होते बल्कि मुख्यतः कार्मुक स्वरुप (Functional or of Biochemical type) के होते हैं।

उदा. कफ गुरु गुण का है, अर्थात केवल वजन में भारी, यह अर्थ अभिप्रेत नहीं, बल्कि शरीर का बृंहण (वृद्धी) करने में समर्थ घटक यह अर्थ अभिप्रेत है।

विंशति - गुर्वादि गुण कौनसे ?

गुरु - मन्द - हिम - स्निग्ध - श्लक्ष्ण - सान्द्र - मृदु- स्थिरः।

गुणाः ससूक्ष्म विशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ ... अ. ह. सू. १/१८

उपरोक्त श्लोक में उल्लेखित १० गुण और उनके विरोधी (सविपर्यय) १० गुण ये विंशति (२०) गुण हैं।

'हेमाद्री' ने 'आयुर्वेद रसायन' टीका के द्वारा २० में से प्रत्येक गुण का कार्य अथवा व्याख्या स्पष्ट की है।

	गुण	विपर्यय
१	गुरु = द्रव्यस्य बृंहणे कर्मणि शक्तिः। (उदा.- माष)	लघु = लङ्घने लघुः। (उदा.- मुद्ग, लाजा)
२	मन्द = शमने मन्दः। (उदा.- घृत)	तीक्ष्ण = शोधने तीक्ष्णः। (उदा.- पिप्पली)
३	हिम = स्तम्भने हिमः। (उदा.- चंदन)	उष्ण = स्वेदने उष्णः। (उदा.- मरिच)
४	स्निग्ध = क्लेदने स्निग्धः। (उदा.- घृत)	रुक्ष = शोषणे रुक्षः। (उदा.- यव)

५	श्लक्ष्ण = रोपणे श्लक्ष्णः। (उदा.- दुग्धपाषाण)	खर = लेखने खरः। (उदा.- करंज)
६	सान्द्र = प्रसादेन सान्द्रः। (उदा.- मलई)	द्रव = विलोडने द्रवः। (उदा.- जल)
७	मृदु = श्लथने मृदुः। (उदा.- सैन्धव लवण)	कठिन = दृढने कठिनः। (उदा.- प्रवाल)
८	स्थिर = धारणे स्थिरः। (उदा.- जातिफल)	चल = प्रेरणे चलः। (उदा.- वात)
९	सूक्ष्म = विवरणे सूक्ष्मः। (उदा.- मध)	स्थूल = संवरणे स्थूलः। (उदा.- दधि)
१०	विशद = क्षालने विशदः। (उदा.- गुग्गुलु)	पिच्छिल =लेपने पिच्छिलः। (उदा.- इसबगोल)

गुणों के शरीर पर होने वाले परिणाम के अनुसार उपरोक्त व्याख्याएँ की गई है। एक किलो मूँग की दाल और एक किलो उड़द की दाल ये दोनों वजन की दृष्टी से समान हैं, किन्तु मूँग (मुद्ग) लघु है, और उडद गुरु है। इसलिए अग्नि सम्यक् रखकर वजन बढ़ाना हो तो उडद लाभदायी है। परंतु पंचकर्म के पश्चात् मंद हुए अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए मुद्गयुष ही (मूँग का उबाला पानी) हितकर है। कोल्ड कॉफी स्पर्श में शीत होती है, लेकिन कॅफीन के अतिरिक्त सेवन के परिणामस्वरुप कोल्ड कॉफी भी उष्ण गुण की होती है।

त्रिदोष – कार्य

इस विषय में विस्तृत अध्ययन अगले प्रकरण में किया जाएगा।

त्रिदोष मुख्यतः दो प्रकार के कार्य करते हैं।

सर्व शरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्मणः सर्वम् अस्मिन् शरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वान्ति – प्रकृतिभूता शुभानि उपचय बल वर्ण प्रसाद आदिनि, अशुभानि प्रकृतिविकृतिम् आपन्ना विकारसंज्ञकानि ॥ ...च. सू. २०।९

अर्थ – संपूर्ण शरीर में संचरण करने वाले वात, पित्त तथा कफ शरीर के किसी अवयव में कुपित होने पर अशुभ होते हैं और प्रकृति (सम) होने पर शुभ होते हैं। जैसे - जब वातादि दोष (समावस्था में) प्रकृतिस्थ होते हैं, तब वे शुभ लक्षण; उपचय (अंग - प्रत्यांगों की पुष्टी), बल, वर्ण, प्रसन्नता आदि; उत्पन्न करते हैं और जब उपरोक्त दोष विकृत होते हैं (विषमावस्था) तब अशुभ लक्षणों को, किसी ना किसी व्याधीरुप में, प्रकट करते हैं।

दोष – स्थान

दोष **सर्व शरीर व्यापक** होते हैं। शरीर में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ दोष आश्रय नहीं करते। किसी भी स्थान में जब क्षय, वृद्धी अथवा विकृत अवस्था उत्पन्न होती है, तो वह दोषों के ही कारण। अतः सूक्ष्म अलक्ष्य स्त्रोतस भी दोषों का स्थान है। शरीर के षडंगादि विभाग और स्त्रोतस, धातु अवयवादि विभाग यह स्थूल शरीर है। परंतु स्थूल अंग, स्त्रोतस जिनसे बने हैं वे असंख्य परमाणु हैं। सूक्ष्म अवयवों तक दोषों की गति मानी जाती है। इस प्रकार परमाणुरुप सूक्ष्म अवयव भी दोषों का अधिष्ठान होते हैं। इसका ज्ञान अनुमान और आप्तोपदेश के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है।

ते व्यापिनो अपि हन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥ ...अ.हृ.सू. १/७

अर्थ – वे (दोष) सर्व शरीरव्यापी होते हैं, तथापि उनके मुख्य स्थान तीन हैं। नाभी का निचला भाग वायु का मुख्य स्थान है। नाभि और हृदय के दरम्यान का प्रदेश पित्त का मुख्य स्थान है। हृदय के ऊपर का भाग कफ का मुख्य स्थान है।

सर्व देहव्यापित्वे अपि यो यास्मिन् अधिवचेन वर्तते तत् तस्य स्थानम्।

...हेमाद्रि टीका

'दोष सर्वव्यापी हैं' इस वर्णन के साथही दोषों के कुछ स्थान वर्णन करना, यह सकृत दर्शन में विरोधाभास लग सकता है। किन्तु ऐसा विचार असंयुक्तिक होगा। सामान्य रुप से दोष सर्व देह व्यापक होते हैं। तथापि अविकृत स्थिती में दोषों का विशिष्ट स्थान, अंगअवयवों से विशेष संबंध होता है। **व्यापकत्व** तथा **विशिष्ट स्थानाश्रितत्व** ये दोनों भी एकही समय दोषों के विषय में देखे जाते हैं। जैसे प्रकाश का मूल आश्रय सूर्य है, परंतु वहाँ से सर्वत्र फैलकर वह समस्त सृष्टी को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वातादि दोष तद्-तद् स्थान स्व-स्व कर्म से अनुगृहित करते हैं।

सुश्रुत ने विशिष्ट स्थानों से होने वाला दोषों का संबंध स्पष्ट करते हुए कहा है -

एतानि खलु दोषाणां स्थानानि अव्यापन्नानाम् ।

अर्थात्, दोष अविकृतावस्था में ही यहाँ रहते हैं । विकृत अवस्था में दोषों का उन्मार्गगमन होता है ।

एतानि खलु दोष स्थानानि - एषु संक्षीयन्ते दोषाः ।

दोषों का जब संचय होता है, तब इसी स्थान में प्रथम वृद्धी होती है । चक्रपाणि ने इन स्थानों का महत्त्व बताते हुए कहा है -

१) विशिष्ट दोषजन्य विकार प्रायः इसी स्थान में होते हैं ।

२) दूसरा महत्त्व यह है कि इस स्थान में होने वाले विशिष्ट दोषजन्य विकार अधिक कष्टसाध्य होते हैं ।

३) तीसरा महत्त्व यह है कि इस स्थान में दोषों को शांत करने पर शरीर के अन्य अंगों के विकार भी शांत होते हैं । इस प्रकार इन स्थानों का महत्त्व 'वृक्ष के मूल के समान' है ।

विशिष्ट स्थानों के वर्णन का प्रयोजन

१) विकारोत्पत्ती में प्राथमिकता ।

२) मूलाच्छेद द्वारा चिकित्सा सफलता शोधन का प्रभाव ।

सुश्रुतोक्त स्थान विचार

- **दोषस्थानानि अत उर्ध्वं वक्ष्यामः तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः, तदुपर्यधो नाभेः पक्वाशयः, पक्वआमाशयमध्यं पित्तस्यः, आमाशयः श्लेष्मणः ॥**

... सु. सू. २१/६

- **समासेन = संक्षेपेणः । श्रोणिः कटिः ।**

यत्र अशितपिशितादिकं पच्यते स आमाशयः । **... डल्हण**

आश्रयाश्रयीसंबंध (दोष – धातु संबंध)

संघटन, गुण, कर्म, साधर्म्य के अनुसार दोष-धातु का संबंध प्रस्थापित किया गया है ।

	दोष (आश्रयी)	धातु मल (आश्रय)
१	वात	अस्थि
२	पित्त	रक्त, स्वेद
३	कफ	रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष

- **तत्रास्थनि स्थितो वायुः, पित्तं तु स्वेदरक्तयोः ।**

श्लेष्मा शेषेषु, तेन एषम् आश्रयाश्रयिणां अथः ॥

यदेकस्य तत् अन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम् । अस्थिमारुतयोर्नैवं ।

... अ. हृ. सू. ११/२६, २७

- **दूष्याणां वृद्धिक्षय हेत्वादि विज्ञानार्थं दोष दुष्ययोः आश्रयाश्रयि भावम् आह तत्र इति ।** **... हेमाद्रि टीका**

धातु, मल बिगड़ने का कारण समझने के लिए यह संबंध उपयोगी होता है ।

इस संबंध का सर्वसाधारण नियम

१) आश्रयी ↑ आश्रय ↑

पित्त ↑ रक्त ↑, स्वेद ↑

कफ ↑ मेद ↑, शुक्र ↑

२) आश्रयी ↓ आश्रय ↓

पित्त ↓ रक्त ↓, स्वेद ↓

कफ ↓ मेद ↓

संक्षेपतः अति तीखे, उष्ण पदार्थ के कारण पित्त प्रकोप होने पर रक्त भी दुष्ट (वृद्ध) होता है । सारिवा, चंदन जैसी पित्तघ्न चिकित्सा करने पर आपने आप रक्तवृद्धी (दुष्टी) कम होती है ।

इस नियम को अपवाद

वात ↑ अस्थि ↓

वात ↓ अस्थि ↑

लंघन करने से वातवृद्धी होगी, किन्तु अस्थि का क्षय होगा ।

दोषों के कार्य का अध्ययन करते हुए, मुख्यतः किस धातु तथा मल को अधिक महत्व देना चाहिए यह आश्रयाश्रयी संबंध से समझ में आता है। अर्थात् कफ के स्थिरता, पुष्टी ये कार्य सुव्यवस्थित हैं या नहीं यह सुनिश्चित करने के लिए मांस, मेद का लेपन, आवरण, आच्छादन यथास्थित है या नहीं यह प्रथमतः देखा जाता है।

साधर्म्य कौनसे ?

कफ का पार्थिव जलीय तत्व ही रस, मांस, मेद आदि में अधिकतर होता है, साथही दोनों में भी (आश्रयी-आश्रय) स्निग्धं, गुरु, पिच्छिल, सान्द्र गुण समान होते हैं। पित्त के आग्नेय तत्व और द्रव, उष्ण, तीक्ष्ण गुण रक्त में भी होते हैं। वात और अस्थि में रुक्ष, परुषता इन गुणों में साधर्म्य है। इस आश्रयाश्रयी संबंध का उपयोग क्षपण, वर्धन चिकित्सा के लिए होता है, यह पहले ही बताया गया है।

दोष – प्रकार

दोषों की संख्या तीन ही क्यौं बताई है ?

१) प्रकृति आरंभकत्व एवं दूषण स्वभाव प्रदर्शित करने वाले तीनों घटक शरीर में होते हैं।

२) सृष्टी अथवा शरीर के सभी कार्यों का वर्गीकरण विसर्ग, आदान, विक्षेप इन तीन ही प्रकारों में किया जा सकता है। इसलिए सृष्टी में उपस्थित सोम, सूर्य, अनिल इनके समान शरीर में भी कफ, वात, पित्त यही तीन घटक मुख्यतः शरीर धारणा का काम करते हैं।

३) **सर्वम् इदं पांचभौतिकम्।**

यह सत्य है, परंतु सर्व शरीरव्याप्त होकर, बिगाड़ उत्पन्न करने में समर्थ जल, तेज एवं वायु ये तीन ही महाभूत शरीर में होते हैं।

(परंतु स्वास्थ्य बिगाड़ने में पृथ्वी, आकाश, महाभूत का प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष संबंध आता ही है।)

दोष – उपप्रकार

चरकाचार्य ने – केवल वात के पाँच प्रकार बताएं हैं।

सुश्रुताचार्य ने – वात एवं पित्त इस प्रत्यके के पाँच प्रकार बताएं हैं।

वाग्भटाचार्य ने – वात, पित्त एवं कफ इन तीनों दोषों के पाँच प्रकार बताएं हैं।

सुश्रुताचार्य के अनुसार नाम, स्थान, कर्म भेद से ये प्रकार होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, पंचमहाभूतों से इन पाँच-पाँच प्रकारों का साधर्म्य होता है।

त्रिगुण त्रिदोषाणां पारस्पारिक संबंध

- **सर्वम् इदं पांचभौतिकम् अस्मिन् अर्थे।**

प्रत्येक पदार्थ का संघटन पांचभौतिक होता है। परंतु इन पदार्थों की निर्मिती **त्रिगुण** के कारण होती है।

- **सत्वं प्रकाशकं विद्धु रजश्चापि प्रवर्तकम्।**

  तमो नियामकं प्रोक्तं अन्योन्यमिथुन प्रियम्॥ **... काश्यप सं. सू.**

किसी वस्तु के निर्माण में तीन महत्वपूर्ण स्तर होते हैं। जैसे -

१) निर्माण की कल्पना ..... सत्व

२) प्रत्यक्ष निर्माण प्रक्रिया ..... रज

३) विशिष्ठ कालावधी के पश्चात उस प्रक्रिया की समाप्ति ..... तम

जिज्ञासा, प्रेरणा एवं प्रेरणा की निवृत्ती ये सत्त्व, रज, तम के द्वारा स्पष्ट होते हैं। इस पृथ्वी पर उपस्थित प्रत्येक पदार्थ पांचभौतिक होने के साथही त्रिगुणात्मक भी है।

सत्व रज तमश्चेति त्रयो प्रोक्ता महागुणाः।

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

पवनः रजो गुणमयः, पित्तं सत्वगुणोत्तरान्, कफः तमोगुणाधिकः।

... शार्ङ्गधर पू. ख. अ. ५

सत्वगुणी पित्त – प्रकाशक, ज्ञानप्रवर्तक, तेज प्रधानता ये एकदूसरे में होने वाले साधर्म्यस्थल।

रज सदृश वात – रज और वात ये दोनों घटक मुख्यतः हलचल (गतिविधि), प्रेरणा के लिए जिम्मेदार होते हैं।

तम स्वभावी कफ – तम के समान ही कफ जडत्व, स्थिरत्व प्रदान करनेवाला, आवरक स्वरुप का घटक है। यह गति नियमन का कार्य करता है।

प्राकृत के पश्चात् विकृती

अब तक के वर्णन के अनुसार, दोष के संदर्भ में

१) नाम, निरुक्ती, पर्याय, २) स्वरुप, संघटन,

३) गुण, ४) व्याख्या,

५) स्थान, ६) कार्य,

७) उपप्रकार

आदि के विषय में प्राकृत विवेचन के अध्ययन के पश्चात दोषों की

८) वृद्धी एवं ९) क्षय

इन विकृतीवाचक मुद्दों का, प्रत्येक दोष के अनुसार अध्ययन किया जाएगा। इन विकृत लक्षणों के अध्ययन से स्वरुप समझने का महत्त्व अधोरेखित होता है।

दोष में विकृती उत्पन्न होने के कारण

दोष में विकृति उत्पन्न होने के कारण सामान्य विशेष सिद्धांत के द्वारा स्पष्ट किए जा सकते है। जैसे अत्यंत रुक्ष, सूखे अथवा शीत स्वरुप के पदार्थ नित्य सेवन करने से वातवृद्धी होगी और अति लंघन (उपवास) के कारण कफक्षय होगा।

दोष विकृति (प्रकार)

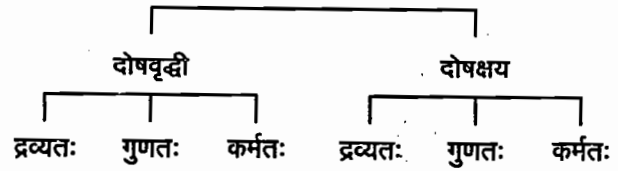

इसकी चिकित्सा भी सामान्य विशेष सिद्धान्त के द्वारा की जाती है।

उदा. दाह, जलन आदि स्वरुप की पित्तवृद्धी होने पर विशेष अर्थात् विरोधी गुण युक्त शीत दुग्ध प्राशन कराएँ।

त्रिदोष के विषय में कुछ अधिक

१) दोषों की नैसर्गिक वृद्धी-क्षय का चक्र (Physiological Variation)

वयाहोरात्रिभुक्तानां ते अन्तमध्यादिगाः क्रमात्। ... अ. हृ. सु. १/८

	दोष/स्थिती	कफ (आदि)	पित्त (मध्य)	वात (अंत)
१	वय	बाल	मध्यवय (यौवनावस्था)	वृद्धावस्था
२	दिन	सुबह ६ से १०	दोपहर १० से २	दोपहर २ से ६
३	रात्र	शाम ६ से १०	शाम १० से सुबह २	सुबह २ से ६
४	जेवण	भोजन के पश्चात ठीक डेढ घंटा	भोजन के पश्चात डेढ से ३ घंटे	भोजन के पश्चात ३ से ४ घंटे

व्यावहारिक उपयुक्तता

१) 'ब्राह्मे मुहुर्ते उत्तिष्ठेत' यह शास्त्रादेश किस लिए ?

सुबह २ से ६ इस काल में वात का मलमूत्र उत्सर्जन कार्य सुलभता से होता है, तथा वात की प्रेरणा से ब्रह्मज्ञान प्राप्ती के लिए प्रेरणा मिलती है।

२) दोपहर में १२ बजे पित्त का काल होता है, अतः इस काल में भोजन करना उचित है।

३) कफाधिक्य के कारण केवल बाल्यावस्था ही शरीर की वृद्धी का काल है।

४) भोजन के पश्चात् सुस्ती का अनुभव, यह कफाधिक्य का परिणाम है।

२) प्राकृत एवं वैकृत दोष

समविध प्रकृती निर्माण में जिम्मेदार बीजभूत, दोष अर्थात् प्राकृत दोष।

जन्म के उपरान्त, अन्नमल-वात, रक्तमल-पित्त, रसमल-कफ इस स्वरुप में जो दोष निर्माण होते हैं, उन्हे वैकृत दोष कहते है।

(काल के अनुसार, संबंधित व्यक्ति की जरुरत के अनुसार अल्प/अधिक मात्रा में निर्माण होते हैं। प्रकूपित होनेपर दूसरों को बिगाड़ते हैं।)

तथा केचित् आहुः द्विविधा वातादयः प्राकृता वैकृताश्च। तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृते हेतुभूताः शरीरैक जन्मानः। ते शरीरधारणाद् धातु संज्ञाः। दोषाख्यानां विकृनाम् बीजभूताः। मुमूर्षोः स्वरुपाच्यलन्ति।

सर्वेषु अपि च देहे संनिहितेषु प्रकृत्युल्बणत्वेन व्यपदेशः। वैकृतास्तु गर्भादभिनिः सृतस्य आहारस्य मलाः संभवंती। प्राकृतेषु अवरोहन्ति। ते कालादिवशेन स्वप्रमाण वृद्धिक्षयोगाद् देहम् अनुगृष्टन्ति दूषयन्ति च।

... अ. सं. शा. ८/६ - १२

३) दोषाणां विकार कर्तृत्वं व्याधिजनकत्वं च।

प्रकूपित अवस्था में धातु मलों को बिगाड़ने वाले घटकों को दोष कहते है।

दूषयन्ति इति दोषः।

शरीर में उपस्थित दोष, धातु, मल इन तीन मूलभूत घटकों का विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि व्याधिजनकत्व अथवा विकार प्रारम्भकत्व वातादि दोषों में ही होता है।

वैषम्यवस्था दोष, धातु, मल इन तीनों में भी उत्पन्न होती है, तथापि कर्ता (व्याधि निर्माण प्रक्रिया की शुरुआत को जिम्मेदार घटक) दोष ही होते हैं।

अतः दोष क्या है ? यह स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि,

प्रकृत्यार भकत्व सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।

जो प्रकृती का निर्माण अथवा प्रारंभ कर सकता है, वही विकृती का प्रारंभ अथवा निर्माण कर सकता है।

दोषाः वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीररोपकाराकाः भवन्ति, विकृतिम् आपन्नास्तु खलु नानाविधर्विकारैः शरीरम् उपतापयन्ति॥ ... च. वि. १/५

इस श्लोक में उल्लेखित **प्रकृतिभूतदोष** एवं **विकृतिमापन्नदोष** इन शब्दों के लिए सूत्रस्थान में **दोषसाम्य** एवं **दोषवैषम्य** इन शब्दों का उपयोग किया गया है। वाग्भट के अनुसार,

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।

शरीरोपकाराकाः

जब दोष शरीर उपकारक होते हैं, तब उन्हें धातु कहते है।

'उपतापयन्ति क्रिया' इसका अर्थ है - ज्वरादि रोग उत्पन्न कर पीड़ित करना।

प्राकृत अवस्था में भी दोषों की अत्यल्प वृद्धि अथवा क्षय प्रक्रिया युगपत चलती ही रहती है। किन्तु जब क्षय अथवा वृद्धी अपनी प्राकृत मर्यादाओं का उल्लंघन करते है, तब रोग उत्पन्न होता है।

प्रकूपित दोष जब धातु अथवा मलों पर (दूष्य पर) हमला करते हैं, तब व्याधि उत्पन्न होती है।

दोष - दूष्य संमर्च्छना जनितो व्याधिः।

इन प्रकूपित दोषों में विभिन्न प्रकार की गति दिखाई देती है।

दोषगति

- **क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः।**
  उर्ध्वं च अधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधा परा॥
  त्रिविधा च अपरा कोष्ठ शाखामर्म अस्थिसंधिषु च।
  इत्यक्ता विधिभेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः॥ ... च. सू. १७/११३
- **गतिः कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते।**
  गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती च या॥ ...च.सू.१७/११५

स्वस्थ पुरुष में होने वाली गति = प्राकृति

रुग्ण में होने वाली गति = वैकृति

दोष विकार कहाँ उत्पन्न करते हैं ?

कृत्स्ने अर्धे अवयवे वा अपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत्तत्र वर्षति।
नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति॥
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति॥ ... सु.सू.२१/२९,३०

अर्थ - सर्व शरीर में, शरीर के अंशतः भाग में अथवा किसी एक अवयव में, जिस स्थान में दोष का अत्यधिक प्रकोप होगा, उस जगह जिस प्रकार मेघ आकाश से जलवर्षा करते हैं, उसी प्रकार वे विकार उत्पन्न करते हैं।

यदि कोई दोष अत्यंत प्रकुपित न हुआ हो तो वह मार्ग में ही लीन होकर (घात लगा कर) रहता है। इस स्थिति में भी यदि उसका प्रतिकार न किया गया तो वह थोडेसे निमित्त (कारण) से भी बढ़ जाता है।

४) रस – दोष संबंध

तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति, त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥ ... अ. हृ. सू. १/१५, १६

दोष	वृद्धी	क्षय
वात	कटु, तिक्त, कषाय	मधुर, अम्ल, लवण
पित्त	कटु, अम्ल, लवण	मधुर, तिक्त, कषाय
कफ	मधुर, अम्ल, लवण	कटु, तिक्त, कषाय

५) त्रिदोषों का अध्ययन किस लिये ?

१) शरीर स्वास्थ्य रक्षणार्थ

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभव हेतवः॥ ... सु. सू

देह की उत्पत्ती के लिये जिम्मेदार घटकों की जानकारी महत्वपूर्ण होती है, क्यों कि ये घटक प्रकृतीनिर्माण को कारण होने के साथही प्रकूपित अवस्था में शरीर बिगाड़ने के लिए भी कारण होते हैं।

प्रकृत्यारंभकत्वे सति दुष्टिकर्तुत्वं दोषत्वम्॥ ... मधुकोष

त्रिदोषों के प्राकृत गुण, कर्म समझने पर उनके स्वास्थ्य की रक्षा करना आसान हो जाएगा, जैसे प्रकृती के अनुसार दी जाने वाली सलाह, जीवनपद्धती के विषय में दी जाने वाली सलाह आदि।

२) व्याधिपरिमोक्षार्थ

दोषों के प्राकृत गुण, कर्म समझने पर विकृती किस प्रकार उत्पन्न हुई है यह आसानी से समझ में आ सकता है, क्यों कि, **रोगस्तु दोषवैषम्यम्।**

व्याधि के महत्त्वपूर्ण लक्षणों का स्पष्ट कारण ग्रंथ में उल्लेखित है।

वाताद्दते नास्ति रुजा, न पाकः पित्तद्दते, नास्ति कफात् च पूयः॥
... सु. सू. १७/७

संक्षेपतः, त्रिदोषों के प्राकृत अध्ययन से विकृती समझना आसान हो जाता है तथा चिकित्सा यशस्वी हो सकती है।

धातु साम्यक्रिया योक्ता तन्मस्यास्य प्रमोजनम्। ... चरक

यहाँ 'धातु' इस शद्ब से दोष भी अभिप्रेत हैं।

प्रकरण ६

वात दोष

शरीर में होने वाली किसी भी प्रकार की गतिविधियों को जिम्मेदार घटक त्रिदोषों में वात दोष का विशेष महत्त्व है।

पित्तं पंगुः कफ पंगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥ ...अ. ह. सू.

शरीर में उपस्थित पित्त एवं कफ ये घटक, धातु एवं मल स्वतंत्र रुप से कार्य करने की दृष्टी से दुर्बल, असमर्थ (पंगु) होते हैं। इस प्रत्येक के कार्य के लिए वातदोष से प्राप्त होने वाली प्रेरणा आवश्यक होती है। सृष्टी में भी इसी का प्रत्यय आता है। वायु जिस स्थान पर बहा ले जाए, मेघ वहीं बरसते हैं।

१) वात शब्द – निरुक्ती

तत्र वा गतिगन्धनयोरिति धातुः। ... सु. सू. २/५

गति गन्धोपादानार्थस्य वा धातोः त प्रत्यये वात इति रुपम्। ...च.शा.७/१५

'वा' धातु गति (हलचल/गतिविधि) अथवा गंधन (उत्साह) इस कार्य से संबंधित है, यह निरुक्ती के द्वारा स्पष्ट होता है। इस प्रकार संयोग अथवा वियोग किसी भी घटना के लिए वातदोष जिम्मेदार है, यह स्पष्ट होता है।

२) वात शब्द – पर्याय

मरुत, चलः, अनिलः, समीरणः, पवनः ये सभी वात के पर्यायी नाम हैं, जो गतिविधि सूचित करते हैं।

३) वात दोष – स्वरुप एवं संगठन

वाय्वाकाशभूताभ्याम् वायुः। ... अ. सं. सू. २०/१

संगठन

वातदोष पांचभौतिक संगठन युक्त होता है, तथापि इसमे वायु तथा आकाश महाभूत का अधिक्य होता है।

स्वरुप

अव्यक्तः व्यक्तकर्मा च।

वातदोष लंबाई, चौड़ाई, गहराई इस स्वरुप में व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह अव्यक्त है। कार्य की अनुभूति से ही वह व्यक्त होता है, उसके अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। इस विषय में विद्युत शक्ती का उदाहरण समर्पक होगा।

बिजली को प्रत्यक्ष रुप में देखा नहीं जा सकता, परंतु उसके द्वारा होने वाले - प्रकाश प्रगटन, सुदूर स्थान पर उत्पन्न ध्वनी का ग्रहण, छायाचित्रों का दर्शन, भिन्न यंत्रों के कार्य इनसे बिजली की अनुभूति होती है।

४) वात दोष – गुण

तत्र रुक्षो लघुः शीतः खरः सुक्ष्माश्चलो ऽनिलः। ... वा. सू.

वात के कार्य का यथायोग्य ज्ञान होने के लिए 'गुण' समझना आवश्यक है। वात का हर एक गुण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षतः 'हलचल (गतिविधि)' इस कार्य में सहायता करता है।

- **रुक्ष**

शोषणे रुक्षः।

इसका अर्थ है रुखापन। यह स्निग्धता के विरोधी गुण है। स्निग्ध गुण के कारण परमाणुओं का संयोग होने में सहायता होती है। इसके विपरीत, रुक्ष गुण के कारण वियोग होने में मदद होती है। रुक्ष गुण में शोषण का सामर्थ्य होता है (शोषणे रुक्षः) अतः अणुपरमाणुओं का संयोग टूटकर (बिखरकर) वियोजन में सहायता होती है।

'विशिष्ट काल और दोषाधिक्य' के अनुसार वार्धक्य में वातदोष का अधिक्य होता है, ऐसा विवेचन आयुर्वेद ने किया है। इसीलिए वार्धक्यावस्था में वात के कारण शरीर की रुक्षता बढ़ जाती है। जोडों से आवाज आना, त्वचा पर झिल्लीयाँ पडना, हाथ-पैर के तलों में दरारें उत्पन्न होना आदि उपद्रव दिखाई देते हैं। ये सब रुक्ष गुण के कारण ही होता है, यह समझने पर स्निग्ध गुण का उपयोग करने की प्रतिबंधात्मक अथवा उपचारात्मक सलाह दी जा सकती है।

वार्धक्यावस्था में दिन में कम-से-कम दो बार शरीर को कोष्ण नारियल तेल से हल्के हाथ से मालिश करनी चाहिए। रात में सोते समय दो चम्मच घी और एक कप

कोष्ण दूध पीना चाहिए। इस प्रकार की सलाह 'रूक्ष गुण विरोधी चिकित्सा' इस स्वरुप में दी जाती है।

- **लघुः**

  लंघने लघु।

लघु गुण के कारण शरीर को लाघव प्राप्त होता है। वातदोष में रुक्षता के कारण लाघव उत्पन्न होता है।

गतिविधियों का सामर्थ्य बढ़ता है। लंघन (उपवास) से शरीर में लघु गुण की वृद्धी होती है, साथ ही व्यायाम से भी शरीर को लाघव प्राप्त होता है।

लघु गुण के विरोधी गुण है 'गुरु'। स्थूल व्यक्तियों में गुरु गुण की अधिकता के कारण उनकी शारीरिक गतिविधियाँ धीमी होती हैं। अतः स्थूल व्यक्तियों में लघु गुण बढ़ाने के लिए व्यायाम करने की और पाचन की दृष्टीसे हल्के पदार्थ खाने की (उदा. गरम पानी, जवार, बाजरे की रोटी) सलाह दी जाती है।

- **शीत**

  स्तम्भने शीतः।

शीत गुण से स्तंभन क्रिया होती है।

स्तंभन का अर्थ है - अवरोधित करना अथवा रोक कर रखना। सकृत दृष्टी से शीत गुण वात की गतिविधि इस क्रिया के विरोधी होने का आभास होता है। तथापि उसके कारण गतिविधि इस कार्य को अप्रत्यक्षतः सहायता ही होती है शीत गुण से वात की गतिविधियाँ योग्य दिशा में सुनियंत्रित स्वरुप से होती हैं। उदा. शीत वातावरण में स्वेदप्रवृत्ती कम होती है, रोमरंध्र बंद हो जाते हैं, स्वेद मार्ग का आकुंचन होता है। यह वात के शीत गुण के कारण होता है। इससे शीत वातावरण में शरीरांतर्गत उष्णता बनी रहने में सहायता होती है।

- **खरः**

  लेखने खरः।

जिसके कारण लेखन (खुरचना) की प्रक्रिया होती है, वह खर गुण।

शरीर के किसी एक परमाणु को दूसरे से अलग करने का कार्य वात के खर गुण

से होता है। स्थूल व्यक्तिओं में विकृत मेद संचिती कम करने के लिए खर गुणधर्म युक्त त्रिफला गुग्गुल जैसे औषध उपयोग में लाएं जाते हैं।

यद्यपि रुक्ष एवं खर गुण सूखापन इस अर्थ से समान हैं, तथापि निरीक्षण की दृष्टी से भिन्न हैं। रुक्षता की अनुभूति आँखों से होती है तो खरता की स्पर्श से।

- **सूक्ष्म**

  विवरणे सूक्ष्मः।

इस गुण में विवरण कर तथा रिक्त स्थान निर्माण कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटकों तक पहुँचने का सामर्थ्य होता है। शरीर में वात के कार्य सम्पन्न होने के लिए, वातदोष शरीर में स्थित सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटकों तक पहुँचने में सहायता होती है।

- **चल**

  प्रेरणे चलः।

प्रेरणा अथवा उत्तेजना देने वाला गुण। वातदोष में गतिविधि की प्रेरणा इसी चल गुण के कारण निर्माण होती है। उदा. कफ, पित्त इन्हे अपना कार्य करने की प्रेरणा वात दोष से मिलती है। आमाशय तथा पक्वाशय के अवयवों को गति प्राप्त होती है।

आयुर्वेदीय ग्रंथ की टीका में उल्लेखित वातदोष के गुण

टिप्पणि – टीका का अर्थ है - ग्रंथोक्त मूल सूत्रों का गर्भित अर्थ अधिक सुस्पष्ट स्वरूप से समझने के लिए किया गया भाष्य।

१) योगवाही

योग अर्थात सम्मीलन होना

वाही अर्थात बहाने वाला

योगवाही पदार्थ

जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के साथ मिश्रित करने पर उसे दूसरे पदार्थ के गुणधर्मों का अपने साथ वहन करता है (खुद के गुणधर्म बदले बगैर), उसे योगवाही पदार्थ कहते है। योगवाही पदार्थ की सहायता से वहन सत्वर एवं सुयोग्य प्रकार से होता है।

वायु शीत गुण युक्त होता है। साथही वह योगवाही है। अर्थात् जब वायु कफ के साथ होता है, तब मुख्यतः कफ के शीत गुण का वहन करता है और पित्त के साथ उसका संसर्ग होने पर वह उष्ण गुण प्रबल हो जाता है।

योगवाहः परं वायुः संयोगात् उभयार्थकृत।
दाहकृत तेजसा युक्तः शीतकृत सोमसंश्रयात्॥ ... च. चि. ३

आयुर्वेद के अनुसार, मधु उत्तम योगवाही है, अतः अनेक औषधीयाँ मधु के साथ दी जाती हैं।

२) विशद

यस्य क्षालने शक्तिः स विशदः।

विशद का अर्थ है - साफसुथरा (निर्मल)। वात में उपस्थित रुक्ष गुण के कारण किसी स्थान में उत्पन्न मलभाग निष्कासित करने का सामर्थ्य उसे प्राप्त होता है और इससे निर्मलता प्राप्त होती है।

३) दारुण

यह क्लेद का शोषण करने वाली द्रव्यशक्ति है।

यह 'विशद' स्थिति की उन्नत अवस्था है। तीव्र स्वरुप के रुक्ष गुण के कारण किसी विशिष्ठ भाग में काठिन्य उत्पन्न होता है।

४) रजो बहुल

पवनः रजोगुणामयः। ... शां.सं.पू.खं.५

किसी भी पदार्थ की निर्मिती के लिए पंचमहाभूतों के साथ ही सत्त्व, रज एवं तम इन तीन परम गुणों की भी आवश्यकता होती है। इनमें से सत्त्व गुण क्रियाप्रवर्तक, रज गुण क्रियादर्शक और तम गुण क्रियानियंत्रक होता है। ये तीनों गुण हर एक पदार्थ की निर्मिती में शामिल होने पर भी 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से वात यह रजोगुण का अधिक्य होने वाला दोष है। रजोगुण गति से संबंधित है।

वात के विशेष गुण (सुश्रुतोक्त)

तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणाम् नेता रोगसमूहराट्॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः। ... सु.नि. १/८,९

१) **तीर्यक** – वात की तीर्यक: (तिरछी) गति बताई गई है। अग्नि की ऊर्ध्व और जल की अधोगति परिचित है। वस्तुतः वात के कार्य सभी दिशाओं में दृग्गोचर होते हैं।

२) **द्विगुण** – वायु और आकाश महाभूतों से वातदोष का संघटन होता है। अतः वातदोष स्पर्श और शद्ध गुणों से युक्त होता है।

३) **अचिंत्य वीर्य** – वीर्य का अर्थ है - कार्यशक्ती। वातदोष के कार्य इतने अनेकविध प्रकार के होते हैं कि उनके कार्यशक्ती का, सामर्थ्य का अनुमान ही नहीं हो सकता (अथवा कल्पना भी नहीं की जा सकती - अचिंत्य वीर्य)। इससे वातदोष के कार्य की महानता दिखाई देती है।

४) **दोषाणां नेता** – अन्य दोष एवं मल के कार्य की तुलना में वातदोष का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः वह सर्वश्रेष्ठ (अर्थात् 'दोषाणां नेता') है यह स्पष्ट होता है।

५) **रोगसमुहराट** – त्रिदोष स्वास्थ्य बनाएं रखने के लिए, और साथही व्याधि निर्माण करने के लिए भी कारण स्वरुप होते हैं। इनमें से कफ, पित्त के कारण निर्मित व्याधिओं की तुलना में वातदोष के कारण निर्माण होने वाले व्याधिओं की संख्या अधिक है। अतः 'रोगसमुहराट' यह वातदोष का और एक वैशिष्ट्य बताया है।

६) **आशुकारी** – आशु का अर्थ है - अति जलद, सत्वर। वातदोष अत्यधिक वेग से कार्य करता है, इसीलिए उसे आशुकारी कहा गया है।

७) **मुहुःश्चारि** – मुहुः मुहुः चारी (रुक-रुक कर चलना/घटना)। वातदोष के कार्य थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद होते हैं अतः व्याधिओं में भी लक्षणों की तीव्रता अल्प-अधिक होती हुई दिखती है। उदा. शूल - पेट में दर्द अथवा अपस्मार (फेफरे आना)। व्याधि में लक्षणों की गति बढ़ना तथा कम होना इसे क्रमशः व्याधि की वेगावस्था एवं अवेगावस्था कहते है।

८) **अव्यक्तः व्यक्त कर्माच** – जिसकी लंबाई, चौड़ाई, गहराई आदि गुणों का ज्ञान (केवल दर्शन से) नहीं होता, उसे अव्यक्त कहते है। वातदोष अव्यक्त है। उसके अस्तित्व की अनुभूति उसके कार्य से होती है। यह स्पष्ट करने के लिए **बिजली** का पूर्वोक्त उदाहरण समर्पक है।

गुण ज्ञान का उपयोग

वातदोष की साम्यावस्था बनाएं रखने की दृष्टी से उपरोक्त वात गुणों की साम्यावस्था आवश्यक है। उपरोक्त गुणों के समान आहार-विहार के अधिक्य से वातदोष की वृद्धी होती है।

उदा. चना, चने, चुरमुरे आदि रुक्ष पदार्थ अतिमात्रा में खाने से उदरशूल होता है (वात दोष बिगड़ने से) तथा अति शारीरिक और मानसिक यातायात से वात दोष बिगड़कर भ्रम (चक्कर आना) यह लक्षण निर्माण होता है।

वातदोष - सामान्य कार्य

वायुः तन्त्र यन्त्र धरः, प्राण उदान समान व्यान अपानात्मा, प्रवर्तक चेष्टानाम् उच्च अवचानाम्, नियन्ता प्रणेताच मनसः, सर्वेंद्रियाणाम् उद्योजकः, सर्वेंद्रियार्थानाम् अभिवोढा, सर्व शरीर धातू व्युहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृति शद्वस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्ष - उत्साह योनिः, समीरणो अग्नेः दोष संशोषणः क्षेप्ता बहिर्मलानाम् स्थूलाणू स्त्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषो अनुवृन्ति प्रत्यभूतः भवति अविकृतः ॥

...च.सू.१२/७

वायु तंत्रयंत्र धरः

मनुष्य की शरीर रचना और कार्य की बनावट इनका अध्ययन करने पर कहा जा सकता है कि शरीर अथवा मानवी देह यंत्र सदृश है। इस यंत्र की सभी कार्यप्रणालीयाँ सुयोग्य प्रकार से चलते रहने के लिए विशिष्ट तंत्र की आवश्यकता है। यंत्र एवं तंत्र दोनों भी वात दोष पर निर्भर होते हैं। शरीर में हर एक अवयव उसके सुनिश्चित स्थान में ही होना आवश्यक है। हृदय की कपाटिकाओं में जन्मजात विकृती अथवा Testis यह अवयव Scrotum में होने के बजाए उदर गुफा में आ जाना (Undescended Testis) इस जैसी विकृती, रचना में हुए विकृत कार्य के कारण होती है। इसीलिए गर्भ अवयव

निर्मिती में आयुर्वेद ने वात की महत्त्वपूर्ण भूमिका वर्णन की है। साथही श्वासमार्ग का कार्य (प्रति मिनट १६ से १८ बार) तथा नाडी की संख्या (प्रति मिनट ७२ से ८० बार) इस जैसी क्रिया प्राकृत अथवा अप्राकृत होना वातदोष पर निर्भर है।

'वायु तंत्र यंत्रधर' इस एक ही संज्ञा से वात के कार्य का विस्तार स्पष्ट होता है।

प्राण – व्यान – उदान – समान – अपान के कार्य हैं।

वातदोष के स्थान, कार्य एवं महाभूत आधिक्य भेद से उपरोक्त प्रकार होते हैं।

नियन्ता प्रणेता च मनसः

नियंता - नियंत्रक, प्रणेता - प्रवर्तक।

बुद्धी अथवा मन के प्राकृत कार्य सम्पन्न होने के लिए वातदोष उत्तेजना देता है, साथ ही कार्य नियंत्रण भी करता है। मन को भले-बुरे का सारासार विचार कर अच्छे कार्य करने के लिए प्रवृत्त करता है। मन का वर्णन उभयेंद्रिय ऐसा किया गया है।

सर्वेन्द्रियाणाम् उद्योजकः

ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय एवं उभयात्मक इंद्रिय (मन) इनके कार्य को चालना देने का कार्य वातदोष करता है, उनके कार्य सुव्यवस्थित चलते रहने के लिए सहायता करता है।

सर्वेंद्रियार्थानाम् अभिवोढा

अभिवोढा - प्रवृत्ती होना।

प्रत्येक इंद्रिय की स्व-स्व (अपने-अपने) विषय ग्रहण करने की ओर प्रवृत्ती होती है। उदा. श्रोत्रेंद्रिय के द्वारा शद्ध का ग्रहण होता है। यह कार्य वातदोष के कारण ही होता है। पक्षाघात जैसे (Paralysis) व्याधि में कर्मेंद्रियों के (हस्त, पाद) कार्य में विकृती निर्माण होती है और उन इंद्रियों से अपने कार्य सम्यक् प्रकार से नहीं होते।

सर्व शरीर धातु व्यूहकरः

मनुष्य शरीर में विविध धातु, अवयवों की रचना विशिष्ट प्रकार की तथा जटिल होती है। उन धातु, अवयवों के विशिष्ट सुनिश्चित कार्य होते हैं। यह रचना तथा कार्य सम्यक् बनाएं रखना यह वातदोष का कार्य है।

सन्धानकरः शरीरस्य

संन्धान का अर्थ है - जोड़ना अथवा साँधना।

शरीर में संयोजन अथवा जोड़ना कफ के कारण होता है, किन्तु उसे प्रेरणा वातदोष से ही मिलती है।

प्रवर्तको वाचः

वाचः का अर्थ है - बोलना।

बोलने की क्रिया को वातदोष ही कारण होता है। शरीर के विविध ध्वनी, फुफ्फुस के ध्वनी, आंत्र के ध्वनी ये सभी ध्वनी आदि को वातदोष जिम्मेदार होता है।

प्रकृति शद्व स्पर्शयोः

शद्व, स्पर्श की प्रकृती अर्थात् मूल को वातदोष जिम्मेदार होता है। शद्व, स्पर्श का आकलन करने के लिए वातदोष जिम्मेदार होता है।

श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं

श्रोत्रेंद्रिय, स्पर्शनेंद्रिय की मूल रचना अथवा घटना वातदोष के कारण ही बनी है।

हर्ष – उत्साह – योनि

योनि = उगमस्थान।

वातदोष सुव्यवस्थित होने पर हर्ष, उत्साह (मानसिक, शारीरिक आनंद) बने रहते हैं, क्यों कि मन तथा इंद्रियों को कार्यप्रवण करने का कार्य वायु करता है।

समीरणो अग्नेः

वातदोष अग्नि (पाचनशक्ती) प्रज्वलित करता है।

दोष संशोषणः

शरीर की चयापचय प्रक्रिया में निर्मित सूक्ष्म मल शोषण अथवा नष्ट करने का कार्य वात करता है।

क्षेप्ता बहिर्मलानां

शरीर में उत्पन्न त्याज्य मलभाग निष्कासित करने के लिए सहायक गतिविधियाँ वातदोष के कारण ही होती हैं। मल, मूत्र, स्वेद जैसे त्याज्य पदार्थ शरीर से बाहर उत्सर्जित करने का कार्य वातदोष करता है।

स्थूलाणु स्त्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनां

स्थूल का अर्थ है - बृहत्, बड़ा। अणु का अर्थ है - छोटा।

स्त्रोतस का अर्थ है - शरीर में उपस्थित रिक्त स्थान अथवा मार्ग।

छोटे-बड़े मार्गों का विभाजन कर गर्भ को विशिष्ट आकार, विशिष्ट शरीर रचना प्रदान करना वातदोष के द्वारा होता है।

आयुषो अनुवृत्तिः

आयुष्य बना रहने के लिए (अनुवृत्ति) वातदोष के उपरोक्त कार्य की सहायता होती है। शरीर, आत्मा, सत्त्व, इंद्रिय इनका संयोग टिका रहने के लिए वातदोष ही सहायता करता है। जब तक वातदोष के सभीं कार्य सुव्यवस्थित प्रकार से चलते रहते है, तब तक मनुष्य जीवित रहता है।

वातदोष के कार्य का माध्यम

वातदोष का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

अव्यक्तः व्यक्तकर्माच।

वात के कार्य जिनकी सहायता से होते हैं, उन्हें माध्यम कहा जाता है। मुख्यतः निम्न तीन माध्यम के संदर्भ महत्वपूर्ण हैं।

१) **धमनी**

तासां या धमनी मनसा अनुयुज्यते।

तथैव रुपादिषु अन्यतमं आत्मागृण्हीते। **... सु. संहिता**

सुश्रुत संहिता में **धमनी व्याकरण** इस प्रकरण में धमनी का कार्य निम्न प्रकार से वर्णित है। मन - धमनी - ज्ञानेंद्रिय - अर्थ इस सभीं प्रकार की श्रृंखला ज्ञान प्रक्रिया को सहायक होती है।

२) **सिरा**

सुश्रुत ने सु.शा. ७ में वातवह सिराओं का उल्लेख किया है और वे अरुणवर्णी (काले रंग की) होती है, ऐसा कहा है। वातवह सिरा का अर्थ वात बहाने वाली सिरा ऐसा नहीं बल्कि जिस सिरा को वातदोष से प्रेरणा मिलती है, वह वातवह सिरा है।

३) एका परमाणु से दूसरे परमाणु को दी गयी प्रेरणा

इसी प्रकार हर एक कार्य होता है। उपरोक्त क्र. १ और २ में उल्लेखित माध्यम इसी प्रकार कार्य सम्पन्न कराते हैं।

वातदोष के स्थान

त्रिदोष सर्व शरीर व्यापी (ते दोष सर्वाऽव्यापिनः।) हैं, तथापि जिन अवयवों में वातदोष का आधिक्य है, वे वातदोष के माध्यम हैं।

पक्वाशय कटी सक्थि श्रोत्रास्थि स्पर्शनेंद्रियम्।
स्थानम् वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः॥ ... अ.हृ.सू.१२/१

१) पक्वाशय

पक्वाशय में आहार पचन के पश्चात् उत्पन्न सारकिट्ट का विभजन किया जाता है। यह कार्य वातदोष के द्वारा सुव्यवस्थित प्रकार से किया जाता है। वातदोष का मुख्य स्थान पक्वाशय है। वातदोष की उत्पत्ती, विकृती तथा चिकित्सा इन तीनों में पक्वाशय संबंधित है। पंचकर्म में बस्ती (Medicated Enemata) पक्वाशय के द्वारा ही दी जाती है। पक्वाशय से वातदोष का घनिष्ठ संबंध है।

२) कटि (Pelvic Region)

कटि प्रदेश में पक्वाशय, गर्भाशय, गुदप्रदेश, मूत्राशय, अन्तफल आदि महत्त्वपूर्ण अंगों का समावेश होता है। इन अवयवों के द्वारा मूत्र विसर्जन, आर्तव वहन, मल विसर्जन आदि कार्य वात के 'वियोग' स्वरुप में किये जाते हैं।

३) सक्थि (उरुप्रदेश)

चलना, दौड़ना तथा गतिविधि दर्शक क्रियाएं सक्थि की सहायता से होती हैं, इसलिए 'गतिविधि' इस वातदोष के कार्य से संबंधित प्रमुख स्थान में इस अवयव का समावेश होता है।

४) श्रोत्रं

श्रोत्रेंद्रिय की सहायता से शब्द का ग्रहण होता है। 'शब्द' आकाश महाभूत का गुण है। श्रोत्रेंद्रिय के संदर्भ में वातदोष का कार्य प्राकृत बना रहें इस हेतु से ही आयुर्वेद ने प्रतिदिन नित्य कर्णपूरण (कान में कोष्ण तेल डालना) की दिनचर्या में प्रशस्ती की है।

५) अस्थि (Bone)

अस्थि वातदोष से निम्न प्रकार से संबंधित है।

- शरीर में होने वाली हर एक गतिविधि अस्थिसंधि के कारण होती है। इसलिए 'गतिविधि' इस वातदोष के कार्य से अस्थि का संबंध होता है।
- अस्थि शरीर में उपस्थित कठिन घटक है। अस्थि में काठिन्य का गुण वात के रुक्ष गुण के कारण ही निर्माण होता है।

६) स्पर्शनेंद्रियम्

शीत, उष्ण, कठिन, मृदू आदि स्पर्शविषयों का त्वचा के द्वारा ज्ञान होता है। स्पर्शनेंद्रिय में वायु तथा आकाश महाभूतों का आधिक्य होता है। स्पर्श यह वायु गुण है। तद्वत्, स्पर्शनेंद्रिय वातदोष से संबंधित है।

वातदोष के प्रकार (पंचात्मा)

- **पंचात्मा कोष्ठे वायुः प्रादुर्भवति।** ... वाग्भट
- **यथा ऽग्निपंचधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः।**
  भिन्नो ऽनिलः तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः॥
  प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्च अपान एव च।
  स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयति शरीरिणाम्॥ ... सु. नि. १/११, १२
- **तत्र प्रस्पन्दन उद्वहन पूरण विवेक धारण लक्षणो।**
  वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति॥ ... सु. सू. १५/४

स्थान एवं कर्मभेद से वात के पाँच प्रकार शास्त्रकारों ने वर्णन किए है। वात विकृती उत्पन्न होने पर इस कर्म भेद के कारण ही इन पाँच प्रकार के वायु के द्वारा विविध रोगों की उत्पत्ती होती है। इसीलिए सुश्रुत ने 'नामस्थानक्रियामयैः' वायु के पाँच प्रकार होते हैं, ऐसा वर्णन किया है। प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान ये पाँच प्रकार हैं और वे स्वस्थान में अव्याहत विचरण करते हुए शरीर का सुयोग्य प्रकार से धारण करते हैं।

इस प्रत्येक प्रकार का सविस्तर विवेचन निम्न स्वरुप में किया जा सकता है।

(१) प्राण

निरुक्ति – प्राणान् धारयति इति प्राणाः ।

स्थान – स्थानम् प्राणस्य मूर्धोरः । कण्ठ जिव्हास्य नासिका ॥ ... च. चि २८

प्राणोऽत्रमूर्धगः ... । ... वा.सू. १२/४५

संचार क्षेत्र – ... उरः कण्ठचरो । ... वा.सू. १२/४५

कार्य – ... बुध्दि हृदय इंद्रिय चित्त धृक् ।

ष्ठीवन क्षवयु उद्गार निश्वास अन्न प्रवेशकृत ॥ ... वा.सू.१२/४५

प्राण इस शद्व के विषय में आयुर्वेद के अनुसार भिन्नता

- अन्न, जल तथा वायु इन्हें बाह्यप्राण और इंद्रिय, शरीर, सत्त्व (मन) तथा आत्मा इन्हें आभ्यंतर प्राण कहते है।
- प्राणवायु (ऑक्सिजन) और प्राण (वातदोष का प्रकार) इनमे कर्म के अनुसार भिन्नता है।

प्राण – निसर्ग में उपस्थित शरीर उपकारक घटकों का शरीर में प्रवेश कराने के लिए यह वात प्रकार उपयुक्त है।

स्थान – मूर्धा (तुाल), उर (छाती), कण्ठ, जिव्हा, नासिका, आस्य (मुख), नासा ये प्राण के स्थान हैं।

कार्य

- बुद्धि, हृदय, इंद्रिय (ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय एवं मन), चित्त का धारण करना अर्थात् इनसे संबंधित अवयवों के कार्य सम्यक् प्रकार से कराना । 'धी' (अर्थात् योग्यायोग्य का चुनाव करना), धृति (अर्थात् धैर्य), स्मृति (अर्थात् पिछली यादें) ये मन के कार्य, निश्चय (निश्चयात्मिका बुद्धिः) यह बुद्धि का कार्य, अपने-अपने विषय ग्रहण करने के ज्ञानेंद्रिय एवं कर्मेंद्रिय के कार्य, हृदय के द्वारा होने वाला रक्त संवहन ये सभी कार्य प्राणवायु के प्राकृत होने पर निर्भर होते हैं।
- निश्वास और अन्नप्रवेशकृत ये प्राणवायु के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। इनके द्वारा सृष्टी में उपस्थित शुद्ध हवा ग्रहण करना तथा अन्नग्रहण ये कार्य होते हैं।

प्राणवायु के इस कार्य का विचार करने पर स्पष्ट होता है कि शरीर उपकारक

घटक सृष्टी से शरीर के भीतर लेना यह प्राण का कार्य है जो प्राण के अनुलोमन गति के कारण होता है। अतः प्राणवायु की गति बिगड़ने पर श्वास, थकान आदि उपद्रव होते हैं।

- ष्ठीवन, क्षवयु तथा उद्गार ये कार्य तुलना में कम महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः ष्ठीवन का अर्थ है - थूँकना, क्षवयु का अर्थ है - छिंकना और उद्गार का अर्थ है - डकार। इन क्रियाओं से शरीर को उपद्रवकारक घटक बाहेर निकालने की प्रक्रिया होती है।

उपरोक्त अनुलोमित गति से विसंगत प्रकार के भी कार्य हैं। फिर भी उनका प्राणवायु के साथ संबंध किस प्रकार जोड़ा जा सकता है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। किन्तु शरीर उपकारक घटकों का शरीर में ग्रहण करना यह प्राणवायु का प्राकृत कार्य है और उस कार्य में अवरोध निर्माण करने वाले वस्तुओं को दूर करने के लिए ष्ठीवन, क्षवयु, उद्गार यह क्रियाएँ होती हैं, उन्हें प्रतिक्षिप्त क्रिया कहते है।

प्राणप्रकोपज व्याधि

प्राशयः कुरुते दुष्टाः हिक्काश्वासादिन गदान् ॥ ... सु. नि. १

प्राणवायु बिगडने पर क्या होता है ?

हिक्का - हिवकी (Hiccough), श्वास (Breathlessness) आदि बीमारियां (व्याधि) निर्माण होती हैं।

इस व्याधि में कंठ, शिर, जिव्हा, नासा, मुख, उर आदि अवयवों से संबंधित विकार उत्पन्न होते हैं।

प्रतिश्याय (सर्दी), कास (खाँसी), अन्न निगलने में कठिनाई, मूर्च्छा (बेहोशी), संन्यास, संज्ञानाश, स्मृतिनाश, बुद्धिभ्रंश ये उदाहरण प्राणप्रकोपज व्याधिओं के संदर्भ में उपयुक्त हैं।

(२) उदान

निरुक्ति – **उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।** ... सु. नि. १

स्थान – **उरः स्थानम् उदानस्य।** ... वा. सू. १२/५

संचार क्षेत्र – **... नासानाभिगलांश्चरेत्।** ... वा. सू. १२/५

कार्य – **वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः।** ... वा.सू. १२/५

तेन भाषित गीतादिविशेषो ऽ भिप्रवर्तते। ... सु. नि. १/१४

क्षवथु हिक्कितं कास उच्छ्वास तथा। ... भेल सू. १६

उदान की गति ऊर्ध्व होती है। उच्छ्वास के लिए वात प्रकार उपयुक्त है।

- सृष्टी की ओर से शरीरांतर्गत इस प्रकार की प्राण की जो गति है, उसे **अनुलोम गति** कहते है।
- शरीर की ओर से सृष्टी की ओर जो गति है, उसे **प्रतिलोम गति** कहते है।

यद्यपि प्राण और उदान वायु का कार्यक्षेत्र समान ही है, फिर भी उनके कार्य की दिशाएँ भिन्न होती हैं।

उरः प्रदेश के संदर्भ में, उसमे स्थित अन्नमार्ग, श्वासमार्ग, फुफ्फुस, स्वरमार्ग ये अवयव और उरः प्रदेश में स्थित अस्थि एवं स्नायु इनका विचार उदान वायु के संदर्भ में करना महत्वपूर्ण है।

शरीर में चयापचय क्रिया के द्वारा निर्मित सूक्ष्मरुप मलिन अंश शरीर से बाहर निकालने का कार्य उदान वायु का है। इसीको उच्छ्वसन कहते है। यही उदानवायु का प्रमुख कार्य है। उसके शेष कार्य निम्न हैं -

१) **वाक्प्रवृत्ती** – अर्थात् बोलने की प्रक्रिया।

वाणी के चार प्रकार
- परा
- पश्यन्ति
- मध्यमा
- वैखरी

२) **प्रयत्न** – कोई वस्तु प्राप्त करने के लिये किया गया प्रयास।

३) **उर्जा** – कार्य करने के लिए आवश्यक उर्जा (शक्ती)।

४) **वर्ण** – शरीर का वर्ण - प्राकृत वर्ण चार प्रकार के होते हैं, जैसे - गौर, श्याम, कृष्ण तथा गौर श्याम।

५) **स्मृती** – स्मृती का अर्थ है - याद रहना। मन के द्वारा किये गए पूर्व अनुभवों का अथवा ग्रहण किये ज्ञान का पुनः व्यक्तीकरण। इन सभीं में सृष्टी की ओर किसी ना किसी वस्तु का व्यक्तीकरण।

उपरोक्त कार्यों में से वाक्प्रवृत्ती और स्मृती इन क्रियाओं की प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। परंतु प्रयत्न, उर्जा, बल आदि क्रिया उदान के द्वारा किस प्रकार होती हैं, इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो सकती। अतः बल, वर्ण, प्रयत्न, उर्जा इन जैसी एक दूसरे से संबंध न होने वाली क्रियाओं को उदान की क्रियाएँ क्यौं कहा गया है, यह विचार स्वाभाविकतः ही उभरता है। इसका स्पष्टीकरण विविध प्रकार से किया गया है।

उदा.

- उच्छ्वसन यह उदान वायु का कार्य है। इस प्रमुख कार्य में बिगाड़ होने पर वाक्प्रवृत्ती आदि कार्य में अवरोध निर्माण होता है अथवा बिगाड़ होता है। उच्छ्वसन क्रिया ठीक से न होने पर शरीर में कार्बन-डाय-ऑक्साईड आदि मलीन घटकों का संचय होने लगता है। अति गंभीर अवस्था में मोह, मूर्च्छा आदि लक्षण निर्माण होते हैं और इस अवस्था में रुग्ण प्रलाप करने लगता है (वाक्प्रवृत्ती बिगड जाती है), कार्यशक्ती में कमी आती है, इंद्रिय अपने कार्य सुनिश्चित प्रकार से करने में असमर्थ हो जाते हैं (प्रयत्न, उर्जा, बल), स्मृती क्षय होता है, साथही प्राकृत वर्ण हानी होकर विवर्णत्त्व भी उत्पन्न हो सकता है, नाखून काले-नीले हो जाते हैं। सारांश यह है कि उदान वायु के उच्छ्वसन और वाक्प्रवृत्ती आदि कार्य परस्पर संबंधित होते हैं।
- कुछ विद्वानों के अनुसार, वाक्प्रवृत्ती, प्रयत्न, उर्जा आदि कार्यों में वाक्प्रवृत्ती यह प्रधान कार्य है और प्रयत्न, उर्जा, बल आदि क्रियाएं तद्अनुषंगी होती हैं।

अर्थात् प्रकृत वाक्प्रवृत्ती के लिए सुयोग्य प्रयत्न, शक्ती (बल) की आवश्यकता होती है। अति गंभीर अथवा दीर्घकालीन व्याधि के कारण शरीरबल क्षीण होने पर उसका परिणाम वाक्प्रवृत्ती पर होता है। स्मृती का भी वाक्प्रवृत्ती के साथ गहरा संबंध है। बोलने की क्रिया (स्मृती से संबंधित बोलने की क्रिया) यह प्राप्त ज्ञान अथवा अनुभव का प्रकटीकरण ही है। कोई बालक जब बोलना सिखता है तो वह भी 'पहले सुने गए बाबा, चाचा, मामा आदि शब्दों के संकलित ज्ञान का पुनः प्रकटीकरण' ही होता है। वाक्प्रवृत्ती के द्वारा आवाज के विविध प्रकार

(जैसे मृदु, गंभीर, फटी हुई/चिरचिरी) समझे जा सकते है। सारांश, उदान वायु का वाक्प्रवृत्ती यह प्रधान कार्य प्रयत्न, उर्जा आदि कार्यों से संबंधित है।

उदान प्रकोपज व्याधि

उर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोतिच विशेषतः। ... सु. नि. १/१५

उदान वायु बिगड़ने से मुख्यतः जत्रुप्रदेश के ऊर्ध्व भाग में स्थित अवयवों के (मुख, नासा, शिर) रोग उत्पन्न होते हैं। व्यवहार में प्राण और उदान के कार्य के संतुलन में बिगाड़ होकर श्वास, हिक्का आदि व्याधि उत्पन्न होते हैं। साथही विभिन्न स्वरुप की स्वरविकृती अथवा वर्णविकृती उदान वायु बिगड़नेसे ही निर्माण होती हैं।

(३) व्यान वायु

निरुक्ति – **देहे व्याप्नोति इति व्यानः शिघ्रगति नृणाम्।** ...च.चि.२८/९

स्थान – **व्यानो हृदि स्थितः।** ... वा. सू. १२/६

संचार क्षेत्र – **कृत्स्न देहचारी महाजवः।** ... वा. सू. १२/६

कृत्स्न देहचारी का अर्थ है - संपूर्ण शरीर।

महाजवः का अर्थ है - बड़ी रक्तवाहिनियाँ।

कार्य – **गति - अपक्षेपण - उत्क्षेपण - निमेष - उन्मेषणादिकाः।**

प्रायः सर्वाः क्रियास्तमिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्॥ ...अ.हृ.सू.१२/७

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः।

स्वेदासृक् स्त्रावणश्चापि पंचधा चेष्टयत्यपि॥ ... सु. नि. १/१७

व्यान वायु हृदय में स्थित होता है और संपूर्ण शरीर उसका कार्यक्षेत्र है। संपूर्ण शरीर में चलने वाली विभिन्न क्रियाओं का नियंत्रण व्यान वायु करता है। इसके अनुसार, व्यान वायु का स्थान केवल हृदय ही है, इस धारणा के साथही, मस्तिष्क भी व्यान वायु का स्थान है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

कार्य

रससंवहनोद्यतः + असृक स्त्रावण

- रस-रक्त का संपूर्ण शरीर में सुयोग्य प्रकार से वहन होने के लिए व्यानवायु प्रेरणा देता है। बाह्य प्राण (अन्न, जल, वायु) का सेवन करने पर इनमे उपस्थित शरीर उपयुक्त अंश सात्म्य स्वरुप में प्रत्येक अणुरेणु तक पहुँचाना जरुरी होता है। इसीसे आभ्यंतर प्राण (शरीर, आत्मा, सत्त्व, मन, इंद्रिय) का पोषण होता है। यह महत्त्वपूर्ण कार्य व्यान वायु के द्वारा होता है।

समग्र शरीर क्रिया व्यान गति पर निर्भर होती है। शरीर में रक्त का प्राकृत दबाव (Blood Pressure) व्यान के कार्य पर आधारित होता है। नाड़ी से (Pulse) व्यान की गति समझती है।

- **स्वेद स्त्रावण**

स्वेद स्त्रावण, वहन पर व्यानवायु का नियंत्रण होता है। रस, रक्त जलीय स्वरुप के घटक हैं। रस, रक्त का वहन कर शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटकों को पोषक अंश प्रदान करने के साथ ही चयापचय क्रिया में निर्मित मलभाग रस, रक्त के द्वारा उत्सर्जन केंद्र की ओर भेजने का काम भी व्यान वायु ही करता है। इसीलिए जल स्वरुप, स्वेदरुप मल का ठीक समय पर वहन और उत्सर्जन इनका भी नियंत्रक व्यान वायु ही होता है। व्यवहार में भी रस, रक्त का प्राकृत संवहन न होने से स्वेद प्रवृत्ती पर परिणाम होता है। उदा. - हृदयावरोध (Heart Attack) विकार में अति स्वेदप्रवृत्ती होती है।

पंचधा चेष्टायत्यपि, प्रायः सर्वाः क्रिया स्तस्मिन प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्।

शरीर संबंधित अधिकतर सभीं क्रियाएं व्यानवायु पर निर्भर होती हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि रस-रक्त के द्वारा शरीर को पोषक अंश प्रदान करने का कार्य व्यान वायु का है। यह संवहन ठीक से न होने पर, पोषक अंश शरीर को सुयोग्य मात्रा में न मिलने से चलना, बोलना, उठना, बैठना ये क्रियाएं प्राकृत स्वरुप में नहीं हो सकती, यह प्रत्यक्ष है। ये शारीरिक क्रियाएँ पाँच प्रकार की होती हैं, जैसे -

१) **उत्क्षेपण** – ऊर्ध्व दिशा में फेंकना।

२) **अपक्षेपण** – अधो दिशा में हलचल अथवा गति।

३) **विनमन** – तीर्यक दिशा में हलचल अथवा गति।

४) **आकुंचन** – निकट आने की प्रक्रिया।

५) **प्रसरण** – विस्तार की प्रक्रिया।

इन पाँच प्रकार की क्रियाओं के साथही उन्मेष (आँखे खोलना, प्रसरणात्मक क्रिया), निमेष (आँखे बंद करना, आकुंचनात्मक क्रिया) ये क्रियाएं भी व्यान वायु के द्वारा ही की जाती हैं।

व्यान प्रकोपज व्याधी

कुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहजान्। ... सुश्रुत

संपूर्ण शरीर ही व्यानवायु का कार्यक्षेत्र है, अतः इसमे बिगाड़ उत्पन्न होने पर संपूर्ण शरीर से संबंधित कोई भी व्याधि निर्माण हो सकता है। प्रत्यक्षतः व्यानवायु की विकृती के कारण निम्न व्याधि निर्माण होते हैं।

१) **हृदय विकृती** – हृदय के कार्य में बिगाड़। हृदय संबंधी व्याधि उदा. हृदयावरोध, उच्च रक्त चाप (Hypertension)।

२) **रसरक्तसंवहन में विकृती,** रक्तरकन्दन विलम्बपूर्वक होना आदि (Prolonged B.T. or C.T.)।

३) **स्वेदप्रवृत्ती में विकृती** उदा. स्थानिक (किसी एक अवयव में) अथवा सार्वदेहिक अत्यधिक स्वेदप्रवृत्ती।

(४) समान वायु

निरुक्ति – **समं नयनात् समानः।**

सम का अर्थ है - समस्थिति। अन्न के पचन व्यापार की समस्थिति बनाएं रखने का और सम्यक् पचन होने से स्वाभाविकतः शरीर की समस्थिति बनाएं रखने का काम समान वायु के द्वारा होता है।

स्थान – **समानो अग्निसमीपस्थः।** ... वा. सू. १२/८

... समानो वन्हि संगतः। ... सु. नि. १/१६

संचार क्षेत्र – **कोष्ठे चरति सर्वतः।** ... वा. सू. १२/८

आमपक्वाशयश्चरः। ... सु. नि. १/१६

कार्य – **अन्न गृण्हाति पचति विवेचयति मुञ्चति।** ... वा. सू. १२/८

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः। ... शा. म. ख.

समान वायु के द्वारा आहार रस हृदय में लाया जाता है।

कार्य

१) अन्तः कोष्ठ में पचन सुनिश्चित प्रकार से चलते रहने की दृष्टी से प्रेरणा समान वायु के द्वारा मिलती है। इसमें मुख्यतः अन्न का ग्रहण किया जाता है (गृण्हाति)।

२) प्रत्यक्ष पचन क्रिया में सहकार्य करना (पचति)।

३) पचन होने पर शरीरोपयोगी अंश (सार भाग और किट्ट भाग) का विभाजन, त्याज्य अंश का विसर्जन (मुञ्चति) ये सभी कार्य समान वायु के सुयोग्य नियंत्रण से होते हैं।

वस्तुतः पचन यह पित्त का प्रमुख कार्य है। समान वायु अप्रत्यक्ष रुप से इस क्रिया में सहायता करता है। पचन होने के लिए अन्न कुछ काल किसी अवयव में संचित करना, सुनिश्चित काल के बाद अन्न को अगले भाग में भेजना, साथही पाचक पित्त अथवा पचन से संबंधित बाकी स्त्रावों को स्त्रवने की प्रेरणा देना, अन्न घटक और पित्त इनका सुयोग्य संबंध आने की दृष्टी से आमाशय, पच्यमानाशय आदि अवयवों की गतिविधियाँ सुनियंत्रित स्वरूप से कराना आदि कार्य समान वायु करता है।

समान प्रकोपज व्याधी

(समानः) गुल्म अग्निसाद अतिसार प्रभृतीन कुरुते गदान्। ... सु. नि. १

समान वायु का कार्य बिगड़ने पर मुख्यतः अन्न पचन पर उसका परिणाम होता है। इसके कारण पचन बिगड़ने से होने वाले व्याधि निर्माण होते हैं।

- **गुल्म** का अर्थ है - गाँठ। उदर में विकृत स्वरुप में वात संचिती होने से निर्मित गाँठ अथवा उत्सेध।
- **अग्निसाद** का अर्थ है - अग्निमांद्य। इससे भूख नहीं लगती और पचनशक्ती कम हो जाती है।
- **अतिसार** का अर्थ है - द्रवमल प्रवृत्ती। साथही अजीर्ण, आम्लपित्त, ग्रहणी, छर्दी आदि अनेक व्याधि निर्माण होते हैं।

(५) अपान वायु

स्थान – **अपानो अपानगः।** ... वा. सू. १२/९

संचारी स्थान – **श्रोणि बस्ति मेढ्र उरु गोचरः।** ... वा. सू. १२/९

कार्य – **शुक्र आर्तव शकृत् मूत्र गर्भ निष्क्रमण क्रियः।** ... वा. सू.

अपानवायु का स्थान मुख्यतः नाभी प्रदेश के नीचे होता है तथापि कटि (श्रोणि), बस्ती, मेढ्र, उरु (पैर) इन सभी प्रदेशों में अपान वायु का नियंत्रण होता है।

कार्य

शुक्र, आर्तव, पुरीष, मूत्र, गर्भ का सुनियंत्रित निष्क्रमण करना। सुनियंत्रित का अर्थ है - योग्य समय तक धारण करना और समय आने पर ही बाहर निकालना।

शुक्रप्रवृत्ती – आयुर्वेद के अनुसार, शुक्र धातु सर्व शरीरव्यापी होता है। अतः स्वाभाविक रुप से इस पर व्यानवायु का नियंत्रण होता है। स्त्रीदर्शन, स्मरण अथवा मैथुन के दौरान वृषण के ओर की धमनियों द्वारा संबंधित अवयव कार्यप्रवृत्त कर शुक्रोत्पत्ती और शुक्रविसर्जन यह क्रिया अपान वायु के द्वारा होती है।

आर्तव निष्क्रमण – आर्तव का अर्थ है - स्त्रीबीज। यदि स्त्रीबीज का पुरुष बीज से संयोग न हो, तो वह योनिमार्ग के द्वारा गर्भाशय से बाहर निकल जाता है। इस क्रिया पर अपान वायु का नियंत्रण होता है।

रजः प्रवृत्ती – प्रति मास स्त्रियों में योनिमार्ग के द्वारा होने वाला रक्तस्त्राव यही रजः प्रवृत्ती है। इसके बाहर निकलने का मार्ग गर्भाशय मुख यह होने के कारण उस पर अपान वायु का नियंत्रण होता है। अपान का कार्य सुव्यवस्थित होने पर मासिक रजःस्त्राव ठीक समय पर शुरु होता है तथा ठीक समय पर रुक जाता है।

गर्भनिष्क्रमण – स्त्री और पुरुषबीज का गर्भाशय में संयोग होने पर गर्भधारणा होती है। इस पश्चात नौ मास तक गर्भ की वृद्धी होती है। इस कालावधी के दौरान गर्भाशय का मुख संकुचित रखना और प्रसवकाल में उसका विस्तार कर प्राकृत प्रसुति कराना ये क्रियाएं अपान के द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। अन्यथा गर्भपात, गर्भस्त्राव आदि विकृतीयां निर्माण होती हैं।

पुरीष प्रवृत्ती – आहार के सारकिट्ट विभाजन से निर्मित घन मल, कटुरसात्मक द्रव्य पक्वाशयस्थ अपानवायु का उद्वेग निर्माण करते हैं और पक्वाशय के सुषिर स्नायु मल को आगे ढकेलने की क्रिया शुरु करते हैं। मल उत्तर गुद में आने पर अपान का कार्य अधिक गति से होता है। गुदद्वार का विकसन होता है और मल बाहर निकलता है।

मूत्र प्रवृत्ती – पुरीष निर्मिती के समान ही द्रव मलभाग (अर्थात् मूत्र) की निर्मिती होती है। मूत्र का दबाव बस्ति प्रदेश पर पड़ता है, अतः अपान प्रक्षोभ होकर बस्तिद्वार विकसित होता है और मूत्र विसर्जन क्रिया अपान की प्रेरणा से होती है। अपान विकृति के कारण मूत्रप्रवृत्ती पर नियंत्रण का अभाव, पुनः-पुनः मूत्रप्रवृत्ती आदि लक्षण निर्माण होते हैं।

सारांश – कटिप्रदेश में स्थित सभीं अवयवों के प्राकृत कार्य व्यापार पर अपान वायु का नियंत्रण होता है।

अपान प्रकोपज व्याधि

(अपानः) कुध्दश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान्। ... सु. नि. १

अपान वायु बिगड़ने पर बस्ति, गुद प्रदेश से संबंधित महाभयंकर (घोरान्) रोग उत्पन्न होते हैं। उदा. गर्भपात, गर्भस्त्राव, मूत्रसंग आदि।

वातप्रकार परस्पर संबंध

उपरोक्त प्रकार से प्राण, उदान, व्यान, समान इनका वर्णन किया गया है। वात वायु का जो प्रमुख कार्य 'गतिविधि' है, उसी के अनुसार उपरोक्त पाँचों प्रकार के कार्य होते हैं। ये पाँचों प्रकार परस्पर संबंध से (सहकार्य से) कार्य करते हैं। यह परस्पर संतुलन बिगड़ने पर व्याधी उत्पन्न होते हैं।

वातदोष के संबंध में प्राकृत-विकृत स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात अब वातवृद्धी एवं वातक्षय इस संदर्भ में वातदोष का विचार किया जाएगा। वातवृद्धी एवं वातक्षय ये क्रियाएं सामान्य विशेष सिद्धांत के अनुसार तीन प्रकार से हो सकती हैं, जैसे - द्रव्यतः, गुणतः, कर्मतः।

वातवृद्धी के लक्षण

वृध्दस्तु कुरुते ऽ निलः ।

कार्श्य - कार्ष्ण्य - उष्णकामित्त्वं - कंप - आनाह शकृदग्रहान् ।

बल - निद्रा - इंद्रिय - भ्रंश प्रलाप भ्रम दीनताः ।। ... वा. सू. ११/५, ६

१) कार्श्य

कृशत्व = वजन कम होना ।

शरीर में वात के लघु अथवा रुक्ष गुण का अतिरेक होने पर कृशत्व आता है ।

सातत्य से उपवास, सूखा-रुक्ष आहार, अति शारीरिक कष्ट, दीर्घकालीन गंभीर व्याधि आदि कारणों से लघु, रुक्ष गुण बढ़ जाते हैं । इन रुग्णों के लिए शारीरिक, मानसिक विश्राम, अग्नि के अनुसार पोषक आहार, दूध, शतावरी आदि गुरु, स्निग्ध गुणों के पदार्थ लाभकारक होते हैं ।

२) काष्ण्य

काष्ण्य का अर्थ है - कृष्णवर्णता (काला वर्ण) ।

यह स्थानिक अथवा सार्वदेहिक स्वरूप में उत्पन्न हो सकता है । रुक्ष अथवा शीत गुण के आधिक्य के कारण कृष्ण वर्ण निर्माण होता है । यह स्थानिक अथवा सार्वदेहिक स्वरुप में उत्पन्न हो सकता है । शरीर के रक्त एवं पित्त इन घटकों के प्राकृतत्त्व पर प्राकृत वर्णनिर्मिती निर्भर होती है । अत्यधिक शीत गुण के कारण वाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं । रक्त अथवा पित्त घटकों का वहन सम्यक रूप से नहीं हो सकता और उपद्रव स्वरूप में वर्णविकृती निर्माण होती है ।

३) उष्ण कामित्वम्

उष्ण कामित्वम् का अर्थ है - उष्ण गुण की अभिलाषा निर्माण होना, उष्ण गुण युक्त आहार-विहार की इच्छा निर्माण होना । यह संवेदना वातवृद्धी के कारण बढ़े हुए शीत गुण के विरोध में निसर्गतः ही निर्माण होती है ।

४) कम्प

शरीर के किसी अंग, अवयव अथवा मांसधातु की अति तीव्र स्वरुप में, गतिमान हलचल कम्प कहलाती है । अत्यधिक वृद्धींगत शीत गुण का प्रतिकार करने के लिए चल

गुण की सहायता से निसर्ग ने किया हुआ उपाय । इसलिए तेल लगाकर सेंकने से कम्प कम हो जाता है ।

५) आनाह

आनाह का अर्थ है - पेट फूलना ।

वात के अति रुक्षत्व के कारण उदर स्थित आंत्र की अनुलोम गति में अवरोध निर्माण होने पर हवा, मल, मूत्र आदि स्वरुप के घटक उत्तर प्रदेश में अधिक मात्रा में संचित होने लगते हैं और आनाह स्वरुप के लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

६) शकृत् ग्रहान

शकृत् ग्रहान का अर्थ है - अवष्टंभ ।

वात के अतिरुक्षत्व के कारण उदर स्थित आंत्र की अनुलोम गति में अवरोध उत्पन्न होने पर 'शकृत् ग्रहान' यह अवस्था निर्माण होती है । अतः वार्धक्यावस्था में यह लक्षण निर्माण होने पर प्रतिदिन सोने से पहले एक कप कोष्ण दुग्ध के साथ दो चम्मच घी सेवन करने से ये लक्षण कम हो जाते हैं ।

७) बल, निद्रा, इंद्रियभ्रंश

भ्रंश का अर्थ है - कोई विशिष्ट कार्य योग्य प्रकार से ना होना ।

लघु गुण के अतिरेक से एवं रुक्षत्व से बल कम हो जाता है । चल गुण के अतिउद्रेक के कारण निद्रा नाश होता है । और रुक्षत्वाधिक्य से ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेंद्रिय में कार्यक्षय उत्पन्न होता है । क्वचित् पक्षाघात जैसे (Paralysis) गंभीर व्याधि होते है ।

८) प्रलाप

प्रलाप का अर्थ है - अति मात्रा में व्यर्थ बोलते रहना ।

९) भ्रम

भ्रम का अर्थ है - आस-पास की वस्तुएँ घूमती हुई दिखना ।

चल एवं लघु गुण का अतिरेक होने से यह लक्षण निर्माण होता है । इसमे बल्य, पौष्टिक आहार, औषधी दे कर, रुग्ण हो विश्राम करने की सलाह दें ।

१०) दीनता

दीनता का अर्थ है - मानसिक दुर्बलता, मन के सामर्थ्य में कमी आना, विचार सामर्थ्य कम होना ।

विचार सामर्थ्य कम होकर योग्य निर्णय लेने में असमर्थता, आत्मविश्वास में कमी, न्यूनगंड निर्माण होता है। वात का चल गुण बढ़ने से यह परिणाम होते हैं। विविध उपायों के द्वारा (उदा. ध्यान धारणा) चल गुण कम किया जा सकता है।

वातक्षय के लक्षण

- **लिंग क्षीणें अनिले अंगस्यसाद अल्पभाषिते हितम्।**
  संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्धि उक्तामयसंभवः॥ ...वा.सु.११/१५
- **तत्र वातक्षये मंदचेष्टत्ता अल्पाक्त्वं अप्रहर्षः मूढसंज्ञता च॥ ... सु. सू. १५/९**

१) **अंगसाद** – गलितगात्रता। वात का क्षय होने से, इंद्रिय प्रेरणा कम हो जाती है। इससे सभीं अवयवों में शिथिलता आ जाती है।

२) **अल्पभाषिते** – अर्थात् कुछ भी बोलने की इच्छा न होना। 'प्रवर्तको वाचः' यह वात का कर्म वातक्षय में कम हो जाता है।

३) साथही मंद चेष्टता, मूढसंज्ञता, मुख प्रसेक (मुँह में पानी आना), मुख आरस्य, उल्टी की भावना, विषमाग्नित्व ये वातक्षय के लक्षण हैं।

४) साथही आलस्य अंगगौरव, शैत्य, शिथिल अंगता, श्वास, कास, अतिनिद्रता।

चिकित्सा सूत्र

सामान्य विशेष सिद्धांत के अनुसार, वातवृद्धी में वात के रुक्ष, लघु, शीत आदि गुण विरोधी आहार, विहार, औषधी की योजना करनी चाहिए। भोजन में पचने की दृष्टीसे हल्के, क्रम तेल-घी युक्त पदार्थ, योग्य मात्रा में व्यायाम और औषधी स्वरुप में गुग्गुल (पुराण) कल्प की योजना की जा सकती है।

वातादोष का महत्त्व (वात प्रशस्ति)

पित्तं पंगुः कफ पंगुः पंगवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥ ... शा. पू. खं. ५/४३

शरीर की सभी गतियों का प्रेरक वायु ही होता है। पित्तदोष, कफदोष, सप्तधातु, मल ये सभी शरीर घटक पङ्गु होते हैं। वायु की सहायता के बिना वे कोई भी कार्य नहीं कर सकते। वात दोष इनकी क्रियाओं को नियंत्रित करता है।

वातदोष के उपरोक्त कार्यों का महत्व समझकर ग्रंथकारों ने भी उसे शीर्षस्थ (अति उच्च / महत्वपूर्ण) स्थान प्रदान किया है।

वायु आयुर्बलं वायुः आयुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्व प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥ ... च. चि. २८/२

शरीर, इंद्रिय, सत्त्व, आत्मा का संयोग वायु के कारण ही बना रहता है। अर्थात् आयुष्य बना रहना साक्षात् वायु पर निर्भर है। इसी प्रकार शरीर घटकों को बाह्य प्राण द्रव्य की प्राप्ती करा कर शरीर बल बनाएं रखने के लिए वायु ही जिम्मेदार होता है। अतः रांपूर्ण विश्व पर वायु का ही प्रभुत्व होता है।

स्वयंभूरेव भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः।
स्वातंत्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात् तथैव च॥
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः।
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्॥ ...सु. नि. १/५, ६

इन सभीं कारणों से ही वायु 'स्वयं भगवान' है। भगवान वायु भूतकारण, भूतरक्षक, भाव-अभावकर, सुख-असुखकर, मृत्यु, यम, नियंता, प्रजापती, अदिती, विश्वकर्मा, विश्वरुप, सर्वग, सर्वतंत्रोत्पादक, सर्व भावों का सूक्ष्म स्वरुप, सर्वव्यापि, विष्णु, सर्व लोकव्यापि है।

संक्षेपतः, विश्व की उत्पत्ती, स्थिति, विनाश इन घटकों को वायु ही जिम्मेदार होता है, और इसीलिए वायु साक्षात् 'भगवान' ही है।

वात दोष – षड्रस संबंध

१) वात प्रकोपक रस

कटु, तिक्त, कषाय रसात्मक द्रव्य से वातवृद्धि होती है।

उदा.	कटु	...	मिर्च, लौंग, धनिया, जीरा, काली मिर्च, अजमोदा
	तिक्त	...	करेला, जोरई, महानिंब, हिंगु
	कषाय	...	सुपारी, अनार, सहिअन, तुलसी

२) **वात शामक रस**

मधुर अम्ल, लवण, रसात्मक द्रव्य से वात शमन होता है।

उदा. मधुर ... जलेबी, दूध, घृत, गन्ना, केला

अम्ल ... इमली, तक्र, नींबू.

लवण ... नमक

वातदोष एवं सप्त धातु संबंध

सप्त धातुओं में से अस्थिधातु एवं वात दोष का आश्रयआश्रयी संबंध होता है। वातवृद्धि होने पर अस्थि धातु का क्षय होता है और अस्थिवृद्धि होने पर वातक्षय।

दोष (आश्रयी)	⇒	धातु मल (आश्रय)
वात	⇒	अस्थि

वात

१	प्राण वायु	सूक्ष्म, लघु, विशद, इन्द्रियधृक्	नाभस वायु
२	व्यान वायु	चल	वायवीय वायु
३	समान वायु	रुक्ष, अग्निसमीपस्थ	तैजस वायु
४	उदान वायु	शीत	आप्य वायु
५	अपान वायु	खर, गंधबहुल	पार्थिव वायु

प्रकरण ७

पित्त दोष

सृष्टी में उपस्थित अन्न, जल आदि उपयुक्त घटकों का सेवन करने के पश्चात् इन विजातीय घटकों को शरीरसात्म्य भाव में रुपान्तरित करने के लिए पचन प्रक्रिया आवश्यक है। शरीर में पचन, परिणमन का कार्य पित्तदोष के द्वारा किया जाता है।

१) **व्युत्पत्ती**

तप् सन्तापे ; ... सु. सू. २१/५

पित्त शब्द में प्रमुख शब्द है - 'तप्'। इस शब्द से संताप, उष्णता, ज्वलन प्रक्रिया, रंग बदलना आदि अर्थ सूचित होते हैं।

२) **स्वरुप**

पित्तं आग्नेयम्। ... सु. सू. ४२/५

पित्त अग्नि के सदृश दाहक है।

३) **संघटन**

पित्तदोष पांचभौतिक है, तथापि इसमें तेज महाभूत का आधिक्य होता है।

४) **पर्यायी नाम**

पित्त के लिए अग्नि इस शब्द का उपयोग अनेक स्थानों में दिखाई देता है। विशेषतः सुश्रुताचार्य ने पित्तप्रकार का वर्णन करते हुए अग्नि यही पर्यायी शब्द प्रयुक्त किया है। उदा. पाचक पित्त के बजाए पाचकाग्नि, रंजक पित्त के बजाए रंजकाग्नि आदि।

वैश्वानर, वह्नि, पावक, अनल ये भी पित्त के पर्यायी नाम हैं।

५) **पित्त के गुण**

पित्तं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। ... वा. सू.१/११

पित्त के सभी गुण पचन कार्य में प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष प्रकार से सहायता करते हैं।

- **सस्नेह – स्नेहसहित**

पचन क्रिया में यह गुण उपयुक्त है।

पित्त के द्वारा अन्न पचन होने के दौरान अन्न को 'मार्दवता' प्रदान करने का कार्य 'द्रवत्व स्नेह' गुण के कारण होता है। पचन, परिवर्तन के लिए मर्यादित मात्रा में स्निग्धता आवश्यक होती है। अर्थात्, कफदोष के सदृश प्रचुर स्निग्धता पित्त में नहीं होती। प्राकृत पचन के लिए स्नेहगुण की आवश्यकता निम्न व्यावहारिक उदाहरण से स्पष्ट होती है। भोजन पकाते समय अग्नि के द्वारा पचन होने के दौरान, तड़के के स्वरुप में तेल, घी इनका उपयोग किया जाता है। तेल, घी की मात्रा कम होने पर पदार्थ जल जाता है।

- **तीक्ष्ण**

शोधने तीक्ष्णः।

इस गुण से भेदन का सामर्थ्य (Penetrating Power) स्पष्ट होता है। अन्न पचने के लिए अणुरेणु तक पहुँचाने का कार्य तीक्ष्ण गुण के कारण होता है। तीक्ष्ण गुण से संघात भेद होता है, अर्थात् अन्न कण विलग हो जाते हैं। विकृत तथा अत्यधिक पित्त वृद्धी के कारण अवयवों पर, अंतडीयों पर, क्षत, व्रण उत्पन्न होते हैं। उदा. आमाशयगत व्रण (Peptic Ulcer)

- **उष्ण**

स्वेदने उष्णः।

उष्णता का संबंध साक्षात् पचन से आता है। अतः उष्ण, तीक्ष्ण ये पित्त के गुण समझे जा सकते हैं। अर्थात् उष्णता भी यथावश्यक, सुयोग्य मात्रा में अपेक्षित है। उष्ण गुण के कारण पदार्थ के रुप, रस, गंध में परिवर्तन, बदलाव होते हैं, अर्थात् पदार्थ का पचन होता है।

अग्निमहाभूताधिक्य के कारण पित्त में उष्ण गुण होता है। यह गुण स्त्रोतसों को संकोचन से परावृत्त करने के लिए अर्थात् उन्हें प्राकृत स्थिति में बनाएं रखने के लिए तथा उन्हे कार्य करने के लिए सहायक होता है।

- **लघु**

लंघने लघुः।

पचन के लिए लाघवता आवश्यक होती है। प्राकृत पचन होने पर लाघवता प्राप्त होती है। अतः ठीक से पकाए हुए पदार्थ पचन की दृष्टीसे हल्के होते हैं। लघु गुण उष्ण, तीक्ष्ण गुणों के साथ सहायक होता है। पित्त में उष्ण गुण के कारण लाघवता उत्पन्न होती है।

- **विस्त्र**

विस्त्र का अर्थ है - दुर्गंधीयुक्त। उल्टी अथवा मल से मलीन पित्त के कारण दुर्गंधी आती है।

- **सर**

सर व्याप्ति शीलम् सरण शीलम्। प्रेरणे चलः।

व्याप्ति का अर्थ है - घेरना।

सरणम् शीलम् का अर्थ है - आगे बढ़ने का स्वभाव (फैलना)।

अन्न पचन के लिए अन्न को चारों ओर से घेर कर स्त्रवण की आवश्यकता होती है, जो सर गुण के कारण पूर्ण होती है।

- **द्रव**

विलोडने द्रवः।

द्रवत्व यह आप महाभूतानुबंध का परिणाम है। उष्णता के कारण पदार्थ को द्रवता प्राप्त होती है। पचन के लिए आवश्यक मात्रा में द्रवता पित्त में होती है। द्रव गुण की उपस्थिती के कारण पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण गुण का अतिरेक नहीं होता। घन पदार्थों को पचन के लिए आर्द्र बनाने के लिए विद्रावणार्थ इस गुण की सहायता होती है।

चावल पकाने (पचन करने) के दौरान पानी इस्तमाल न करने पर अथवा कम मात्रा में पानी इस्तमाल करने पर चावल जल जाते हैं (ठीक से नहीं पकते) यह व्यावहारिक अनुभव है।

अन्य गुण

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलपितम् तथैव च ।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥ ... सु. सू. २१/११

१) **रौक्ष्य** – उष्ण गुण का परिणाम, उष्णता के कारण पदार्थ रुक्ष हो जाता है।

२) **विशद** – क्षालने विशदः।

उष्ण तीक्ष्ण गुण का परिणाम - जल क्लेदाकर्षक गुण - वात के विशद गुण से अधिक साफ (निर्मल)।

३) **प्राकृत वर्ण** – नील अथवा पीतवर्णी।

विकृत वर्ण – हरीत वर्ण।

४) **रस** – पित्त अम्ल एवं कटुरसात्मक होता है। (चरकाचार्य)

सस्नेहं उष्णं तीक्ष्णं च अम्लं सरं विस्र कटु। ... च. सू. १/५९

सुश्रुताचार्य के अनुसार, नैसर्गिक प्राकृत अवस्था में पित्त का रस कटु होता है, और अम्ल रस यह विदग्ध पित्त का गुण है।

शारंगधर ने पित्त के तिक्त रस का भी वर्णन किया है।

५) **सत्व गुण**

पित्तं सत्वगुणोत्तरम्। ... शा. पू. ख. ५

पित्त में सत्त्वगुण का अधिक्य होता है।

६) **पित्त के सामान्य कार्य**

पित्तं पक्त्युष्मदर्शनैः।

क्षुतृट्रुचि प्रभामेधाधीशौर्य तनुमार्दवैः। ... वा. सू.

Hunger

पक्ति – पक्ति का अर्थ है - पचन अथवा परिणमन।

सभी कार्यों में पचन होकर, सृष्टी से प्राप्त बाह्य पदार्थों का शरीरोपकारक घटकों में परिणमन होता है। सृष्टी से प्राप्त शद्व, रुप, रस, गंध इन सभी में शरीर अनुकूल स्वरुप का बदलाव (पचन) लाया जाता है। पचन के बिना ये सब शरीर सात्म्य नहीं हो सकते। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार, 'पचन' शद्व से 'आहार पचन' के साथही विभिन्न ध्वनी के रंग, रुप, गंध को शरीर के अनुकूल स्वरुप में परिवर्तित कर उनका स्वीकार करना अपेक्षित है।

104 104 104 104 104

किसी भी व्याधि की उत्पत्ती में 'पचन विकृत होना' इस महत्त्वपूर्ण कारण का आयुर्वेद ने निर्देश किया है।

रोगाः सर्वेऽपि मंदेग्नौ।

उष्मा – उष्मा अर्थात् उष्णता।

सुयोग्य मात्रा में उष्णता शरीर व्यापार (शारीर क्रिया) चलाने के लिए आवश्यक है। साथही शरीर में होने वाले चयापचय प्रक्रिया के द्वारा भी उष्णता निर्माण होती है। शरीर तापमान संतुलित रखने का काम पित्तदोष करता है। तीव्र ज्वर में (High fever) पित्तवृद्धी के कारण शरीरोष्मा अत्यधिक मात्रा में बढ़ जाती है।

दर्शन – दर्शन का अर्थ है - देखना, रुपग्रहण करना।

चक्षुरेंद्रिय की उत्पत्ती 'तेज' महाभूत से होती है और पित्त भी तेज महाभूत प्रधान द्रव्य है। इसी लिए स्वाभाविक रुप से दर्शन कर्म पित्त के द्वारा ही होता है। आलोचक पित्त के द्वारा, नेत्र में रुप पचन का कार्य होता है।

क्षुत् – **पित्त का प्रमुख कार्य** – क्षुत अर्थात् क्षुधा, भूख लगना।

भूख का अहसास जताने का कार्य प्राकृत पित्त करता है। प्रतिक्षण शरीर में पचनक्रिया चलती रहती है तथा नव-नवीन घटकों की निर्मिती होती रहती है। इसके लिए बाहर से आहार्य घटक प्राप्त करने की आवश्यकता भूख इस संवेदना के द्वारा पित्त प्रकट करता है। भूख यह घटना शरीरांतर्गत पचन कार्य सुव्यवस्थित चलने का प्रमाण है। बीमार व्यक्ति में कुछ खाने की इच्छा नहीं होती, भूख नहीं लगती और जैसे-जैसे व्याधि ठीक होती जाती है, तो उसे भूख लगने लगती है। भूख कम या ज्यादा लगने के अनुसार अग्निपरीक्षा की जा सकती है।

तृट् – तृट् का अर्थ है - प्यास (तृष्णा)।

शरीरांतर्गत पित्त के पचन कार्य में अल्प द्रवत्व आवश्यक होता है। यह जरूरत तृष्णा के अहसास से महसूस होती है। साथही पित्त की उष्णता अत्यधिक बढ़कर शरीर को हानी न पहुँचे यह दक्षता तृट् संवेदना के द्वारा ली जाती है।

उदा. तीव्र ज्वर में पित्त का उष्ण गुण बढ़ता है। इस दौरान शरीर तापमान बढ़ने से जल प्राशन की इच्छा उत्पन्न होती है।

रुचि – रुचि का अर्थ है - स्वाद, अच्छा लगना।

यह शरीर के पित्त की पचनशक्ती प्राकृत होने का प्रमाण है। अन्न का सुयोग्य पचन होने पर मुख की रुचि निर्भर होती है। आमाशय एवं आंत्र स्थित अन्न का जाठराग्नि द्वारा सम्यक् पचन होने पर हृदय, मलाशय शुद्ध हो जाते है। इस शुद्धता पर ही रुची निर्भर होती है।

जिव्हा – १) निराम - स्वच्छ, स्वादांकुर युक्त, स्वाभाविक स्वाद महसूस होता है।

२) साम - स्वाद महसूस नहीं होता।

प्रभा – प्रभा का अर्थ है - त्वचा की कांति, शरीर तेज, ताजापन, प्रसन्न वदन।

शरीर के सप्त धातु सुस्थिती में होंगे, धातुओं की सारता (गुणवत्ता) उत्तम होगी, धातुओं में पचन उत्तम होगा तो ही इन सब की प्राप्ती हो सकती है। त्वचा की कांति, विशेषतः रसरक्त के संदर्भ में पचन प्राकृत होने का निर्देश करती है।

मेधा – **पित्त सत्वगुणोन्तरम्।** ... शा. पू. ५

मेधा का अर्थ है - ग्रंथ अवधारण शक्ती।

मन एवं बुद्धी के संदर्भ में पचनक्रिया सुव्यवस्थित होगी तो साधक पित्त के प्राकृत कार्य का अनुमान होता है। मन एवं शरीर को सुस्थिति परस्परावलंबी होती है। अतः शारीरिक स्तर पर पित्त का पचन कार्य सुयोग्य प्रकार से हो रहा होगा तो मन, बुद्धि के व्यापार सुव्यवस्थित चलते रहते हैं। पित्त में सत्त्वाधिक्य होता है, और इसीसे मेधा यह होता है। (मेधा = ग्रंथावधारणशक्ती)

धी – धारण शक्ति, धैर्य।

शौर्य – जो कार्य किसी सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए असंभव है, वह आसानी से कर गुजरने की क्षमता।

शौर्य का अर्थ है - पराक्रम, शूरता।

पित्त का पचन कार्य प्राकृत प्रकार से हो रहा होगा तो सप्त धातुओं का धारण कर्म सुव्यवस्थित प्रकार से होता है। साथही शरीरबल तथा मानसबल वृद्धिंगत होकर शूरता निर्माण होती है।

तनुमार्दव – नाजुक, मृदु शरीर।

रस-रक्त के संदर्भ में प्राकृत पचन क्रिया त्वचा की सुकुमारता से स्पष्ट होती है।

पित्त कार्य की अग्निशक्ति से तुलना

पित्त के संदर्भ में अनेकों उल्लेखों में अग्नि यह शब्द इस्तमाल करने से पित्त और 'अग्नि यह एकही है' ऐसा संभ्रम निर्माण हो सकता है। इस संदर्भ में निम्न श्लोक महत्त्वपूर्ण है।

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति।

तद् यथा पक्तिम् - अपक्तिम्, दर्शनम् अदर्शनम्, मात्रामात्रात्वम् उष्मणः, प्रकृति विकृति वर्णौ, शौर्य, भयं, क्रोधं हर्ष, मोहं प्रसादं इत्येवमादीनाच अपराणी द्वंद्वानिती॥ ... च. सू.

गुण तथा कर्म युक्त 'पित्त' यह द्रव्य है और अग्नि यह पित्त के आश्रय से रहने वाली शक्ती है। पित्तांतर्गत अग्नि यदि प्राकृत अथवा कुपित हो तो उसके अनुसार शुभ तथा अशुभ कार्य करता है। उदा. पचन-अपचन, दृष्टीज्ञान-दृष्टीनाश, शरीर तापमान योग्य-अयोग्य मात्रा में रखना, प्राकृत-विकृत वर्ण, शौर्य-भय, हर्ष-क्रोध, प्रसाद-मोह आदि। अग्नि के केवल उल्लेख से ही उष्ण, तीक्ष्ण, पचन यह कार्य समझ में आते हैं। पित्त में उष्ण, तीक्ष्ण, पचन ये गुण प्रधान हैं ही (उष्मापित्तादृते नास्ति) साथही सस्नेह, द्रव, सर, विस्त्र ये गुण भी हैं। पचन यह भी पित्त का ही कार्य है, परंतु इसके अतिरिक्त और भी कार्य पित्त के जिम्मे होते हैं।

७) पित्त के कार्य के माध्यम

१) पित्त का पचन कार्य प्रत्येक अणुरेणु में होना अपेक्षित होता है। इसके लिए रसरक्त का माध्यम सहायक होता है। पित्तदोष और रक्तदोष का संबंध तो अत्यंत घनिष्ठ होता है। इन दोनों के गुणकर्म में अधिक मात्रा में साधर्म्य होता है। अतः पित्तदोष बिगडने से रक्तविकृती उत्पन्न हो सकती है।

२) अंतः कोष्ठ, यकृत आदि स्थान में पाचक स्त्राव निर्माण करने वाली ग्रंथीयाँ भी पचन की दृष्टी से उपयोगी माध्यम ही हैं।

८) पित्तदोष के सामान्य स्थान

- **ते व्यापिनो ऽ पि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥** ... अ. हृ. सू.
- **नाभिरामाशयः स्वेदोलसीका रुधिरं रसः।**
  दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥ ... वा.सू. १२/२

त्रिदोष सर्व शरीर व्यापी होते हैं। 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से हृदयप्रदेश में कफाधिक्य, हृदय से नाभी तक पित्ताधिक्य और नाभी अधोप्रदेश में वातदोषाधिक्य होता है।

पित्त के पचन तथा तत् संबंधित कार्य आधिक्य से जिन स्थानों में दिखाई देते हैं, वे स्थान उपरोक्त श्लोक में वर्णित हैं।

नाभि – अर्थात् नाभि आसमंत प्रदेश। पचन व्यापार से संबंधित आमाशय, ग्रहणी, पच्यमानाशय, यकृत ये सभी अवयव इसी प्रदेश में स्थित हैं। वातदोष के विचार में जैसे पक्वाशय स्थान महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार पित्तदोष के संदर्भ में नाभि स्थान महत्त्वपूर्ण है। पित्तविकृती एवं चिकित्सा का स्थान नाभी ही है। पित्त की विरेचन चिकित्सा जहाँ की जाती है, वह स्थान - नाभि।

आमाशय – चरक टीकाकार, चक्रदत्त के अनुसार, ऊर्ध्व आमाशय यह कफ का और अधो आमाशय यह पित्त का स्थान है।

स्वेद (Sweat) – पित्त के उष्ण गुण का नियंत्रण स्वेद के द्वारा होता है। जलस्वरुप में अधिक उष्णता शरीर से बाहर उत्सर्जित करने में सहायक होता है।

लसिका (Lymph) – 'लसिका' रस का ही एक भाग है। त्वक् स्थित जल सदृश अंश। इससे नूतन धातु परिणमन में सहायता होती है।

रुधिर – **असृजः पित्तम्।**
रक्त एवं पित्त का अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। पित्त यह रक्तधातु का मल है। पित्त की निर्मिती होती है, और अच्छ पित्त रक्ताश्रय से रहता है।

रस – शरीर में प्रत्येक अणुरेणु के पचन कार्य के लिए जिम्मेदार घटक पहुँचाने का कार्य रसरक्त के द्वारा किया जाता है।

दृक् – नेत्र के द्वारा पित्त के सभी गुण तत्काल व्यक्त किये जाते हैं। चक्षुरेंद्रिय में रुप इस महत्त्वपूर्ण अर्थ का पचन पित्त के द्वारा होता है।

स्पर्शनेंद्रिय – इसका अधिष्ठान त्वचा है। त्वचा के माध्यम से विभिन्न स्पर्श संवेदनाओं का (खुरदरा, मुलायम, शीत, उष्ण) पचन होता है। साथही त्वचा पर प्रयुक्त बाह्यतः लेप आदि द्वारा औषधी प्रयोग का पचन पित्त ही करता है।

९) पित्तदोष के प्रकार

पाचकं रंजकं चापि साधकं आलोचकं तथा।
भ्राजकं चेति पित्तस्य नामानि स्थानभेदतः ॥ ... भा.प्र.पू.खं.३/१२१

१) पाचक पित्त (पक्तिकृत)

पित्तं पंचात्मकं तत्र पक्वामाशयमध्यगम्।
पंचभूतात्मकत्वे ऽ पियत्तैजसगुणोदयात्।
त्यक्तद्रवत्वं पाकदिकर्मणाऽनलशद्वितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक्तथा ॥
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणाम् अपि अनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्समृतम् ॥ ...अ.हृ.सू. १२/१०-१२

१) **स्थान** – पाचक पित्त यह पित्त के पाँच प्रकारों में से एक है। पक्वाशय और आमाशय के दरम्यान स्थित शरीर भाग (ग्रहणी) में मुख्यतः पचन प्रक्रिया होती है। यहीं पाचक पित्त का स्थान बताया गया है।

२) **संघटन** – यद्यपि पाचक पित्त पंचमहाभूतों से बनता है, उसमें तेज गुण का आधिक्य होता है।

३) **कार्य** – पचन कार्य करने के लिए पित्त स्थित द्रवत्व का अंश छोड़ना पड़ता है (कम होता है।)। इस पित्त प्रकार के पाक (पचन) आदि कर्म के कारण उसे अनल (अग्नि) कहा जाता है। अन्न पचन कर सार किट्ट भाग के विभजन का कार्य किया जाता है।

४) पाचक पित्त के पचन कार्य की उपयुक्तता एवं महत्त्व

ग्रहणी स्थित पाचक पित्त, शेष पित्त प्रकारों को बल तथा ताकद प्रदान करता है, उन्हें कार्यप्रवण करता है। अर्थात्, उदर में मुख्य अन्नपचन सुव्यवस्थित होने पर शरीर के बाकी स्थानों में होने वाले पचन व्यापार भी सम्यक् प्रकार से होते हैं।

वस्तुतः किसी भी पित्त प्रकार का कार्य पचन करना यही होता है। तथापि इसी पित्त प्रकार को पाचक पित्त कहने का कारण क्या है ? बाह्यसृष्टी में उपस्थित अन्न, जल आदि जरुरी पदार्थों का पाचन करने का कार्य इस पित्त प्रकार के द्वारा होता है, अतः यह योगरुढ संज्ञा दी गई है। पाचक पित्त को ही पाचकाग्नि, कोष्ठाग्नि, जठराग्नि आदि संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है।

पाचक पित्त के द्वारा होने वाला पचन यह स्थूल पचन, सूक्ष्म पचन प्रक्रिया में प्रारंभिक पचन होता है। इसी अवस्था में पाचन पूर्ण न होकर अन्न अर्धपक्व स्वरुप में रहने पर उसका परिणाम अगले प्रकारों पर, धात्वाग्नि पर होता है और परिणाम स्वरुप, अग्नि के सलग्न कार्य ठीक से नहीं हो सकते। अतः नाभिस्थित अग्नि के अंश अन्य अग्नि में होते है, ऐसा कहा जाता है।

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेः अंशः धातुषु संश्रिताः। ... वा. सू.

२) रंजक पित्त (रागकृत)

- **आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रस रंजनात्।** ... अ. ह. सू. १२/१३
- **यत्तु यकृतप्लीहोः पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निः इति संज्ञा स रसस्य रागकृत उक्तः।** ... सु. सू. २१/१०

रंजन का अर्थ है - रंगना।

जो आमाशय में उपस्थित होता है, वह रंजक पित्त। अन्न के द्वारा रक्तधातु पोषक अंश प्राप्त होते हैं। उनसे संयुक्त होकर रक्तोत्पत्ती की पूर्वतैयारी करता है। संक्षेपतः, रस को लाल रंग प्राप्त होकर रक्त निर्माण की जो गतिविधि होती है, उसमें रंजक पित्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

जल महाभूत सदृश रस धातु यकृत, प्लीहा आदि अवयवों में आने पर रक्तधातु की निर्मिती के लिए उपयुक्त तथा पूरक बदलाव (परिणमन) रंजक पित्त करता है।

रक्तधातु का लाल रंग रंजकपित्त के कारण ही होता है। अतः पाण्डु (Anaemia) व्याधि में शरीर पाण्डूरता, सफेद, फीकापन इन उपद्रवों के पीछे रंजकपित्त में हुआ बिगाड़ (वैगुण्य) यह भी कारण हो सकता है।

संक्षेपतः, रंजक पित्त के द्वारा रक्त को सुयोग्य वर्ण प्राप्त होने पर ही रक्त शरीरवर्ण प्राकृत बनाएं रखने में सक्षम होता है।

३) साधक पित्त (मेधाकृत्, ओजकृत्)

- **बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्।**
  साधकं हृद्गतं पित्तं॥ ... अ. ह. सू. १२/१
- **यत् पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन साधको ऽ ग्निः इति संज्ञा।**
  सः अभिप्रार्थित मनोरथ साधन कृत् उक्तः॥ ... सु.सू.२१/१०

बुद्धी, मेधा, अभिमान आदि संदर्भ में अभिप्रेत अर्थ प्राप्त कराने वाला साधन यही साधक पित्त है। साधक पित्त हृदय में रह कर बुद्धी अथवा मन के कार्य सुव्यवस्थित प्रकार से कराता है। बुद्धी में तम, कफ आदि आवरण निर्माण करने वाले घटक होंगे तो उन्हें दूर कर, मन को विषय ग्रहण कार्य के लिए प्रवृत्त करने में साधक पित्त सहायता करता है। अतः उसे 'मेधाकर पित्त' भी कहा जाता है। मन के सुयोग्य नियंत्रण से, शरीर में स्थित श्रेष्ठ शुक्रधातु सुस्थिति में रहकर प्राकृत ओज निर्मिती होती है। अतः साधक पित्त को 'ओजोकर पित्त' भी कहा जाता है।

पित के सामान्य कार्य का अध्ययन पहले ही किया गया है। इस कार्य में उल्लेखित मेधा, धी, शौर्य आदि कार्य साधक पित्त के कारण ही होते हैं।

बुद्धी का अभिप्रेत अर्थ है - निश्चय करना।

निश्चयात्मिका बुद्धी।

किसी विषय में सारासार विचार कर निर्णय लेना, निष्कर्ष निकालना, शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयों का ज्ञान यह प्रत्येक व्यक्ति के बुद्धीसामर्थ्य पर (साधक पित्त की गुणवत्ता पर) निर्भर होता है।

उदा. अध्यापक सभी छात्रों को एकही विषय पढ़ाते है। परंतु उसका आकलन प्रत्येक छात्र को अलग स्वरुप से तथा मात्रा में होता है। अर्थात् ज्ञान का भी साधक पित्त

के द्वारा पचन कराना पड़ता है। अतः प्रगाढ़ ज्ञान छात्रों को केवल सुनाना उपयुक्त नहीं बल्कि वह ज्ञान उन्हें समझता है, या नहीं यह भी महत्वपूर्ण है। अन्यथा अध्ययन-अध्यापन का प्रयत्न निष्फल हो जाता है।

किसी विषय के आकलन की प्रक्रिया धर्म, अर्थ, मोक्ष, काम इनमें से जिस पुरुषार्थ प्राप्ती की अभिलाषा होती है, उसके अनुसार बदलती है।

उदा. रक्तदान एक उदात्त कर्म है। किंतु धर्म यह पुरुषार्थ साध्य करने के लिए कुछ व्यक्ति रक्तदान कर्तव्य भावना से करते है तो कुछ अर्थ यह पुरुषार्थ (?) साध्य करने के लिए।

अतः ग्रंथकार कहते हैं -

साधको धर्मार्थ काममोक्ष लक्षण पुरुषार्थस्य साधकः इत्यर्थः।

...सु.सू.,डल्हण

मेधा का अर्थ है - आकलनशक्ती, अर्थात् समझदारी।

यह साधक पित्त पर ही निर्भर है।

अभिमान अर्थात् अहंकार, 'अहं' अथवा स्वयं का अभिमान। संक्षेप में, 'देशकाल आत्म विज्ञान' प्राकृत होने के लिए साधक पित्त की प्राकृतता आवश्यक है।

साधक पित्त का स्थान – हृदय के संबंध में स्पष्टीकरण

मन तथा बुद्धी के संदर्भ में होने वाले कार्य का नियंत्रण शिर प्रदेश में मस्तिष्क की कुछ विशिष्ट रचनाओं में ही होता है। यह प्रत्यक्ष घटना है। इसीलिए बुद्धी के संदर्भ में साधक पित्त का स्थान मस्तिष्क, मस्तुलुंग (शिरप्रदेश में स्थित संविन् हृदय) यह मानना चाहिए, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

कुछ विद्वानों के अनुसार, साधक पित्त और रक्त विक्षेपण करने वाला उरस्थ हृदय निश्चित ही एक-दूसरे से संबंधित हैं, क्यों कि व्यवहार में भी अति चिंता, अति क्रोध के कारण हृदकार्य पर परिणाम होता दिखता है।

साधक पित्त की विकृती के कारण बुद्धिमांद्य, आयु के अनुसार बुद्धी की वृद्धी न होना तथा मनोदौर्बल्य के कारण उत्पन्न भय, मोह आदि उपद्रव होते हैं।

४) भ्राजक पित्त (उष्माकृत)

- **त्वक्स्थं भ्राजकं शाजनात त्वचः।** ... अ. हृ. सू. १२
- **यत्तु त्वचि पित्तं, तस्मिन् भ्राजको ऽग्निरितिसंज्ञा।**
  सः अभ्यंगपरिषेक अवगाह अवलेपादिनां
  क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः। ... सु.सू.२१/१०
- **भ्राजनं इति दीपनं प्रकाशनं।**

स्थान

सुश्रुत ने भ्राजक पित्त को ही 'भ्राजकाग्नि' कहा है। त्वचा में कांती, छाया, वर्ण (Texture, Complexion, Colour) प्रकाशित करने का, प्राकृत रखने का कार्य होता है। डल्हण टीकाकार ने छाया और प्रभा में भेद स्पष्ट किया है। छाया केवल नजदीक होने पर ही समझती है और प्रभा का ज्ञान दूर से भी होता है। भ्राजक पित्त में भ्राजन इस मूल शद्ध का अर्थही 'प्रकाशित करना' यह है। त्वचा स्पर्शनेंद्रिय का अधिष्ठान है। मुलायम-खुरदरा, उष्ण-शीत तथा स्पर्श की विविध छटाएँ भ्राजक पित्त के कारण ठीक से समझी जा सकती है। स्पर्श इस अर्थ का सम्यक् पचन होता है।

अभ्यंग (शरीर पर तेल मलना), परिषेक (शरीर के किसी विशिष्ट स्थान पर अथवा संपूर्ण शरीर पर सिद्ध औषध की धारा बहाना), अवगाह (शरीर का कोई विशिष्ट स्थान अथवा संपूर्ण शरीर सिद्ध औषधी द्रव्य में डुबोकर रखना / टब बाथ सदृश कल्पना), लेप इन औषधी द्रव्य का उपयोग किया जाता है। इस औषधी का पचन, शोषण करने का कार्य भ्राजक पित करता है। अनेक युवक, तारुण्यपिटिका व्याधि में विविध लेप लगाते हैं। किन्तु लेप में स्थित औषधी का त्वचा के द्वारा प्रवेश न होने पर उस लेप का उपयोग नहीं होता। लेप आदि बाह्यतः प्रयुक्त पदार्थ का शरीर पर परिणाम दिखाई देता है, अर्थात् निश्चितही उनका शरीर में शोषण होता है। त्वचा के द्वारा होने वाली एक और महत्वपूर्ण गतिविधि है - स्वेद नियंत्रण। भ्राजक पित्त इस कार्य से भी संबंधित होता है।

त्वचा के द्वारा शोषण होता है, यह साबित करने के लिए एक आसान प्रयोग किया जा सकता है। चंदन, अनंतमूल आदि शीत द्रव्य का लेप दाह अथवा जलन कम करने के लिए करें। यह लेप सूखने के पश्चात शुष्क चंदन, अनंतमूल चूर्ण, गरम पानी

में मिलाकर लेप करें। दूसरी बार वही द्रव्य उपयोग में लाकर प्रयुक्त किया लेप पहले की तुलना में कम उपयोगी होता है। अर्थात्, प्रथमतः प्रयुक्त किए लेप के उपयुक्त अंश का भ्राजक पित्त के कारण त्वचा के द्वारा शोषण पहले ही हो चुका है।

५) आलोचक पित्त (तेजकृत)

- **... रुपालोचनतः स्मृतम्। दृक्स्थमालोचकं ...।** ...अ.ह.सू.१२
- **यद्दृष्ट्यां पित्तं तास्मिन् आलोचका अग्निः इति संज्ञा,**
  स रुपग्रहण अधिकृतः । ... सु. सू. २१/१०

रुप + आलोचन = रुपग्रहण।

देखने की प्रक्रिया आलोचक पित्त के द्वारा होती है। रुप इस अर्थ का पचन किया जाता है। किसी वस्तू के दर्शन से सम्पूर्णतया (आकारमान, रुप, रंग आदि) होने वाला ज्ञान यही आलोचन है।

अति उन्नत पर्वत की ओर देखने के दौरान उसके विशिष्ट आकारमान की प्रतिमा आँखों में उभरती है और रुपज्ञान होता है। अर्थात् अतिउन्नत इस वस्तुका, शरीर अथवा आँखों के अनुरूप सुयोग्य परिणमन (पचन, बदल) होता है। यह आलोचक पित्त के कारण होता है।

आयुर्वेद के अनुसार, चक्षुरेंद्रिय तैजस है। इसी लिए तेज महाभूत प्रधान पित्त का उस स्थान में अस्तित्व एवं कार्य सहजता से समझ में आ सकता है।

भेलसंहिता में, आलोचक पित्त के चक्षुवैशेषिक तथा बुद्धिवैशेषिक ये दो प्रकार बताएं हैं। इसीसे नेत्र और मस्तिष्क के स्थान में रुप ग्रहण के संदर्भ में कार्य क्रमशः स्पष्ट होने में सहायता होती है।

पित्तविकृती

पित्तवृद्धी एवं पित्तक्षय इन विकृतीयों का विवेचन निम्न प्रकार से -

१) पित्त वृद्धि लक्षण

- **पीत - विण्मूत्र - नेत्र त्वक् क्षुत् - तृट् दाह - अल्पनिद्रता।**
  पित्तं (वृद्धं तु कुरुते)। ... वा. सू. १२/१४

- **पित्तवृध्दौ पीतावभासता संताप शीतकामित्वम् अल्पनिद्रतामूर्च्छा बलहानि इन्द्रियदौर्बल्यं पीतविण्मूत्रत्वं च नेत्रत्वंच।** ... सु. सू. १५/१८

१) **पीत** - अर्थात् पीलापन। विट् (पुरीष), मूत्र, नेत्र, त्वक् आदि स्थानों में पीलापन आता है। 'कामला' जैसे व्याधी में पित्तवृद्धी के कारण उत्पन्न नेत्र, नख एवं मूत्र का पीलापन सर्वपरिचित है। ग्रंथकारों ने भी पित्त का वर्ण पीला बताया है।

पित्तं उष्णं द्रवं पीतं नीलं ...। ... शार्ङ्गधर प्रथम खंड

२) **क्षुद्** - अत्यधिक मात्रा में भूख लगना। पित्त के अत्यधिक मात्रा में वर्धित उष्ण, तीक्ष्ण गुण के कारण यह होता है। आयुर्वेद ने भस्मक नामक व्याधि में पाचक पित्त की इस प्रकार से ही अत्याधिक वृद्धी वर्णन की है।

३) **तृट्** - ज्वर आदि व्याधियों में अत्यधिक वर्धित पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण गुण के कारण मुखशुष्कता उत्पन्न होती है। इसलिए द्रव पदार्थों की इच्छा उत्पन्न कर निसर्ग शरीर रक्षण करता है। इस स्थिति में चंदन, उशीर, षडंगोदक आदि स्वरुप का पित्तघ्न द्रव्यों से युक्त सिद्धजल दिया जाता है।

४) **दाह** - अति उष्ण वातावरण में, एकांतिक पित्तप्रकृती व्यक्ति में पित्तवृद्धी के कारण संपूर्ण शरीर में दाह, हस्त-पाद तल तथा नेत्र में जलन उत्पन्न होती है। उष्ण, तीक्ष्ण गुणों का यह परिणाम कम करने के लिए चंदन का लेप, दुग्ध से नेत्रपूरण आदि उपचार किये जाते हैं।

५) **अल्पनिद्रता** - अल्प निद्रा, पित्त वृद्धी के कारण शरीर-मन का दाह होकर बेचैनी, अस्वस्थता का अनुभव होता है। इसके कारण निद्रा नहीं आती अथवा खंडित होती है।

२) पित्तक्षय के लक्षण

पित्ते मन्दो ऽनलः शीतं प्रभा हानिः। ... वा. सु. ११/१६

१) **मन्दो अनल** – अर्थात् अग्नि मंद होना, अग्निमांद्य निर्माण होना। पित्तक्षय में उष्ण, तीक्ष्ण गुण कम होने से पाचक पित्त का कार्य सामर्थ्य कम होता है, अग्नि मंद होता है।

२) **शीतं** – उष्णता नियमन तथा शरीर तापमान प्राकृत रखना ये पित्त के कार्य हैं। पित्त कम होने पर शरीर में शैत्य की भावना निर्माण होती है।

३) **प्रभाहानि** – भ्राजक पित्त के कार्य में कमी आने से शरीर वर्ण का दीपन, प्रकाशन यह कार्य कम होता है और प्रभाहानि होती है। पित्त-रक्त का निकट संबंध होने से पित्त क्षय का परिणाम रक्त पर भी होता है और इसीलिए त्वचा की कांती विकृत होती है।

चिकित्सा सूत्र

पित्त वृद्धी अथवा क्षय द्रव्यतः, गुणतः अथवा कर्मतः इन तीन प्रकारों से होता है। पित्तवृद्धी में पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण, लघु आदि गुणविरोधी आहार, विहार, औषधी का सेवन करना चाहिए। अर्थात् भोजन में दूध, घी, शक्कर का उपयोग, योग्य मात्रा में निद्रा, मानसिक स्वास्थ्य बनाएं रखना और औषधी स्वरुप शतावरी, प्रवाल, गुलकंद का उपयोग किया जाता है।

पित्तक्षय में पित्त के गुण समान आहार-विहार, औषधी का उपयोग कर पित्त बढ़ाने का प्रयत्न करें। भोजन में अद्रक, लहसुन, मसालों के पदार्थों का समावेष होना चाहिए और औषधी स्वरुप हिंग्वाष्टक चूर्ण, शंखवटी आदि का उपयोग करें। इससे पित्तक्षयजन्य अग्निमांद्य आदि उपद्रव कम हो जाते हैं।

पित्तदोष एवं धातुसंबंध

दोष (आश्रयी)	⇒	धातु, मल (आश्रय)
पित्त	⇒	रक्त, स्वेद

पित्त दोष तथा रक्त का आश्रयाश्रयी भाव है।

पित्त दोष एवं षड्रस संबंध

१) **पित्त प्रकोपक रस** – अम्ल, लवण, कटु रसात्मक द्रव्य से पित्तवृद्धि होती है।

उदा. अम्ल ... इमली, तक्र, नींबू
लवण ... नमक
कटु ... मिर्च, लौंग, धनिया, जीरा, काली मिर्च, अजमोदा, लहसुन

२) **पित्त शामक रस** – तिक्त, कषाय, मधुर रसात्मक द्रव्य से पित्त का शमन होता है।

उदा. तिक्त ... करेला, जोरई, महानिम्ब, हिंगु
कषाय ... सुपारी, अनार
मधुर ... दूध, घृत, गन्ना, केला

पित्त

१	पाचक पित्त	अम्ल, विस्त्रगंधी, गंधबहुल	पार्थिव पित्त
२	रंजक पित्त	सर, श्लक्ष्ण	वायवीय पित्त
३	साधक पित्त	बुद्धी, मेधा पर कार्यकारी, व्यवायी	नाभस पित्त
४	आलोचक पित्त	दृष्टी से संबंधित	तैजस पित्त
५	भ्राजक पित	त्वचा में स्नेह उत्पादक	आप्य पित्त

शंतनू प्रकाशन

Visit us at

www.shantanuprakashan.com

For

- Special discounts (up to 40 %)
- Coaching Classes (Tuitions) of all subjects
- Seminars
- Various useful links for UG and PG students
- More details about us
- And much more useful links about Ayurveda.

प्रकरण ८

कफ दोष

शीर्यते तत् शरीरम् ।

इस निरुक्ती के अनुसार शरीर का प्रतिक्षण क्षरण होता रहता है । तथापि मृत्यू तक शरीर बना रहता है, क्यों कि क्षरण के साथही शरीर बनाएं रखने का कार्य भी सातत्य से चलता रहता है । शरीर घटकों का संयोग यह कार्य, त्रिदोषों में से कफदोष के द्वारा होता है । चय की क्रिया (संचय) होती रहने से ही कफ के कारण शरीरस्वरुप बना रहता है, यह कहना उचित होगा ।

१) **व्युत्पत्ती**

कैन (जलेन) फलति इति कफाः ।

फलति का अर्थ है - बढ़ना ।

जल संपर्क के कारण जिस घटक में वृद्धी होती है, उसे कफ कहते है । इस प्रकार जल तथा कफ का घनिष्ठ संबंध स्पष्ट होता है । इसी प्रकार कफ अथवा जल के कारण शरीर की वृद्धी होती है, यह भी स्पष्ट होता है ।

श्लिष अलिंगने । ... सु. सू. २१/५

श्लेष्मा शब्द 'श्लिष' इस मूल धातु से उत्पन्न हुआ है और उसका अर्थ है - परमाणुओं का अलिंगन अर्थात् संयोग करने वाला ।

२) **पर्यायी नाम - श्लेष्मा, बलास**

१) **श्लेष्मा** - श्लेष्मा इस शब्द मे मूल धातु है - 'श्लिष्' और 'श्लिष्' अलिङ्गने । ऐसा स्पष्टीकरण शास्त्रकारों ने किया है । संक्षेपतः, दो घटक निकट आने की प्रक्रिया इससे स्पष्ट होती है ।

२) **बलास** - बल का अर्थ है - ताकत, वजन, बल ।

ये कार्य कफ के कार्य से सुसंगत हैं ।

३) कफ का स्वरुप

श्लेष्मा सौम्यः।

कफ का सौम्य, स्थिर, शांत स्वरुप इससे स्पष्ट होता है।

४) कफ का संघटन

अम्भ पृथिविभ्यां श्लेष्मा। ... अ. सं. सू. २०/१

कफ पांचभौतिक है, तथापि पृथ्वी एवं जल महाभूताधिक्य।

५) गुण

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्ण मृत्स्नः स्थिरः कफः। ... अ. ह. सू. १/१२

कफ के संयोग, स्थिरता, मार्दव, बल इन कार्यों में प्रत्येक गुण किस प्रकार सहायक होता है, यह समझना महत्वपूर्ण है।

स्निग्धः – क्लेदने स्निग्धः। स्नेह मार्दवत् स्निग्धो बल वर्ण करस्तथा।

स्निग्धता यह कफ का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है। कफ घृत के सदृश स्निग्ध होता है, जिसके कारण आर्द्रता निर्माण होती है। स्निग्ध गुण आर्द्रता के कारण प्राप्त होता है। स्निग्धता के कारण मार्दव, मृदुता प्राप्त होती है और इसी से कोई भी संयोग चिरकाल बनाएं रखने में सहायता होती है। अतः शरीर चिरकाल बनाएं रखने के लिए स्निग्ध गुणी कफ का प्राकृतत्व आवश्यक है।

पित्तदोष की ईषत् स्निग्धता अधिकतर पचन कार्य में सहायक होती है और कफ की स्निग्धता पचन के साथही शरीर परमाणु संयोग में मदद करती है। साथही वह शारीरिक एवं मानसिक लचीलापन बनाएं रखने मे सहायक होती है।

शीत – स्तम्भने शीतः।

कफ की शीतता द्रवगुण के कारण होती है। कफ के स्तम्भक अथवा रोक कर रखने के गुण के कारण गतिविधि तथा उष्णता पर नियंत्रण रखा जाता है। अन्नपचन प्राकृत होने की दृष्टी से आंत्र की अनिर्बंध गतिविधि हानीकारक होती है। उस पर नियंत्रण शीत गुण के द्वारा किया जाता है। शीत गुण से कफ को स्त्यानता प्राप्त होती है और उष्णता से कफ का विलयन होता है। शीत गुण से स्तंभन होकर जरुरी शरीर घटक टिके रहते है और बृंहण में सहायता होती है। इसीलिए शीत प्रदेश निवासी व्यक्तियों की शारीरिक बनावट मजबूत होती है तथा उनकी कार्यशक्ती भी अधिक होती है।

गुरुः – यस्य द्रव्यस्य बृहणे कर्मणि शक्तिः सः गुरुः।

बृंहण अर्थात् वजन बढ़ने में कारण स्वरूप गुण अर्थात् गुरु। इससे संयोग अधिक मात्रा में तथा सुयोग्य प्रकार से होता है, ताकद बढ़ती है। गेहूँ, उडद ये कफसदृश गुरु गुण युक्त आहार्य पदार्थ हैं। कफ के बृंहण कार्य से गुरु गुण समझा जा सकता है। गुरु इस शद्ध से दो अर्थ अभिप्रेत हैं - १) पचने में भारी २) वजन में भारी

कफ के गुरु गुण के कारण शरीर में गौरवत्व उत्पन्न होता है और कफ के कारण सर्दी (प्रतिश्याय) होने पर नाक बंद हो जाता है।

मंद – शमने मन्दः। मन्दोयात्राकरः स्मृतः।

मंदगुण से धातुपरमाणुओं को स्थायीभाव प्राप्त होता है, विच्छेदन रोक दिया जाता है। किसी घटक में उत्पन्न उत्तेजित अवस्था वहीं-के-वहीं शमने करने का प्रयत्न शमन कहलाता है। यात्रा अर्थात् प्रवास। प्रवास के समानही शरीर परमाणुओं की चिरकाल बने रहने की सातत्यपूर्ण स्थिर प्रक्रिया समझी जा सकती है।

वायु नित्य गतिमान होता है। इस गति को भी नियंत्रित करना जरुरी है। मंद गुण के कारण यह कार्य होता है। मंद गुण के कारण धातु कम मात्रा में खर्च होते हैं।

श्लक्ष्ण – रोपणे श्लक्ष्णः।

श्लक्ष्ण का अर्थ है - चिकना।

इस गुण के कारण शरीर क्षरण, विचूर्णन, हानी भर जाती है। इसके उदाहरण स्वरुप बबूल की गोंद में उपस्थित श्लक्ष्ण गुण आकलनार्थ उपयुक्त होगा। नासा, मुख, कंठ, श्वासमार्ग, हृदय, फुफ्फुस आदि स्थानों में हवा, अन्न, जल आदि संदर्भ में लेन-देन नित्य चलती रहती है। अतः इस प्रकार के अवयवों का क्षरण कम करने के लिए श्लक्ष्ण गुण संरक्षण प्रदान करता है।

मृस्न – मृस्न का अर्थ है - चिपचिपा अथवा पिच्छिल।

इस गुण के कारण शरीर में उपलेपन (Coating) कार्य होकर शरीर घटकों की हानी टाली जाती है।

स्थिर – यस्य धारणे शक्तिः स स्थिरः।

स्थिर का अर्थ है - टिकाऊ / चिरस्थायी।

यह गुण वात के चल गुण के विरोधी है। गति के विरोधी होने के कारण धातुओं को स्थायीभाव प्राप्त होकर 'धारणात् धातवः।' यह कार्य सुयोग्य प्रकार से होता है। गुरुता तथा स्निग्धता इन दो गुणों के सम्मीलित परिणाम से स्थिरता प्राप्त होती है। इस स्थिरता से दो अर्थ अभिप्रेत है - १) एकही जगह में स्थिर।

२) सुनिश्चित आयुर्मान की प्राप्ती।

शारंगधरोक्त गुण

कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा।

तमो गुणाधिकः स्वादुः विदग्धो लवणः स्मृतः॥ ... शा. पू. खं. ५/३४

श्वेत - दिखाई नहीं देता, किन्तु जिस माध्यम में कफ जाता है, वहाँ श्वेतत्व निर्माण करता है।

तमोगुणाधिक - कफः तमोगुणाधिकः। ... शा. पू. खं. ५

कफदोष में तम गुण आधिक्य होता है।

रस-कफ प्राकृत अवस्था में स्वादु (मधुर) होता है, अर्थात् उसका स्वाद मीठा होता है और विदग्धावस्था में लवण (खट्टा) होता है।

६) कफ के सामान्य कार्य

- **संधि संश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण बल**

स्थैर्यकृत् श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्तः उदककर्मणा अनुग्रहं करोति॥

... सु. सू. १५/६

श्लेष्मा स्थिरत्व स्निग्धत्व संधिबंध क्षमदिभिः॥ ...अ.हृ.सू. ११/३

- **स्नेहोबंधा स्थिरत्वंच गौरवं वृषता बलम्।**
क्षमाधृतिः अलोभस्य कफकर्मा ऽ विकारजम्॥ ... वाग्भट

संधि संश्लेषण

इससे संधियों को स्थैर्य प्राप्त होता है। सर्वसामान्यतया रूप से, संधि से अस्थिसंधि का बोध होता है। किन्तु आयुर्वेद में संधि का इतना संकुचित अर्थ अभिप्रेत नहीं, बल्कि किसी भी २ घटकों, २ अवयवों, २ परमाणुओं का संयोग होने पर संधि

निर्माण होती है यह स्पष्ट किया है। इसीलिए अस्थि, स्नायु-संधि, सिरा-स्नायु-संधी ऐसे विविध प्रकारों का अध्ययन महत्वपूर्ण है। संधि शब्द का यह विस्तृत अर्थ समझते हुए, कफ दोष स्निग्ध, स्थिर, मृत्स्न गुणों से शरीर परमाणुओं को एक साथ संयुक्त होकर रहने की शक्ती प्रदान करता है, ऐसा कहा जा सकता है।

स्नेहन

बंध स्नेहयुक्त होना, अस्थि के संदर्भ में होने वाले संधि, उस स्थान में गतिविधियाँ प्राकृत रुप से होने के लिए स्नेह की उपस्थिती आवश्यक होती है।

स्नेहन का अर्थ है - स्निग्धता प्रदान करना। शरीर स्थित हर एक घटक में स्निग्धता स्नेहांश कफ के कारण ही है। इसीलिए वायु की क्रियाएं हो सकती हैं। धातुनाश टाला जाता है तथा धातुबल बढता है।

रोपण

शरीर पर व्याधिस्वरूप आघात होने पर शरीर के रस, रक्त, मांस आदि एक अथवा अनेक धातुघटकों का नाश होता है। इस समय संधानकर कफ आघात स्थान पर नूतन धातु परमाणुओं के द्वारा रोपण कर, शरीर को बनाएं रखने का काम स्वस्थित मृत्स्न तथा श्लक्ष्ण इन गुणों से करता है।

पूरण

पूरण का अर्थ है - रिक्तांग भरना। रोपण प्रक्रिया में मुख्यतः क्षरण की भरपाई अपेक्षित है। और किसी शरीर घटक में पूर्णतः न्यूनत्व उत्पन्न होने पर, पूर्णतः नाश होने पर पूरण स्वरुप के कार्य द्वारा नूतन धातु परमाणुओं का निर्माण होता है।

बलकृत

बल का अर्थ है - शारीरिक श्रम करने का सामर्थ्य, शक्ति। धातुओं को स्थिरत्व प्रदान कर, बृंहण कर, सभी धातुओं की गुणवत्ता बढ़ाने का कार्य कफ करता है। धातुकर्म सम्यक् होने पर बल बढ़ता है। अतः प्राकृत कफ अर्थात 'बल' ऐसा कहा जाता है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा। ... च. सू.

स्थैर्यकृत

कफ के स्थिर गुण के कारण धातुओं को स्थैर्य अथवा दृढता प्राप्त होती है, क्षरण

कम होता है। स्थिर गुण से बल अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। कफ के कारण निम्न तीन घटकों में स्थिरता उत्पन्न होती है।

१) अवयवों में

२) शारीरिक क्रियाओं में

३) मानसिक भावभावों में

क्षमादिभिः

कफ के सौम्य, स्निग्ध, शीत, स्थिर इन गुणों का शरीर के साथ मन पर भी परिणाम होता है। मन, बुद्धी आदि में उत्तेजितावस्था, चंचलता अल्पता से निर्माण होने के कारण किसी भी कार्य को निडरता से प्रारंभ करने की प्रवृत्ती, सहनशक्ती, क्षमाशीलता आदि संभव होते हैं।

क्षमा गुण दो प्रकार के व्यक्तिंओं में दिखता है।

१) सत्त्वगुणाधिक्य होने वाले व्यक्ति।

२) बलवान व्यक्ति - कफादोषाधिक्य होने वाले व्यक्ति बलवान, अतः क्षमाशील होते हैं।

उदककर्मणा

कफ द्रव गुणयुक्त होने के कारण जल महाभूत के कार्य सुव्यवस्थित प्रकार से कर समग्र शरीर पर अनुग्रह करता है (सामर्थ्य प्रदान करता है)।

वृषता

कफ दोष शुक्रवृद्धीकर तथा कामवासना वर्धक है। कफ के स्नेहबंध, स्थिरत्व, गौरवत्व इससे सप्तधातु बलवान होते हैं और परिणामस्वरूप शुक्रधातु में वृद्धि होती है।

धृति

धारणशक्ति

अलौल्यादि

कफदोषाधिक्य के कारण,

१) माँग करने की प्रवृत्ती, लालच।

२) आसक्ति कम होती है।

३) अलोभिता निर्माण होती है।

कफ कार्य की सोम शक्ती से तुलना

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा दार्ढ्यम्, शैथिल्यम् उपचय कार्श्य, उत्साहं - आलस्यं, वृषता - क्लीबतां, ज्ञानं-अज्ञानं, बुद्धि मोहम् एवमादीनि चापराणि द्वद्वानीति॥ ... च. सू.

सृष्टी में उपस्थित सोमशक्ती कफ के माध्यम से शरीर में निम्न कार्य प्राकृत तथा अप्राकृत अवस्था में कराती है। दार्ढ्य - शैथिल्य, पुष्टी - कृशता, उत्साह - आलस्य, वृषता - क्लीबता, ज्ञान - अज्ञान, बुद्धि - मोह।

७) कफ के स्थान

- **उरः कण्ठ शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसः।**

  मेदो घ्राणं च जिव्हा च कफस्य सुतराम् उरः। ... अ. ह. सू. १२/३

- **उरः शिरो ग्रीवापर्वाणि आमाशयो मेदस्य श्लेष्मणः स्थानानि।**

  उरोविशेषेण श्लेष्मस्थानम्। ... च. सू. २०/२

उपरोक्त अवयवों का विचार करने पर, शरीर के बाकी भागों की तुलना में उर, कंठ, शिर, घ्राण, पर्व प्रदेश इन अंगों में नित्य ही आर्द्रता होती है। रस का कार्य द्रवत्व से ही अधिक संबंधित है और कफ के स्निग्ध गुण सदृश मेद धातु की रचना है।

१) **छाती** – गला, शिर, क्लोम (तालु), अस्थिसंधि, आमाशय, रस, मेद, नासा, जिव्हा ये कफ के प्रमुख स्थान हैं। इनमें कफ की उत्पत्ती की दृष्टी से आमाशय और कार्य की दृष्टी से उरः प्रदेश महत्त्वपूर्ण हैं। उरः स्थित हृदय, फुफ्फुस इन अवयवों को आजीवन रस-रक्त संवहन, श्वसन यह कार्य क्रमशः सातत्य से करने पड़ते हैं। नित्य नियम से चलते रहने वाली (सातत्यपूर्ण) गतिविधियों के कारण इन अवयवों का क्षरण होता रहता है। यह क्षरण कम होकर हृदय, फुफ्फुस इन उरःप्रदेश स्थित अवयवों का रक्षण करने के लिए, उन्हें चिरकाल कार्य करने में सक्षम करने की दृष्टी से यहाँ स्निग्धगुणी कफ की निसर्ग ने ही योजना की है। उरःस्थान, कंठ ये कफ के प्रमुख स्थान होने से इन या अवयवों में कफ के उपद्रव स्वरुप, प्रतिश्याय (सर्दी), कास, श्वास ये विकार अधिक निर्माण होते हैं।

३) **क्लोम** – इस शब्द से निश्चित किस अवयव का बोध होता है इस विषय में आयुर्वेदीय विद्वानों में मतभिन्नता दिखाई देती है।

३) **शिरः** – आयुर्वेद के अनुसार, शिरः प्रदेश यह मर्म स्थान अर्थात् शरीर का महत्त्वपूर्ण अंग है। शरीर के लगभग सभी क्रिया व्यापारों का नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा किया जाता है, यह सप्रमाण साबित हुआ है। शिरः प्रदेश में स्थित मस्तिष्क के स्निग्धगुणी, सामर्थ्यशाली कफसदृश आवरण से संरक्षण प्राप्त होता है।

४) **पर्वाणि** – इसका अर्थ है - संधि। उदा. - अस्थि संधि। कोई भी दो शरीर घटक सलग्न रहने के लिए उस संधिबंध में कफ का आवरण जरूरी होता है।

५) **आमाशय** – आमाशय में पाचक पित्त के द्वारा होने वाली अन्नपचन क्रिया में तत् स्थित कफ के द्वारा महत्वपूर्ण सहायता होती है। कफ के कारण अन्न का क्लेदन होता है और अन्नकण पृथक् होने में मदद होती है। आमाशय प्राकृत तथा विकृत कफदोष का स्थान होने के साथही कफ व्याधि का उगमस्थान भी है। अतः कफ व्याधी चिकित्सा करने का स्थान आमाशय यही है। वमन यह कफ दोष निवारणार्थ संशोधन उपक्रम है, जो कि आमाशय के द्वारा ही साध्य किया जाता है।

६) **रसधातु** – आहार पचन से निर्मित, शरीर धारण करने वाला प्रथम धातु। रसधातु जलमहाभूत प्रधान है और जलमहाभूतसदृश कार्य करता है। अतः रस के 'कफदोष समान संघटन कार्य' के द्वारा कफदोष एवं रसधातु का निकट संबंध स्पष्ट होता है।

७) **मेदधातु** – मेद धातु शरीर को स्निग्धता प्रदान करता है। गुणसाधर्म्य से मेद एवं कफ का निकट संबंध है। अतः कफ विकृतीकर आहार-विहार के अति सेवन से अर्थात् सातत्यपूर्ण एकही जगह बैठकर काम करना, अति मधुर, पचने में भारी पदार्थ खाने से मेद धातु में विकृती निर्माण होकर 'मेदोरोग' (स्थूलता) निर्माण होता है। इसके उपचार के दौरान कफ की स्थिरता कम करने के लिए रोज २ ॥ से ३ मील चलना आवश्यक है।

८) **घ्राण** – घ्राणेंद्रिय का अधिष्ठान नासा, इसी के द्वारा गंधग्रहण होता है और साथही श्वसन प्रक्रिया का प्रारंभ भी वहीं से होता है। इस अवयव के गंध गुण का जिस प्रकार पृथ्वी महाभूत से संबंध है, उसी प्रकार कफ का पृथ्वी महाभूत से संबंध है। इस प्रकार घ्राण एवं कफ का संबंध स्पष्ट होता है। श्वसन प्रक्रिया के द्वारा हवा की लेन-देन यह एक गतिविधि होने के कारण रुक्षता उत्पन्न करनेवाली है। नासा में 'कफ' की मात्रा कम होकर आर्द्रता में कमी आने पर नासापुट में अत्यधिक शुष्कता निर्माण होती है और Atrophic Rhinitis यह कष्टसाध्य व्याधि उत्पन्न होता है। इस व्याधि में रुग्ण को सुगंध, दुर्गंध आदि किसी भी प्रकार का गंधज्ञान नहीं होता। इसमे कफदोष समान गुण युक्त स्नेहन उपचार करें। इस रुग्ण में अन्य औषधोपचार के साथही अणुतेल नस्य २-२ बूँद कम से कम दिन में २ बार करें।

९) **जिव्हा** – जिव्हा से पचनमार्ग का आरंभ होता है। जिव्हा स्थित कफ के कारण पचन के लिए आवश्यक आर्द्रता निर्माण होती है, साथही प्राकृत रसज्ञान होता है। आहार पदार्थ शुष्क होंगे तो लालास्राव भी अधिक मात्रा में होता है। शुष्क पदार्थ का रसज्ञान तत्काल नहीं होता। रस जलमहाभूत से संबंधित है, साथही कफ भी।

८) **कफदोष के प्रकार**

अवलंबक क्लेदक बोधक तर्पक श्लेषकत्व भेदैः श्लेष्माः।...अ.सं.सू.२०/४

कफदोष के प्रकार पाँच हैं, जैसे -

१) **क्लेदक कफ**

- **यत्त्वामाशयसंस्थितः।**

  क्लेदकः सो ऽन्नसंघात क्लेदनात्॥ ... अ. हृ. सू. १२/१५

- **माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।**

  आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥

  स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्म स्थानानां शरीरस्य च उदकं कर्मणां अनुग्रहं करोति॥ ... सु. सू. २१/१३, १४

क्लेदन का अर्थ है - विद्रावण अथवा आर्द्रता। इस कफ प्रकार द्वारा ग्रहण किए अन्न को आर्द्रता प्राप्त होती है और इससे अन्नघटकों का सूक्ष्मीकरण होता है, अन्न के कण एक-दूसरे से विभक्त किये जाते हैं। परिणामतः पाचक पित्त का पचन कार्य अधिक सुलभता से होता है। हर एक घटक तक, अणुरेणु तक अग्नि पहुँच सकता है। पचन के लिए आर्द्रता, स्निग्धता, मार्दव अत्यावश्यक होने से आमाशय रुप पचनस्थान में क्लेदक कफ की योजना की गई है। इस संदर्भ में व्यवहारिक उदाहरण - सब्जी, दाल आदि पकाने के लिए (पचन करने के लिए) तेल, घी आदि कफसदृश घटक मिलाएं जाते हैं।

आमाशय स्थित क्लेदक कफ की प्राकृतावस्था पर प्राकृत पचन क्रिया निर्भर होती है। इसीलिए शरीर में अन्य स्थानों में (उरः, शिर, कंठ, संधी) कफ की कार्यशक्ती तथा इस स्थान का बल क्लेदक कफ पर ही निर्भर होता है। अतः क्लेदक कफ अनुग्रह अर्थात् उपकार करता है, ऐसा कहा गया है।

आमाशय, ग्रहणी इन अवयवों का पित्त के तीक्ष्ण, उष्ण गुणों से संरक्षण करना, यह क्लेदक कफ का और एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

संक्षेपतः, क्लेदन इस कार्य के अनुसार दिया गया क्लेदक कफ यह नामाभिधान सार्थ ही है।

२) **अवलंबक कफ**

- **उरस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः। हृदयास्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा॥**
  कफाधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। अतो ऽवलम्बकः श्लेष्मा॥
  ... वा. सू. १२/१५, १६
- **उरस्थत्रिक संधारणम् आत्मवीर्येण अन्न रससहितेन हृदयावलंबनं करोति॥**
  ... सु. सू. २१/१४
- **अवलंबनं इति स्वकर्माणि सामर्थ्य उत्पादयति। ... अरुणदत्त (टीका)**

उरः प्रदेश में रहकर त्रिक का अवलंबन करता है। अवलंबन का अर्थ है - उस विशिष्ट अवयव को ताकद, बल प्रदान कर उस स्थान में प्राकृत कार्य होने के लिए सहायता करना। त्रिक इस शद्ब से उरःप्रदेश स्थित हृदय, फुफ्फुस तथा फुफ्फुसांतराल (Mediastinum) इन अवयवों का बोध होता है। अवलंबक कफ के स्निग्ध, पिच्छिल गुणों के कारण इन अवयवों का संरक्षण होता है। हृदय, फुफ्फुस इन अंगों को आजीवन,

अहर्निश कार्यरत रहना पड़ता है। 'जहाँ नित्य गतिविधि, वहाँ क्षरण' यह नियमही है। क्षरण कम-से-कम हो कर अवयवों का नाश टाला जा सकता है। इसलिए क्षरण करने के लिए तथा अवयवों का सम्यक् पोषण करने के लिए भी अवलंबक कफ सहायता करता है।

हृदय अवलंबन कार्य जिस प्रकार कफ के वीर्य से होता है, उसी प्रकार अन्न वीर्य से भी होता है। अर्थात्, अवलंबक कफ के द्वारा जिस प्रकार इन अवयवों के पोषण में सहायता होती है, उसी प्रकार आहाररस के द्वारा भी होती है।

उरः स्थान में स्थित अवलंबक कफ क्लेदन (आर्द्रता), तर्पण, पूरण आदि उदक कर्म से कफ के अन्य स्थानों को (कफधाम्ना) भी स्वकार्य करने में समर्थ बनाता है।

'त्रिक' शद्ब का अर्थ विद्वानों ने अन्य प्रकार से भी स्पष्ट किया है। डल्हणाचार्य ने शिर तथा उभय बाहू इनके संधि को त्रिक संधि कहा है और अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने 'पृष्ठाधार' ऐसा अर्थ बताया है। इन दोनों में भी शिर अथवा संपूर्ण देह का वजन संभालना, स्थिरता एवं सामर्थ्य प्रदान करना ये महत्वपूर्ण कार्य होते हैं। इस प्रकार अवलंबक कफ के अस्तित्व का महत्व समझा जा सकता है। प्रस्तुत लेखक के अनुसार त्रिक का अर्थ दो फुफ्फुस तथा हृदय यह भी हो सकता है।

३) **बोधक कफ**

रस बोधनात्। बोधको रसना स्थायी॥ ... अ. हृ. सू. १२/१७

- **जिव्हा - मूल कंठस्थो जिव्हेंद्रियस्थ सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते। ... सु. सू. २१/१४**

रस का बोधन करना। बोधन का अर्थ है - ज्ञान अथवा अहसास दिलाना। जिह्वा की सहायता से 'रस' इस विषय का ज्ञान, अहसास प्राप्त कराने का कार्य बोधक कफ के कारण होता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय इन छह प्रकार के प्राकृत स्वाद समझने में जिव्हा स्थित बोधक कफ सहायक है।

स्वाद समझना अर्थात् एक प्रकार से परिवर्तन अथवा बदलाव होना। परिणमन अथवा पचन कार्य के लिए आवश्यक आर्द्रता बोधक कफ के कारण प्राप्त होती है।

रसज्ञान ग्रहण में बोधक कफ की जिस प्रकार सहायता होता है, उसी प्रकार अतिउष्ण, अति तीखें अथवा शरीर को बाधाकर आहार द्रव्यों से जिह्वा, मुख, कंठ का संरक्षण करने में बोधक कफ सहायता करता है।

४) **श्लेषक कफ**

- **संधिश्लेषात् श्लेषकः संधिषु स्थितः ।** ... अ. हृ. सू. १२/१७
- **संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात् सर्व संध्यनुग्रहं करोति ।**

... सु. सू. २१/१४

संधि शब्द से मुख्यतः जानुसंधि, कूर्परसंधि आदि अस्थिसंधि का ही बोध होता है, किन्तु इतनाही सीमित अर्थ आयुर्वेद को अभिप्रेत नहीं। शरीर के कोई अणुपरमाणु घटक जिस स्थान में एकत्रित होते हैं, वह संधि कहलाता है। क्लेषक कफ के स्निग्ध, पिच्छिल गुणों से अलिंगन (अर्थात् संधि स्थान में दो घटक एक साथ जोड़ कर रखने का कार्य) होता है। इस प्रकार जोड़ प्राकृत होने पर संधि प्रदेश तथा संधि संबंधित घटकों के कार्य सुव्यवस्थित, प्राकृत प्रकार से होते हैं, अन्यथा इनमें विकृती उत्पन्न होती है।

वार्धक्यावस्था में कफ की तुलना में वात की मात्रा अधिक होती है। जानुसंधि में श्लेषक कफ की मात्रा में कमी आने से घुटनों में दर्द, घुटनों की गतिविधियों में त्रासदि, चलने के दौरान घुटनों से कट्-कट् आवाज आना आदि उपद्रव होने लगते हैं।

संधि स्थान में गतिविधियों के दौरान उसमें क्षरण न हो इस दृष्टी से श्लेषक कफ का पिच्छिल गुण सहायता करता है।

सुश्रुतोक्त उपमा

जैसे वंगण युक्त अक्ष पर चक्र सहजता से घूमता है, उसी प्रकार श्लेषक कफ के अस्तित्व के कारण संधि की गतिविधियाँ आसानी से होती हैं।

५) **तर्पक कफ**

- **शिरः संस्थो ऽ क्षतर्पणात् तर्पकः ।।** ... अ. हृ. सू. १२/१७
- **शिरः स्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वात् इंद्रियाणां आत्मवीर्येण अनुग्रहं करोति ।।**

... सु. सू. २१/१४

- **स्नेहनः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रियतर्पणः ।** ... भा.प्र.पू.खं.३/१३२

चक्षुरादि इन्द्रियों का स्नेहतर्पण, स्नेहदान करना ये तर्पक कफ के सामान्य कार्य हैं (अक्ष इस शब्द का अर्थ है - इंद्रिय)।

शिरः प्रदेश में स्थित तर्पक कफ स्वसामर्थ्य से इंद्रियों का पोषण करता है। तर्पण का अर्थ है - तृप्ती, स्वास्थकर अवस्था बनाएं रखना। तर्पक कफ के शीत, स्निग्ध गुण के कारण सभी इंद्रिय कार्यप्रवण रहते हैं।

संक्षेपतः, तर्पक कफ की सहायता से मस्तिष्क के संदर्भ में वात के कार्य पर सम्यक् नियंत्रण रहता है। मस्तिष्क स्थित अवयवों का संरक्षण, पोषण होकर वे यथायोग्य रहते है।

९) **कफविकृती**

कफ के समान गुण युक्त आहार-विहार सातत्य से अतिमात्रा में सेवन करने से कफवृद्धी निर्माण होती है, इसके विपरीत कफसदृश पदार्थों का कम मात्रा में सेवन करने से कफक्षय निर्माण होता है।

अ) **कफवृद्धी के लक्षण**

- **श्लेष्मा ऽ ग्निसदनं प्रसेकालस्य गौरवम् ।**
  श्वैत्य शैत्यश्लथांगत्वं श्वास कासातिनिद्रता ।। ... वा. सू. ११/८
- **श्लेष्म वृद्धौ श्वैत्य शैत्यं स्थैर्यं गौरवम् अवसाद तंद्रा निद्रा संध्यस्थिविश्लेषः ।**

... सु. सू. १५/१५

अग्नि सदन – अर्थात् अग्निमांद्य। पचनशक्ती प्राकृत न रहना, ठीक से भूख न लगना, मल विसर्जन अप्राकृत होना आदि उपद्रव सातत्य से अति शीत, अति गुरु पदार्थ सेवन के कारण निर्माण होते हैं। पचन के लिए जिम्मेदार पित्त का उष्ण गुण उस तुलना से कम पड़ जाता है। अतः कफवृद्धी के कारण अग्निसदन यह लक्षण होने पर लंघन करें (लघु गुण), लहसुन, अद्रक आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन करें।

प्रसेक – अधिक मात्रा में लालास्राव उत्पन्न होना। उपरोक्त उल्लेख के अनुसार क्लेदक कफ में वृद्धी होने पर पचन बिगड़ता है और इसका परिणाम कफ प्रकार पर होता है।

आलस्य – अत्यधिक गुरु, शीत, स्थिर गुणी आहार-विहार सेवन से शरीर में अनावश्यक मेद की उत्पत्ती होती है, शरीर जडत्व निर्माण होता है, वात गति में अवरोध उत्पन्न होने से इंद्रिय कार्यप्रवणता नष्ट हो जाती है, आलस्य उत्पन्न होता है।

गौरवम् – बैठा व्यवसाय और सातत्य से पचने में भारी पदार्थ खाने से कफवृद्धी होकर शरीर में जडत्त्व उत्पन्न होता है।

श्वैत्य – पाण्डुरता। शरीर का प्राकृत वर्ण, कांती, प्रभा, तेज ये पित्त एवं रक्त की प्राकृत अवस्था पर निर्भर होते हैं। अग्निमांद्य उत्पन्न होने से, पचन व्यापार बिगड़ने से (पित्त का कार्य बिगड़ने से) विशिष्ट अंग में अथवा सार्वदेहिक पाण्डुता (श्वैत्य) उत्पन्न होती है।

शैत्य – शीतता, थंड़ लगना। कफ का शीत गुण अत्यधिक बढ़ने पर पित्त, रक्त का शरीर उष्णता नियंत्रण कार्य बिगड़कर रुग्ण को थंड़ लगती है अथवा हाथ-पैर थंड़े पड़ने लगते है। ऐसी अवस्था में लाक्षणिक उपचार के स्वरुप में वेखंड, सरसों आदि उष्ण गुण युक्त द्रव्यों का शरीर पर लेप किया जाता है।

श्लथांगत्व – श्लथ + अंगत्व। कफवृद्धी के कारण अंगप्रत्यंगों में शिथिलता, ढ़ीलापन आता है। अवयवों का संहनन (Tone) कम होता है। मुख्यतः कफ वृद्धी के कारण विकृत मेदोवृद्धी होने पर उदर, स्तन, उरु इन अंगों में श्लथांगत्व स्पष्ट रुप से दिखाई देता है।

श्वास – अर्थात् थक जाना, श्वासोच्छ्वास में अवरोध होना। उरः प्रदेश स्थित श्वास मार्ग में विकृत कफवृद्धी होने पर प्राण - उदान की गति में अवरोध उत्पन्न होकर थकान महसूस होती है।

कास – अर्थात् खाँसी। कफवृद्धी के कारण श्वासमार्ग में उत्पन्न अवरोध दूर करने के उद्देश से खाँसी यह एक निसर्गकृत प्रतिक्षिप्त क्रिया है।

अतिनिद्रा – सदैव नींद आना, झपकी आना। मुख्यतः अति गुरु, स्थिर गुणों की वृद्धी होने पर शरीर अणु-परमाणुओं में, इंद्रियों में, मन में जडत्व, शिथिलता उत्पन्न होती है। कफवृद्धी के कारण मन आवरिण आता है और इंद्रिय उत्तेजना न मिलने से निंद्रेच्छा उत्पन्न होती है।

ब) कफक्षय के लक्षण

- **कफे भ्रमः।**
- **श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्रवः श्लथसंधिता।** ...वा. सू. ११/१६
- **श्लेष्म क्षये रुक्षता अंतर्दाह आमाशयेतर श्लेष्माशय शून्यता संधिशैथिल्यम् तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च।** ... सु.सू.१५/११

भ्रम – अर्थात् चक्कर आना, शारीरिक सन्तुलन बिगडना। मस्तिष्क प्रदेश स्थित तर्पक कफ का क्षय होने पर इंद्रियों का पोषण, तर्पण प्राकृत नहीं होता और स्थिरत्व कम होने से भ्रम यह लक्षण उत्पन्न होता है।

श्लेष्माशयानां शून्यत्वं – शरीरांतर्गत कफस्थान में शून्यत्व, रिक्तत्व की भावना निर्माण होती है। कफस्थान का मार्दव, संघटन, स्निग्धता बिगड़ने से अवकाश निर्माण होने जैसा आभास होता है। उरः प्रदेश, सिर, संधि में रिक्त स्थान निर्माण होने जैसा आभास होता है। यह कफ स्थिरत्व, पोषण कार्य बिगड़ने का निदर्शक है।

क) हृद्रव – इसका अर्थ है - अपने हृद्ध्वनी की स्वानुभूति होना। यह लक्षण भी अवलंबक कफ के पोषण स्थिरत्व में कमी आने का निदर्शक है।

ड) श्लथसंधिता – श्लेषक कफ में गुरु, स्निग्ध, स्थिर गुणों की कमी के कारण संधिशैथिल्य, संधिदौर्बल्य उत्पन्न होते हैं।

उपचार की दिशा

१) कफवृद्धी में कफ के स्निग्ध, शीत, गुरु आदि गुणों के विरोधी आहार-विहार, औषधी से लाभ होता है। उदा. सम्यक् व्यायाम, अद्रक, लहसुन, शुंठी आदि तीखें मसालों से युक्त पदार्थ का सेवन, चित्रकादि चूर्ण, हिंग्वाष्टक चूर्ण, भल्लातकासव, त्रिफला गुग्गुल आदि औषधी का उपयोग कफवृद्धी में किया जाता है।

२) कफक्षय में कफ समान गुण युक्त आहार-विहार, औषधी का उपयोग करना चाहिए। उदा. - सम्यक् शारीरिक, मानसिक विश्राम, दूध, घी, शक्कर आदि का सेवन, शतावरी, अश्वगंधा, बलारिष्ट आदि औषधी का उपयोग।

कफ दोष - षड्रस संबंध

१) **कफ प्रकोपक रस** - मधुर अम्ल,लवण, रसात्मक द्रव्य से कफवृद्धि होती है।

उदा. मधुर ..... जलेबी, दूध, घृत, गन्ना, केला, मेवामिठाई

अम्ल ..... इमली, तक्र, निंबू

लवण ..... नमक

२) **कफ शामक रस** - कटु, तिक्त, कषाय रसात्मक द्रव्य से कफशमन होता है।

उदा. कटु ..... मिर्च, लौंग, धनिया, जीरा, काली मिर्च, अजमोदा

तिक्त ..... करेला, जोरई, महानिम्ब, हिंगु

कषाय ..... सुपारी, अनार

कफ दोष एवं सप्त धातु संबंध

दोष (आश्रयी)	⇒	धातु मल (आश्रय)
कफ	⇒	रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष

कफ

१	अवलंबक कफ	धारण करने वाला	पार्थिव कफ
२	क्लेदक कफ	मधुर, स्निग्ध, मृत्स्न, क्लेदक	आप्य कफ
३	तर्पक कफ	इन्द्रियों से संबंध	वायवीय कफ
४	श्लेषक कफ	श्लक्ष्ण	नाभस कफ
५	बोधक कफ	श्वेत	तैजस कफ

प्रकरण ९

त्रिदोष समारोप एवं संशोधन

Read

वस्तुतः 'त्रिदोष समारोप' यह संज्ञा अत्यंत मर्यादित अर्थ से उपयोग में लाई गई है। प्रथम वर्ष बी.ए.एम्.एस्. में अंतर्भूत शारीर क्रिया विषय के अध्ययन की दृष्टी से त्रिदोष के संबंध में उपयुक्त विवरण हमनें अब तक पढ़ा। त्रिदोषों का एक विशिष्ट स्तर तक अध्ययन इस प्रकार संपूर्ण होता है। इस दृष्टी से 'त्रिदोष समारोप' यह शब्दप्रयोग किया गया है। वस्तुतः त्रिदोष विज्ञान यह आयुर्वेद अभ्यासक की दृष्टी से प्रतिक्षण उपयोगी, विचारों को चालना देने वाला ज्ञानभांडार है, इस विचार से त्रिदोष विचार अथांग है। उसका समारोप हो ही नहीं सकता। इस विषय की व्याप्ति इतनी विशाल है कि हर एक दोष पर, अनेकों ग्रंथों की निर्मिती हो सकेगी। परंतु यहाँ प्रथम वर्ष के छात्रों को उपयुक्त हो इतना ही वर्णन किया है।

त्रिदोष के संबंध में शेष महत्वपूर्ण मुद्दे

१) **दोष तीन ही क्यों होते हैं ?**

शरीर में केवल तीन ही दोष किस कारण बताएं गये हैं ? (सुश्रुत ने रक्त को चौथा दोष माना है, किन्तु वह दोष नहीं) २ अथवा ४ दोष क्यों नहीं बताएं हैं ? यह प्रश्न स्वाभाविक ही है। इस प्रश्न का उत्तर निम्न मुद्दों के विस्तृत वर्णन से मिलता है।

१) शरीर आरंभक, प्रकृती निर्माण के लिए जिम्मेदार ऐसे तीन ही घटक हैं।

२) जो शरीर के अन्य घटकों में बिगाड़ उत्पन्न कर सकें (दूषण स्वभावात्) ऐसे तीन ही घटक हैं।

३) शरीर के सभी कार्यों का तीन प्रकारों में समावेष होता है। जैसे - संयोग (स्थिरता), परिणमन (बदल), हलचल / गतिविधि (वियोग)। इसलिए स्वाभाविक रुप से ही इन तीन कार्यों के कारण स्वरुप में केवल तीन ही प्रमुख घटक हैं।

४) जैसे चंद्र, सूर्य, वायु ये तीन ही प्रमुख घटक सृष्टी के धारण को जिम्मेदार हैं, *उसी प्रकार यही तीन शक्तीयां शरीरांतर्गत कफ, पित्त, वात इस स्वरुप में देह धारण का कार्य करती हैं।*

५) सृष्टी में उपस्थित सभी घटक पांचभौतिक होते हैं। किन्तु इन पाँच महाभूतोंमें से समग्र शरीरव्याप्त होकर, कार्यकारी होकर तथा क्वचित बिगाड़ उत्पन्न करने में सक्षम विकार स्वरुप में कफ, पित्त, वात ये त्रिदोष के नाम से शरीर धारण का और साथही क्वचित शरीर स्वास्थ्य बिगाड़ने का कार्य करते हैं। अर्थात् जल, तेज, वायु महाभूतों को पृथ्वी, आकाश महाभूतों की सहायता होना अनिवार्य होता है।

- **विसर्ग आदान विक्षेपैः सोम सूर्यानिला यथा।।**
  धारयन्ति जगत् देहं कफ पित्तानिला तथा। ... सु. सू. २२/५
- **प्रकृति आरंभकत्वे सति दूष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।** ... मधुकोष (मा.नि.)

२) **दोष उत्पत्ती**

शरीरांभक अथवा प्रकृती आरभक दोषों की उत्पत्ती पंचमहाभूतों से होती है।

सर्व इदं पांचभौतिकम् अस्मिन अर्थे।

यह हमने पहले ही पढ़ा है।

किन्तु यही दोष, शरीर धारणत्व कार्य के लिए, भविष्य में टिके रहने के लिए त्रिदोषों की उत्पत्ती निम्न प्रकार से नित्य होती रहती है। कफ की उत्पत्ती रसधातु के मल स्वरुप में, पित्त दोष की रक्तमल स्वरुप में और वातदोष की उत्पत्ती अन्नमल स्वरुप में होती है।

३) **दोष – धातु – आश्रयाश्रयी संबंध**

यद्यपि दोष सर्वशरीरव्यापी होते हैं, तथापि प्रत्येक दोष विशिष्ठ धातु के आश्रय से ही अधिक कार्यकारी हो सकता है।

१) 'कफ' दोष (आश्रयी) रस, मांस, मेद, अवकाशरहित अस्थि, मज्जा तथा शुक्रधातु इन धातुओं के (आश्रय) आश्रय से रहता है। कफ के समान ही, अणु-परमाणु संयोग कर शरीर रक्षण करना, यही कफाश्रित धातुओं का भी कार्य है।

२) पित्त दोष (आश्रयी), रक्त धातु तथा स्वेद के आश्रय से रहता है। पित्त एवं रक्त के गुणकर्म में घनिष्ठ साधर्म्य होता है।

३) वात दोष अस्थि स्थित रिक्त स्थान (अस्थ्यवकाश) के आश्रय से रहता है।

आश्रयाश्रयी विचार का महत्त्व

- आश्रय एवं आश्रयी का अत्यंत निकट संबंध होता है। आश्रय तथा आश्रयी की सम मात्रा में वृद्धी होती है। अर्थात् पित्त दोष वृद्धी होने पर रक्त तथा स्वेद में वृद्धी होती है, अपवाद केवल वातदोष। अस्थिवृद्धि होने पर अस्थि के अंतर्गत अवकाश कम होते हैं और परिणामतः वातक्षय होता है। अस्थिक्षय होने पर अस्थि के अंतर्गत अवकाश बढ़ते हैं और परिणामतः वातवृद्धि होती है। अर्थात् अस्थि अवकाश स्थान बढ़ने पर वातक्षय और कम होने पर वातवृद्धी होती है।
- दोषों के कार्य के संदर्भ में मुख्यतः किस धातु की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए यह आश्रयाश्रयी संबंध से समझता है। अर्थात् दोषों की अवस्था के विषय में शरीर परीक्षण करने के दौरान, उनके आश्रय की अवस्था का परीक्षण महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी कफ, पित्त के आश्रय का परीक्षण सरल है, किन्तु वात दोष के संदर्भ में अस्थि में उपस्थित अवकाश शरीर की बाह्यतः परीक्षा द्वारा नहीं देखा जा सकता। दोषों के कुल प्रमाण के विषय में अनुमान करने के लिए आश्रय परीक्षा ही सहायक होती है।

४) **दोष प्रधान स्थान समझने का महत्त्व**

ते दोषः सर्व व्यापिनः।

त्रिदोष सर्व शरीरव्यापी होते हैं, तथापि,

ते व्यापिनो ऽ पिहृन्नाभ्योः अधोमध्योर्ध्व संश्रयाः। ... अ. सं. सू १/२२

शरीर के ऊर्ध्व भाग में उरः प्रदेश की तुलना से कफाधिक्य होता है। नाभी प्रदेश में पित्त का और नाभी के अधो भाग में वात का आधिक्य होता है। शरीर के उर्ध्व, मध्य, अधो अंगों में क्रमशः कफ, पित्त, वात इस एक-एक दोष का प्रभाव/बल अधिक होता है। किन्तु शेष दो दोषों का अस्तित्व कार्य इस स्थान में होता ही नहीं, यह कहना अप्रस्तुत होगा।

५) **त्रिदोषों का तुलनात्मक आधिक्य**

वयो ऽ हो रात्रिभुक्तानां ते अन्तमध्यादिगाः क्रमात्। ... अ. सं. सू १/२२

आयु, अहोरात्र, आहार इनका विचार करते हुए कफ, पित्त, वात क्रमशः आदि, मध्य, अन्त अवस्था में 'व्यपदेशस्तु भूयसा न्याय' के अनुसार आधिक्य से होते हैं।

उदा. बाल आयु - कफ दोष के गुण कार्य अधिक होते हैं।

मध्य आयु - पित्त प्राबल्य।

वार्धक्य आयु - वातदोष का आधिक्य होता है।

अहोरात्री के विचार से

दिवस (वृद्धी)		रात्र (क्षय)	
सुबह ६-१०	कफवृद्धी (आदि)	शाम ६-१० कफक्षय	(आदि)
सुबह १०-दोपहर २	पित्तवृद्धी (मध्य)	रात १०-२ पित्तक्षय	(मध्य)
दोपहर २-शाम ६	वातवृद्धी (अंत)	सुबह २-६ वातक्षय	(अंत)

टीप

- सुबह ६ - १० - कफवृद्धी (आदि) - प्रातःकाल में शीत गुण के कारण कफ वृद्धी होती है। अतः उष्ण जल से स्नान, उद्वर्तन, व्यायाम आदि उपक्रमों का आयुर्वेद ने उपदेश किया है।
- सुबह १० - दोपहर २ - पित्तवृद्धी (मध्य) - दोपहर में उष्ण गुण के कारण पित्त वृद्धी होती है, अतः यह भोजनयोग्य समय बताया गया है।
- दोपहर २ - शाम ६ - वातवृद्धी (अंत) - वात के चल, लघु, रुक्ष, गुणों की वृद्धी।

भोजन के विचार में

भोजन करने पर कफाधिक्य उत्पन्न होता है। इसीसे शरीर को जड़ता प्राप्त होती है। अन्नपचन पूर्ण होने के समय, अन्नपचन संपूर्णतः संपन्न होने के काल में वात का आधिक्य होने से गतिविधियाँ अधिक वेगपूर्वक होनी लगती हैं; उपरोक्त वर्णित आधिक्य तत्काल सम स्थिति में आता है, अतः शरीर को हानीकारक नहीं होता।

इसके विपरीत इस आधिक्य काल का विचार कर चिकित्सा उपक्रम की योजना की जा सकती है। उदा. - 'कफ का' वमन यह शोधनोपक्रम प्रायः सुबह ७ से ८ बजे के दौरान ही किया जाता है। इस काल में शरीर में कफाधिक्य होता है, अतः कफ निर्हरण आसानी से होता है।

६) त्रिदोष त्रिगुण संबंध

त्रिदोष-त्रिगुण संबंध के अध्ययन से पहले 'त्रिगुण' के विषय में थोड़ा विवेचन आवश्यक है। इस पृथ्वी पर उपस्थित हर एक पदार्थ पाँच महाभौतिक (अर्थात् पंचमहाभूतों से बना हुआ) है, यह हमने पहले ही पढ़ा है। संक्षेपतः किसी भी पदार्थ के संघटन को (Composition, Structure) पंचमहाभूत ही जिम्मेदार होते हैं।

सर्व इदं पांचभौतिकम् अस्मिन अर्थे।

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः।

पवनः रजो गुणमयः पित्तं सत्वगुणोत्तरान्, कफः तमोगुणाधिक्यः॥

... शा. पू. खं. ५

त्रिगुण	त्रिदोष	समानता
सत्व	पित्त	तेज, प्रकाशक, ज्ञानप्रवर्तक
रज	वात	गतिविधि, प्रेरणा
तम	कफ	स्थिरता, जडत्व, आवरक

किसी भी पदार्थ की उत्पत्ती के दौरान जो उथल-पुथल, प्रक्रिया होती है, उसमें तीन मूलभूत घटक जिम्मेदार होते हैं, उन्हीं को 'त्रिगुण' कहते है। ये त्रिगुण मूलभूत, सर्वव्यापी, सर्वसमावेशक होने के कारण उन्ही को श्रेष्ठ (परम्) पदार्थ कहा जाता है। सत्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। इनमें से सत्व गुण प्रकाशक, लघु, ज्ञान निर्मिती के लिए जिम्मेदार घटक होता है और रज गुण कार्य को प्रेरणा देने वाला, प्रत्यक्ष कृती करने वाला होता है। तम यह कार्य समाप्ती को जिम्मेदार, नियमन करने वाला, गुरु, आवरण - स्वरूप होता है।

सत्व प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम्।

तमो नियामकं प्रोक्तं अन्योन्यमिथुन प्रथम॥ **... का. सं. सू.**

किसी वस्तु के निर्माण में तीन महत्वपूर्ण स्तर होते है। जैसे -

१) निर्माण की कल्पना ..... सत्व

२) प्रत्यक्ष निर्माण प्रक्रिया ..... रज

३) विशिष्ठ कालावधी के पश्चात उस प्रक्रिया की समाप्ति ..... तम

जिज्ञासा, प्रेरणा एवं प्रेरणा की निवृत्ती ये सत्त्व, रज, तम के द्वारा स्पष्ट होते हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है।

मनुष्य शरीर में उपस्थित जो सूक्ष्म घटक - मन, उसके संदर्भ में त्रिगुणों का विचार करने पर, सत्व यह मन का गुण और रज तथा तम ये मन के दोष हैं। इसका कारण यह है कि सात्विक मन के द्वारा आहार-विहार अथवा बाकी संदर्भ में योग्य नियंत्रण किया जाता है। इसके विपरीत रज और तम इन गुणों के कारण गलतियाँ (प्रज्ञापराध) होकर असात्मेंद्रियार्थ संयोग होकर मनुष्य व्याधिग्रस्त हो जाता है।

प्रश्नपरीक्षा द्वारा रुग्ण से जो उत्तर प्राप्त होते हैं, उनसे सत्वादि में से कौनसा गुण अधिक है, यह समझा जा सकता है। उदा. पेट दुखना इस उपद्रव में सत्वगुणाधिक्य होने पर रुग्ण तीव्र उदरशूल भी सहन कर सकता है, उसकी तीव्रता प्रकट नहीं करता। इसके विपरीत रजोगुण युक्त रुग्ण अल्प वेदना भी बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करेगा। सत्व गुणी व्यक्ति यदि पथ्य पालन का सुयोग्य आचरण करें तो बीमार ही नहीं होगा और बीमार होने पर भी उपचारों से जल्द ही ठीक हो जाएगा।

सारांश, त्रिगुणों का विचार मानवी देह के अध्ययन में महत्वपूर्ण है।

जिज्ञासा, प्रेरणा, प्रेरणा की निवृत्ती ये सभी सत्व, रज, तम के द्वारा स्पष्ट होते हैं।

प्रकरण १०

श्वसन प्रक्रिया

बाह्यसृष्टी में उपस्थित अन्न, जल एवं वायु इन तीन पदार्थों के सेवन से शरीर का नित्य पोषण होता है और इस प्रकार जीवन सातत्यपूर्ण चलता रहता है। अन्न तथा जल का शरीरभावों में परिणमन होने की क्रिया महास्त्रोतस में होती है। साथही बाह्य सृष्टी में स्थित वायु का शरीरस्थ वायु में परिणमन होने की क्रिया श्वासमार्ग में होती है। अतः श्वसन क्रिया अत्यंत आवश्यक है।

वायु का शरीर के भीतर प्रवेश और पुनः शरीर से बाहर उत्सर्जन, इस क्रिया को श्वास कहते है। श्वसन प्रक्रिया में दो क्रियाओं का समावेष होता है -

१) निःश्वास २) उच्छ्वास

श्वसन प्रक्रिया के द्वारा बाह्यसृष्टी में स्थित शरीरोपयोगी अमृत सदृश प्राणद्रव्यों का शरीर के भीतर निःश्वास के द्वारा स्वीकार किया जाता है और शरीर के भीतर विभिन्न स्तरों पर प्रत्येक पेशी में होने वाले पचन से निर्मित मलीन भाग के सूक्ष्म वायवीय अंश उच्छ्वास के द्वारा निष्कासित किए जाते हैं।

श्वसन क्रिया के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण शरीर अवयव घटक

आयुर्वेद के अनुसार श्वसन प्रक्रिया मुख्यतः प्राणवह स्त्रोतसों के द्वारा होती है। अर्थात् श्वसन प्रक्रिया प्राकृत रहने के लिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष और भी कुछ स्त्रोतसों के कार्य का विचार करना जरूरी है। श्वसन क्रिया का मुख्य अधिष्ठान उरःस्थान है। श्वसन मार्ग का २ स्तर पर विचार किया जा सकता है।

१) नासिका तथा मुख से कंठ तक का भाग।
(यह उर्ध्वजत्रुगत प्रदेश में समाविष्ट होता है।)

२) कंठ से आगे उरःस्थ में फुफ्फुस तक जाने वाला मार्ग।

अवयव

नासिका से आरंभ होकर मुखविवर, कंठनाड़ी, अपस्तंभ इनके द्वारा फुफ्फुस तक।

१) नासिका

नासा स्त्रोतस का उल्लेख सुश्रुत उत्तर तंत्र में किया गया है। नासाद्वार से गलप्रदेश तक जो मार्ग है, वह फणाकृति अर्थात् अग्रभाग में थोड़ा विस्तृत और अधो दिशा में संकुचित और पीछे कर्ण की ओर जाकर गलप्रदेश की तरफ मुड़ा हुआ होने के कारण अरुणदत्त ने इसे फणाकृति मार्ग कहा है।

२) मुखविवर

सुश्रुत ने इसे 'वक्त्र' की संज्ञा दी है।

वायुः यो वक्त्र संचारी, स प्राणो नाम। ... सु. नि.१/१३

डल्हण ने मुखविवर को 'मुखकुहर' कहा है।

३) कंठनाडी

मुख, नासिका के द्वारा शरीर में प्रविष्ट वायु कंठनाडी के मार्ग से अपस्तंभ के द्वारा फुफ्फुस में पहुँचता है।

४) फुफ्फुस

इस अवयव के संदर्भ में एक जरूरी खुलासा यह है कि सुश्रुत ने 'फुफ्फुस' इस प्रकार एकवचन से शब्दप्रयोग किया है। प्राणवह स्त्रोतसों के मूलस्थान हृदय तथा १० धमनियाँ (सुश्रुत) अथवा महास्त्रोतस और हृदय (चरक) ये बताएं गये हैं। इन मूलस्थानों में फुफ्फस का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु हृदय शब्द से तत् समीप फुफ्फुस का भी समावेश करना संयुक्तिक होगा।

टिप्पणी - शोणित के फेन से फुफ्फुस की उत्पत्ती हुई है।

शोणितफेन प्रभवा फुफ्फुसः। ... सु. शा. ३

श्वसन प्रक्रिया के संदर्भ में उपरोक्त अवयवों के साथ ही हृदय, उर, उदर पटल, उर, उदर संबंधित स्नायु आदि का भी विचार करना पड़ता है।

श्वसन के संदर्भ में दोष – धातु – मल का विचार

श्वसन के संदर्भ में प्राण, उदान, व्यान वायु प्रकारों का; साधक पित्त, अवलंबक कफ इन त्रिदोष घटकों का; रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा इन धातुओं का और शरीरांतर्गत विभिन्न स्तरों पर पचन प्रक्रिया में निर्मित अतिसूक्ष्म वायवीय मलीन अंश का विचार करना जरुरी है।

१) प्राण का कार्य

- **उरः कण्ठचरो बुद्धी हृदयेंद्रियचित्त धृक।**
  ष्ठीवन क्षववयु उद्गार निश्वास अन्न प्रवेशकृत॥ ... वा.सू.१२/४
- **प्राणो ऽत्र मूर्धगः।** ... वा. सू. १२/४

शिरस्थ प्राण श्वसनमार्ग में समाविष्ट अंगों के स्नायुओं को विकसन की प्रेरणा देता है। नाभीपटल तथा उर के स्नायुओं को भी यही वायु प्रेरणा देता है। इससे छाती का आकार बढ़ाकर हवा फुफ्फुस के भीतर लाई जाती है। इस हवा अर्थात् प्राणद्रव्य का शरीर में पूरण करने का कार्य वायु करता है। इसके कारण अभ्यन्तर प्राणों को बल प्राप्ति होती है, अतः सुश्रुताचार्य ने 'प्राणांश्चप्यावलंबते' ऐसा कहा है। प्राणवायु की प्रेरणा से श्वसनक्रिया सम्यक् चलती रही, तो आयुष्य सुरक्षित रहता है। इसीलिए 'विशेषात् जीवितं प्राणः' यह उल्लेख भी मिलता है।

प्राणो हि अभ्यन्तरोतृणा बाह्यप्राण गुणान्वितः।

धारयत्य विरोधेन शरीरं पांचभौतिकम्॥ ... सु. सू.

जरूरी खुलासा

श्वसन (निःश्वास) के द्वारा शरीर में स्वीकृत बाह्य प्राणद्रव्य को ही प्राणवायु की संज्ञा शालेय क्रमिक पुस्तकों में अथवा व्यवहार में दी जाती है।

किन्तु वात प्रकार में वर्णित प्राणवायु एवं श्वसन क्रिया के द्वारा शरीर में प्रविष्ट प्राणवायु इनमें सूक्ष्म भेद है, जैसे -

- प्राणवायु इस वात प्रकार का स्थान मुख्यतः शिरःप्रदेश है (प्राणोऽत्र मूर्धग।) और श्वसन संदर्भ में प्राणवायु का स्थान नाभि (नाभिस्थ प्राणापवनः।) है।
- प्राणवायु इस वातदोष प्रकार की मदद से इंद्रिय, मन, हृदय पर नियंत्रण प्राप्त होता है और निःश्वास के द्वारा भीतर प्रविष्ट प्राणवायु रक्त के साथ समग्र शरीर में संचारण कर जीवन की रक्षा करता है।
- प्राणवायु इस वातदोष प्रकार के कारण निःश्वास प्रक्रिया होती है और निःश्वास के द्वारा प्रविष्ट हवा को व्यवहार में 'प्राणवायु' कहा जाता है।

सारांश, प्राणवायु इस संज्ञा का शास्त्रीय परिभाषिक अर्थ एवं व्यावहारिक अर्थ संदर्भ के अनुसार समझना अपेक्षित है।

२) **उदान का कार्य**

- **उरस्थानम् उदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत्।** ... अ. हृ. सू.
- **भाषितगीतादिरिति आदिशद्वाद् उच्छ्वासादिविशेषा।** ... डल्हण टीका

निःश्वास यह प्राण का और उच्छ्वास यह उदान का कार्य है। चयापचय प्रक्रिया में निर्मित सूक्ष्म मलीन अंश सुनिश्चित मात्रा में शरीर से बाहर न निकाले गए तो शरीरस्वास्थ्य बिगड़ता है। शरीर में विषैले पदार्थों के संचय के उपद्रवस्वरुप क्वचित् मूर्च्छा, मृतावस्था ऐसे गंभीर परिणाम हो सकते हैं। निःश्वास तथा उच्छ्वास इनमें संतुलन (समयोग) बना रहना जरूरी है।

३) **साधक पित्त**

साधक पित्त में बिगाड़ होने से यदि मानस कार्य संतुलन बिगड़ जाए तो मानसिक तनाव, क्रोध, भय आदि लक्षण उत्पन्न होकर उसका परिणाम श्वसन प्रक्रिया पर होता है।

४) **अवलंबक कफ**

कफ के स्निग्ध, श्लक्ष्ण गुण के कारण उरः स्थान स्थित हृदय, फुफ्फुस इन महत्त्वपूर्ण अंगों को संरक्षण प्राप्त होता है। जन्म से मृत्यु तक आजीवन, अहर्निश श्वसन चलता रहता है। सातत्यपूर्ण गतिविधियों के कारण फुफ्फुस का क्षरण होता है। फुफ्फुस, हृदय ये अंग चिरकाल कार्यकारी रहें, उरःस्थान के अवयवों की संकोचन - विकसन क्रियाएँ सुखपूर्वक हो, उनका पोषण हो इस दृष्टी से शीत, स्निग्ध, मृदु, मंद गुणों से युक्त अवलंबक कफ मदद करता है।

५) **रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा**

इन धातुओं का श्वसन प्रक्रिया से निकट संबंध होता है। उदा. रक्तधातु क्षय होने पर (Anaemic Condition) सृष्टी से प्राप्त अंबरपीयुष शरीर में सर्वदूर पहुँचने में विलंब होता है। (क्यों कि सृष्टी में स्थित प्राणद्रव्यों का वहन शरीरांतर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटकों तक रस-रक्त के द्वारा ही किया जाता है।)

प्राणो हि रक्तं अनुधावति। ... चरक

इसीलिए अधिक बार श्वासोच्छ्वास होकर कम मात्रा में उपस्थित रक्तधातु के द्वारा कार्य सम्पन्न किया जाता है।

मल - इसी प्रकार, वार्धक्य अथवा विशेषतः कुछ व्याधियों की गंभीर अवस्था में यदि धातूनाश अधिक वेगपूर्वक होने लगे तो मलिन सूक्ष्म अंश की अधिक निर्मिती होती है। इसी कारण उच्छ्वास का वेग बढ जाता है।

अवयव रचना तथा दोष-धातु-मल अध्ययन का महत्त्व

उपरोक्त श्वसन संबंधित अवयव रचनाओं तथा दोष - धातु मल का प्राकृतत्व होने पर ही श्वसन प्रक्रिया सुयोग्य प्रकार से हो सकती है।

प्राकृत शरीर रचना पर ही प्राकृत शारीर क्रिया निर्भर होती है। किसी अवयव की प्राकृत रचना का ज्ञान होने पर ही उसकी विकृत रचना समझी जा सकती है। यदि रुग्ण थकान की शिकायत करता होगा, तब उसकी प्राकृत श्वसन प्रक्रिया बिगड़ी हुई है या नहीं? इसका परीक्षण करना आवश्यक है। इस परीक्षण में संबंधित अवयवों के दोष, धातु, मल का परीक्षण करना पड़ता है। उदा.- नासा पटल अंशतः तीर्यक होने से (Deviated Nasal Septum) भी रुग्ण को श्वासोच्छ्वास में तकलीफ होने की संभावना होती है अथवा प्राणवायु की अनुलोम गति में कफ संचय के कारण अवरोध निर्माण होकर भी थकान महसूस हो सकती है।

श्वसन प्रक्रिया

शारंगधर ने श्वसन प्रक्रिया का संक्षेप में, किन्तु अत्यंत सरल वर्णन किया है।

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्टवा हृत्कमलान्तरम्।
कंठात् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चांबरपीयुषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहं अखिलम् जीवं च जाठरानलम्॥ ... शा. पू.

अर्थ - नाभी स्थान में उपस्थित प्राणवायु हृत्कमल को स्पर्श कर कंठ के मार्ग से नासिका द्वारा बाहर निकलता है। आकाशस्थ अम्बरपीयूष प्राप्त कर वह पुनः वेगपूर्वक शरीर में वापस आता है और समग्र शरीर का प्रीणन (ताजगी) करता है, साथही जीवन कर्म सम्पन्न कर जाठराग्नि को बल प्रदान करता है। इस श्लोक का गर्भितार्थ समझने से श्वसन प्रक्रिया का सुलभता से आकलन होता है।

श्वसन प्रक्रिया के दौरान फुफ्फुस की गतिविधियों का नियंत्रण शरीरस्थ प्राणवायु

द्वारा होता है। उसकी प्रेरणा से बाह्य हवा (उपयुक्त बाह्य प्राण का अंश) नासिका द्वारा गले में और वहाँ से श्वासनलिका द्वारा फुफ्फुस में लाई जाती है। हृदय के द्वारा रसरक्त में स्थित वायुस्वरुपी मलिन अंश फुफ्फुस में आते हैं। फुफ्फुस में इस प्रकार शरीरोपयोगी प्राण के अंश का ग्रहण तथा मलिन अंश का उत्सर्जन इस प्रकार से लेन-देन प्रक्रिया पूर्ण होती है। अशुद्ध, मलीन अंश उदान की प्रेरणा से वायुकोश, श्वासनलिका, कंठ, नासिका इस उल्टे मार्ग से बाहर निकाले जाते हैं और श्वसन प्रक्रिया पूर्ण होती है।

रक्त में मिश्रित उपयुक्त प्राण का अंश फुफ्फुस से पुनः हृदय में आकर तत्पश्चात् व्यानवायु की प्रेरणा से रस-रक्त के साथ समग्र शरीर में प्रसृत किया जाता है।

प्राणो हि रक्तं अनुधावति।

संक्षेपतः, प्राणवह स्त्रोतस में बाह्यसृष्टी में स्थित वायु का रुपान्तर शारीरभाव में किया जाता है।

शारंगधर ने वायुकृत धातुपोषण का उल्लेख किया है। प्राणवायु शिराओं के द्वारा सभी धातुओं का पोषण करता है, ऐसा वर्णन किया है।

सिरा धमन्यो नाभिस्थाः सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्।

पुष्यन्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वं धातुभिः॥ **... शा. ख.**

कुल मिलाकर, श्वसनप्रक्रिया केवल प्राणवह स्त्रोतसों तक ही मर्यादित नहीं है। शरीर के प्रत्येक भावघटक में श्वसन प्रक्रिया सूक्ष्म रुप से चलती रहती है।

श्वसन संख्या

विशिष्ठ कालावधी में श्वसन प्रक्रिया कितनी बार होती है ? इसके संदर्भ में निम्न सूत्र योगचूडामणी नामक ग्रंथ में मिलता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

हंसहसेत्यमुं मन्त्रंजीवो जपति सर्वदा॥

षट्शतानि दिवा - रात्रौ सहस्त्राव्येक विंशतिः॥

संख्या गणन

श्वसन क्रिया आजीवन होती रहती है। निरोगी, स्वस्थ, युवा व्यक्ति में दिखाई देने वाला यह श्वसन मान है, व्याधी अवस्था में यह प्रमाण अधिक होता है।

प्रतिदिन २१,६०० बार श्वसन किया जाता है। अर्थात् एक घंटे में ९०० बार अथवा एक मिनट में १५ बार श्वसन होता है, यह उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट होता है।

श्वसन का महत्त्व

रक्त का जीवन (प्राणधारण) कार्य सम्पन्न होने के लिए श्वसन अत्यंत आवश्यक है। यह कार्य न होने पर शरीर धातु-परमाणुओं पर विशेषतः हृदय, मस्तिष्क इन सद्यप्राणहर मर्मों पर परिणाम होकर उनके व्यापार तत्काल बंद होने से जीवन का नाश (मृत्यु) हो सकता है।

अर्वाचीन विचार

in detail

Respiration

Every organism requires a constant supply of energy. It is obtained from the oxidation of food molecules in every cell. In animals, the oxygen is supplied by a specialized system called as Respiratory System

Respiratory System in Man

Respiration in man occurs by lungs. So the process is termed as Pulmonary Respiration.

Respiratory system consists of the following organs.

Conducting Organs

1) Nostrils and nasal chamber. 2) Nasopharynx.

3) Larynx 4) Trachea

Main Organs

5) Bronchi and bronchioles 6) Lungs & alveoli (air sacs)

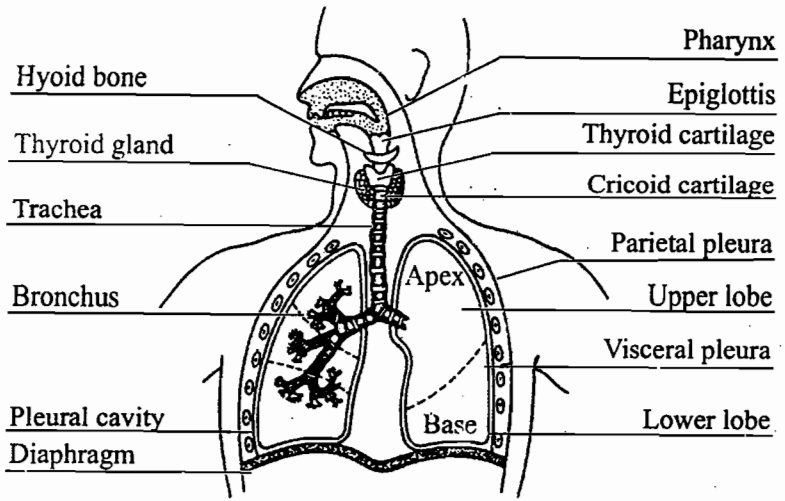

The respiratory system.

1) Nostrils and Nasal Chamber

A pair of nostrils leads to nasal chamber / cavities. It is divided into right and left halves by a cartilage. It is differentiated in three parts as follows

- **Vestibular Part**

It is the anteriormost region of the nasal chamber lined by mucus and hairs. So dust particles are filtered and settled / caught in the mucus.

- **Respiratory Part**

It is the middle air conducting chamber with rich supply of blood capillaries which provide moisture by which air is made warm / cool and moist.

- **Sensory / Olfactory Part**

It is internally lined by olfactory epithelium for detection of smell. Vibrating cilia also push dust particles towards pharynx where it is swallowed into oesophagus.

2) Nasopharynx

Nasal chamber opens into nasopharynx where respiratory opening (glottis) and oesophageal opening (gullet) cross each other forming pharyngeal chisma.

3) Larynx (Sound Box / Adams Apple)

It is located in the neck region ventral to oesophagus. It contains vocal cords for producing sound of different pitch.

Its anterior opening (glottis) is guarded by a cartilagenous flap epiglottis which prevents the entry of food particles while swallowing.

4) Trachea (Wind Pipe)

It is about 11 cm long and 2.5 cm broad tube supported by 16-20 complete C shaped cartilage rings which avoid the collapsing of trachea.

It is internally lined by ciliated mucus membrane which propel dust particles towards larynx to oesophagus where they are swallowed.

5) Bronchi and Bronchioles

The distal end of trachea bifurcates into two bronchi. Each bronchus is supported by complete cartilagenous rings. Each bronchus divide and redivide to form branching system of bronchioles. Cartilage rings are absent in bronchioles. Each bronchiole terminates in alveolar duct.

6) Lungs with Alveoli

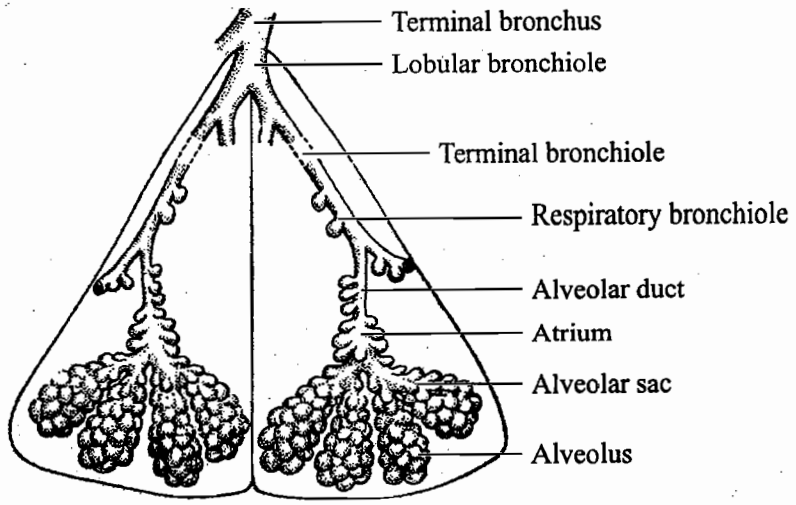

Lungs with Alveoli

- **Lungs**

A pair of conical brownish gray, highly elastic and spongy organs situated in thoracic cavity by the side of the heart. Lungs are protected by rib - cage and intercostal muscles of thorax on lateral side and dome shaped muscular partition diaphragm on posterior side.

Lungs are covered by double pleural membranes - outer parietal and inner visceral pleural membranes. Interpleural cavity filled by pleural fluid.

The right lung is divided into anterior, middle and posterior lobes while the left lung is divided into two lobes - anterior and posterior lobes.

- **Alveoli / Air - Sacs**

The spongy nature of lungs is due to alveoli / air-sacs. Lungs contain about 30 millions of air sacs arranged like bunches of grapes.

The walls of alveoli are very thin and composed of one cell thick layer. The alveoli are surrounded by fine network of capillaries to ensure an easy exchange of oxygen and carbon dioxide.

Pulmonary artery brings deoxygenated blood from the right ventricle of the heart to lungs while the pulmonary vein carries oxygenated blood from the lungs to the left auricle of the heart.

Inflation and deflation of the lungs ensures that regular exchange of gases takes place between the alveoli and the external air. This is dependent upon the arrangement of the pleura, the contraction and relaxation of the muscles of respiration and the elastic connective tissue.

Muscles of Respiration

The expansion of the chest during inspiration occurs as a result of muscular activity, partly voluntary and partly involuntary. The **main muscles** of respiration in normal quiet breathing are the **intercostal muscles and the diaphragm.** During difficult or deep breathing they are assisted by the muscles of the neck, shoulders and abdomen.

1) Intercostal Muscles

There are eleven pairs of intercostal muscles that occupy the space between the twelve pairs of ribs. They are arranged in two layers, the external and intercostal muscles.

The first rib is fixed. Therefore, when the intercostal muscles contract, they pull all the other ribs towards the first rib. Because of the shape of the rib they move outwards when pulled upwards. In this way the thoracic cavity is enlarged anterio - posteriorly and *laterally. The intercostal muscles are stimulated to contract by the intercostal nerves.*

2) Diaphragm

The Diaphragm is a dome shaped structure separating the thoracic and abdominal cavities. It forms the floor of the thoracic cavity and roof of the abdominal cavity and consists of a central tendon from which muscle fibres radiate to be attached to the lower ribs and sternum and to the vertebral column by two cura. When the muscle of the Diaphragm is relaxed, the central tendon is at the level of the 8th thoracic vertebra. When it contracts, its muscle fibres shorten and the central tendon is pulled downward enlarging the thoracic cavity in length. This decreases the pressure in the thoracic cavity and increases it in the abdominal and pelvic cavities. The Diaphragm is supplied by the phrenic nerves.

The intercostal muscles and the Diaphragm contract simultaneously ensuring the enlargement of the thoracic cavity in all direction, i.e. from back to front, side to side and up to bottom.

Cycle of Respiration

This occurs 16 to 18 times / min. and consists of three phases.

1) Inspiration, 2) Expiration, 3) Pause

As described previously, the visceral pleura is adherent to the lungs and the parietal pleura to the inner wall of the thorax and to the diaphragm. Between them there is a thin film of serous fluid.

Important steps in Respiration Process

1) Ventilation 2) Diffusion 3) Perfusion

- **Inspiration**

When the capacity of the thoracic cavity is increased by simultaneous contraction of the intercostal muscles and the diaphragm, the parietal pleura moves with the wall of the thorax and

to the diaphragm. **This reduces the pressure in the pleural cavity to a level considerably lower than atmospheric pressure.** The viserl pleura follows the parietal pleura. During this process, the lungs are stretched and the pressure within the alveoli and in the air passages is reduced, drawing air into the lungs in an attempt to equalize the atmospheric and alveolar air pressures.

This process of inspiration is active as it requires expenditure of energy for muscle contraction the negative pressure created in the thoracic cavity aids venous return to the heart and is known as the respiratory pump.

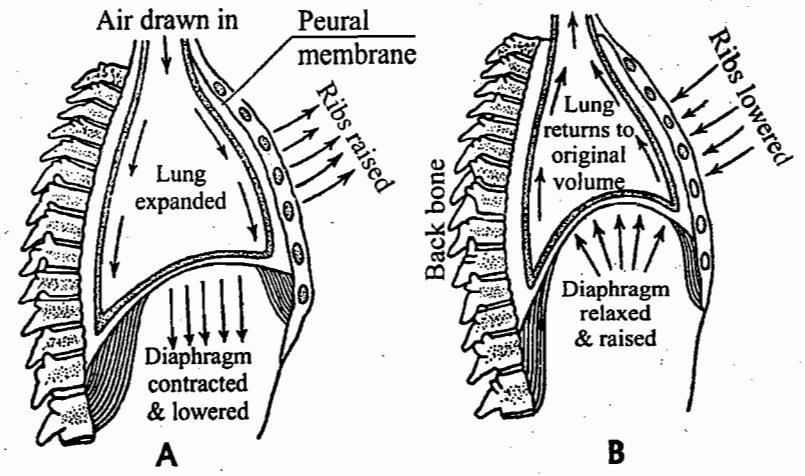

Changes in capacity of the thoracic cavity (and the lungs) during breathing (side view) (A = Inspiration, B = Expiration)

- **Expiration**

Relaxation of the intercostal muscles and Diaphragm results in downwards and inward movement of the rib cage and elastic recoil of the lungs. As this occurs, the pressure of gases inside the thorax exceeds that in the atmosphere and therefore air is expelled from the respiratory tract. The lungs still contain some air and are prevented

from complete collapse by the intact pleura. This process is passive as it does not require the expenditure of energy.

- **Pause**

  After expiration there is a pause before the next cycle begins.

Physiological Variables Affecting Respiration

- **Elasticity**

  Loss of elasticity of the connective tissue in the lungs necessitates forced expiration and increased effort on inspiration.

- **Compliance**

  This is a measure of the distensibility of the lungs i.e. the effort required to inflate the alveoli. When compliance is low, the effort needed to inflate the lungs is greater than normal. Eg. in some diseases where elasticity is reduced or when insufficient surfactant is present.

- **Airflow Resistance**

  When this is increased e.g. in broncho construction, more respiratory effort is required to inflate the lungs.

Lung function tests are carried out to determine respiratory function and are based on the parameters outlined above.

Composition of Air

Atmospheric pressure at sea level is 101.3 kilopascals (kPa) or 760 mmHg. With the increase in height above sea level, atmospheric pressure is progressively reduced and at 5500 m (18,000 ft) it is about half that at sea level. Under water, pressure increases by approximately 1 atmosphere per 10 m below sea level.

Air is a mixture of gases, nitrogen, oxygen, carbon dioxide, water vapour and small quantities inert gases. The percentage of each is listed in the following table.

The Composition of Inspired and Expired Air

	Inspired air (%)	Expired air (%)
Oxygen	21	16
Carbon dioxide	0.04	4
Nitrogen and Rare Gases	78	78
Water Vapours	Variable	Saturated

Each gas in the mixture exerts a part of the total pressure proportional to its concentration, i.e. the partial pressure. This is denoted as PO_2, PCO_2.

Parietal Pressure of Gases

	Alveolar air		Deoxygenated blood		Oxygenated blood	
	Kpa	mmHg	Kpa	mmHg	Kpa	mmHg
Oxygen	13.3	100	5.3	40	13.3	100
Carbon dioxide	5.3	40	5.8	44	5.3	40
Nitrogen & Other Inert Gases	76.4	573	76.4	573	76.4	573
Water vapours	$\frac{6.3}{101.3}$		$\frac{47}{760}$			

Alveolar air

The composition of alveolar air remains fairly constant and is different from atmospheric air. It is saturated with water vapour and contains more carbon dioxide and less oxygen. Saturation with water vapour provides 6.3 Kpa (47 mmHg) thus reducing the partial pressure of all the other gases present. Gaseous exchange between the alveoli and the bloodstream (external respiration) is a continuous process as the alveoli are never empty so it is independent of the respiratory cycle. During each inspiration only some of the alveolar gases are exchanged.

Expired Air

This is a mixture of alveolar air and atmospheric air in the dead space. Its composition is shown in the table above.

Diffusion of Gases

Exchange of gases occurs when a difference in partial pressure exists across semipermeable membranes. Gases move by diffusion from the higher concentration to the lower concentration until equilibrium is established. Atmospheric nitrogen is not used by the body so its partial pressure remains unchanged and is the same in inspired and expired air, alveolar air and in the blood.

External Respiration

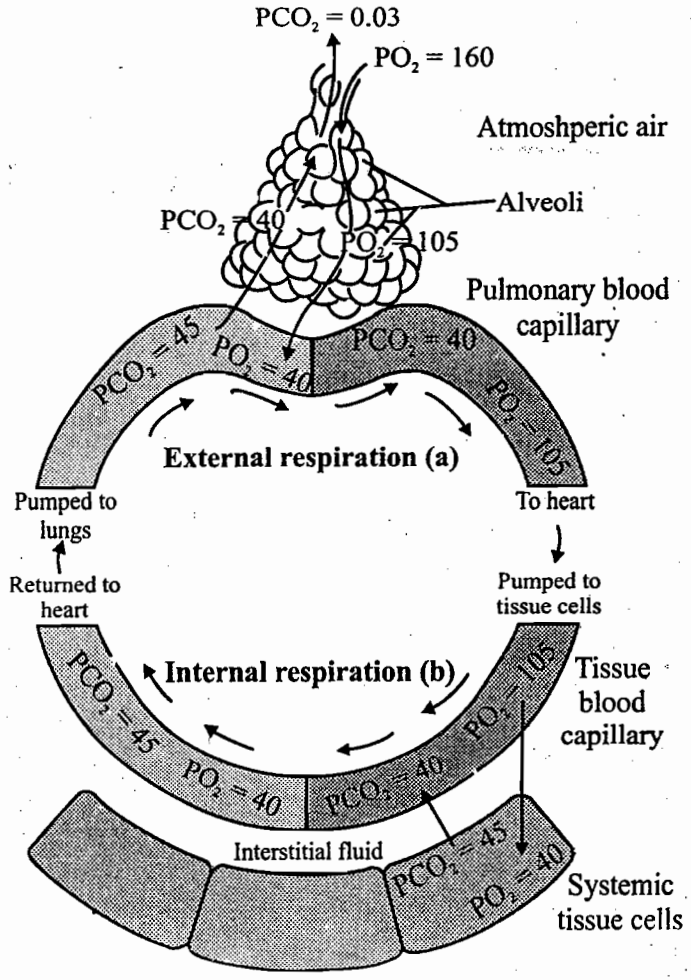

External respiration - the entire change of gases between air and the alveoli and the blood capillaries

This is exchange of gases by diffusion between the alveoli and the blood. Each alveolar wall is one cell thick and is surrounded by a network of tiny capillaries. The total area for gas exchange in the

lungs is 70 to 80 sq. meters. Carbon dioxide diffuses from venous blood along its concentration gradient into the alveoli until equilibrium with alveolar air is reached. When blood leaves the alveolar capillaries, the oxygen process oxygen diffuses from the alveoli into the blood. The slow flow of blood through the capillaries increases the time available for diffusion and carbon dioxide concentrations are in equilibrium with those of alveolar air.

Internal Respiration

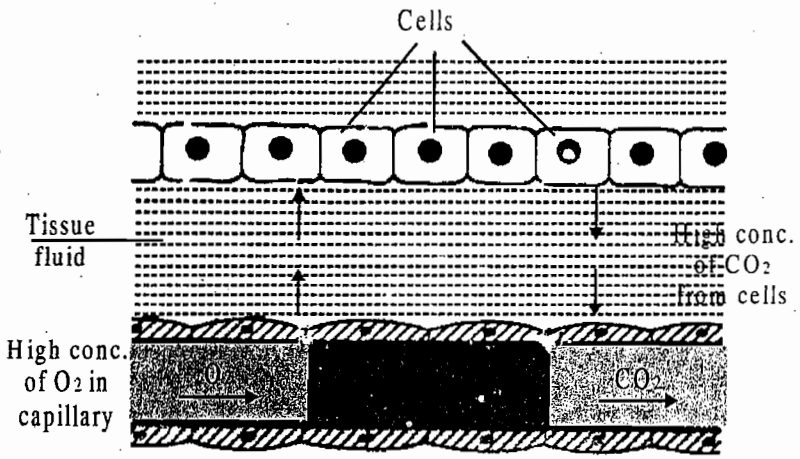

Internal respiration-the entire change of gases between capillaries & the tissues.

This is exchange of gases between blood in the capillaries and the body cells. When there is a difference in partial pressures oxygen diffuses outwards from the arterial end of capillaries into the surrounding extracellular fluid then through cell walls. The process involved is that of diffusion from a higher concentration of oxygen in the blood to a lower concentration in the cells, i.e. the concentration gradient. Carbon dioxide diffuses from the cells into the extracellular fluid then the bloodstream towards the venous end of the capillary.

वायोः रक्तसंचार (O_2 and CO_2 carriage by blood)

Transport of Gases

1) Transport of oxygen

O_2 is transported from lungs to the tissues, through arterial blood. Transport occurs by two methods.

a) Oxyhaemoglobin Form

98% of O_2 is transported by binding with Haemoglobin and forming Oxyhaemoglobin.

Formation of oxyhaemoglobin

$$Hb_4 + O_2 \longrightarrow Hb_4O_2$$
$$Hb_4O_2 + O_2 \longrightarrow Hb_4O_4$$
$$Hb_4O_4 + O_2 \longrightarrow Hb_4O_6$$
$$Hb_4O_6 + O_2 \longrightarrow Hb_4O_8$$

Clinical Application

In Anaemia / Co poisoning, O_2 transport becomes less. This is called as 'Anaemic Hypoxia.

$Hb_4O_8 \longrightarrow$ Oxyhemoglobin

Oxyhemoglobin is formed at lungs, then transported to tissues. At the tissue, O_2 is liberated and Hb is made free.

O_2 Dissociation curve

It is S-shaped curve. At PO_2 – 40 mm Hg. Curve is very sharp, indicating maximum disscciation of O_2 from Hb at tissue level.

Curve shift to the right (Bohr's effect) when PCO_2 increases, H^+ ion increases and temperature increases.

Shift to the left occurs, when PCO_2 ↓, H^+ ions ↓ and temperature ↓.

b) Dissolved form

Very little quantity of oxygen (2%) is transported in dissolved form. The reason for this is solubility of O_2 is very poor.

2) Transport of CO_2

CO_2 is transported from tissues to lungs, through venous blood. CO_2 transport occurs in the following three ways.

a) Bicarbonate form

Major quantity of CO_2 (93%) is transported by this method. Near tissue CO_2 combines with the H_2CO_3, which dissociated to form H^+ and HCO_3^-.

- HCO_3^- combines with Na^+ to form $NaHCO_3$ (in the plasma)
- HCO_3^- combines with K^+ to form $KHCO_3$ (Red cells)

$$CO_2 + H_2O \longrightarrow H_2CO_3$$

$$\downarrow$$

$$H^+ + HCO_3^- \xrightarrow{K+} KHCO_3 \text{ (RBC)}$$

$$\downarrow Na+$$

$$NaHCO_3 \text{ (Plasma)}$$

These bicarbonates are transported to lungs. Near lungs opposite reaction occurs and CO_2 and water vapour is liberated, which is thrown out through expiration.

b) Carbamino compound

CO_2 combines with plasma proteins to form carbamino proteins (plasma)

CO_2 also combines with Hb to form carbino-hemoglobin (in RBC's)

These compounds are brought to the lung and CO_2 is liberated from them

c) Dissolved form

Less quantity of CO_2 is dissolved in plasma and red cell and is transported to the lungs through venous blood. Near lung CO_2 is given out.

Clinical Application

When acidic metabolites accumulate, condition is called as 'acidosis' this may be due metabolic or respiratory or renal causes. Inj. Sodibicarb is used in this situation.

श्वसन क्रियायाः नियंत्रणं।

1) Regulation of Respiration

Nervous control | **Chemical control**

Nervous regulation

Four respiratory centers

1) Dorsal respiratory group of neurons (DRGN) – Dorsal part of medulla
2) Ventral respiratory group of neurons (VRGN) – Ventral part of medulla
3) Apneustic centre – Lower Pons
4) Pneumotaxic centre – Upper pons

Functions of centers

1) DRGN – inspiratory centre

Main centre to regulate the respiration. They produce action potential. Centre is connected to spinal cord, phrenic nerves, intercostal nerves and to inspiratory muscles.

When signals are sent to inspiratory muscles they contract and inspiration occurs when centre stops functioning expiration occurs passively. In quite respiration, only this centre is active.

2) VRGN – Expiratory centre.

Centre is connected to expiratory muscles (internal intercostal and abdominal muscles)

It works only during exercise, reciprocal to DRGN (during exercise $CO_2 \uparrow$, H^+ ion $\uparrow$, formation of lactic acid and it is expelled out through KO_2 media)

3) Apneustic centre

It is connected to inspiratory centre and pneumotaxic centre.

4) Pneumotaxic centre

It is also connected to inspiratory and apneustic centre.

Last two centre main rhythmic function of DRGN

Different reflexes to control the process of Respiration.

1) Herring, Breuer's reflex (inflation reflex)

In the wall of Bronchi and pleura, stretch receptors are present. When inspiration takes place and chest expands, these receptors are stimulated afferent impulses via vagus nerve go to DRGN which causes its inhibition. This reflex requires tidal volume of 1.5 lit. So

this reflex has no role in quiet respiration. It works only during exercise.

2) Role of 'J' receptors

Special N. endings are located between alveolus and pulmonary capillary. They are stimulated by pulmonary o edema and send afferent impulses through vagus to the Respiration.

श्वसन नियंत्रण (Respiration Control)

Pulmonary oedema (In the cases of cardiac asthma)

3) Lung irrhitant receptors

Located in bronchi irrhitant substances stimulates these receptors and R.R.

4) Coughing reflex

Foreign particles in respiratory tract cause cough reflex.

5) Sneezing reflex

Irritation of nasal mucosa causes sneezing reflex.

6) Deglutition reflex

at the time of pharyngeal stage of deglutition, respiration stops temporarily (epiglottis)

Control of cerebral cortex

Higher centers can alter the act of respiration (Voluntary Control)

Chemical regulation of Respiration

1) Role of CO_2

Accumulation of CO_2 increases R.R. Peripheral chemoreceptors are located in carotid body and aortic bodies. These are sensitive for CO_2, H^+ ions and lack of O_2 CO_2 stimulates the chemoreceptors afferent impulses go via 9th and 10th cranial N. which stimulates DRGN and R.R.

2) Role of H^+ ions

Excess H^+ ions in the blood also stimulate the respiration.

3) Role of lack of O_2

When PO_2 is less than 60 mm of Hg. Afferent impulses go to DRGN and R.R.

Important note

CO_2 is more potent stimulus for respiration than lack of O_2.

Functions of Respiration

1) To supply O_2 and remove CO_2 from the body.
2) To regulate hydrogen ion concentration of the blood.
3) To increase arterial O_2 tension.
4) To help in the regulation of the body temperature.

Lung Function Tests / Pulmonary Function Tests

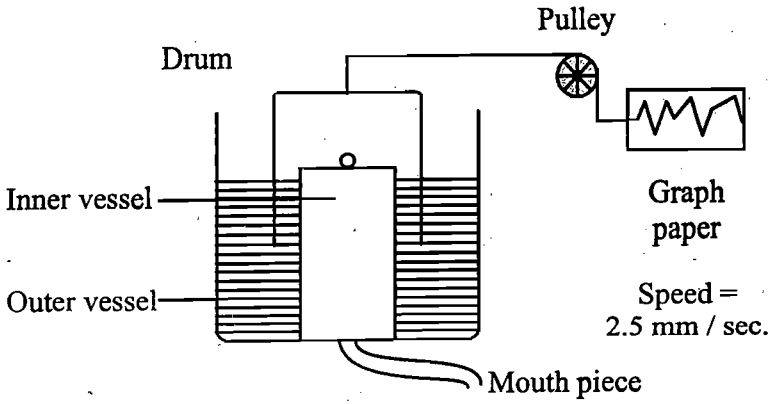

Spirometer.

Graph of spirometer

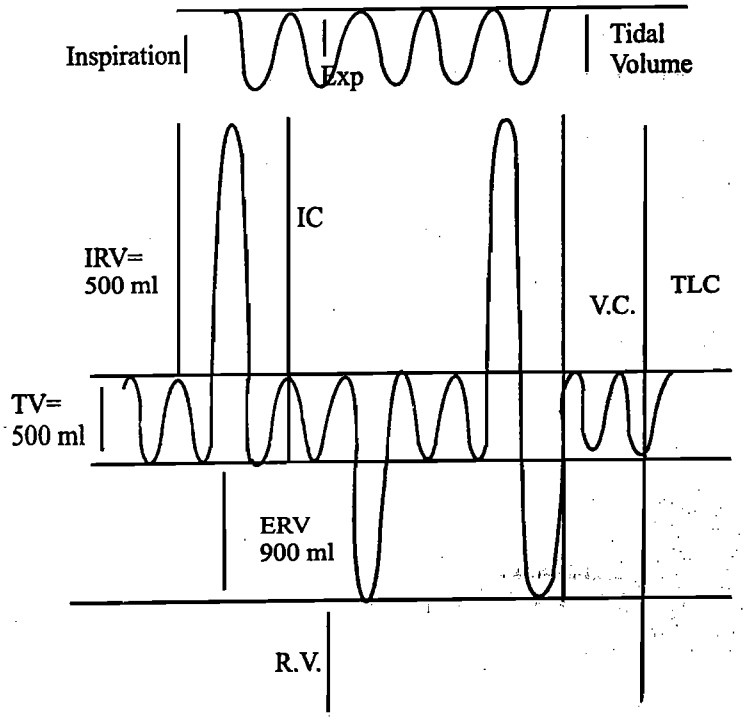

1) Indications

i) To differentiate between obstructive (Asthma and Bronchitis) and restrictive (Pneumonia, Pleural effusion) Lung diseases

ii) To study the effect of harmful agents like dust and smoke on lungs in industrial workers.

iii) For the fitness test in players or before employment

iv) In research to study the effect of bronchodilator drugs (Deriphylline)

2) Limitations of Lung Function Tests

i) These tests require co-operation of the patient. In comatose and in children, tests cannot be done.

ii) Because the lung has large functional reserve, early detection of the disease is difficult.

iii) Single test is not useful, multiple tests are required.

iv) Findings of the clinical examination must be co-related with the lung function test report.

v) Patho-anatomical diagnosis of the disease cannot be made (cause and location cannot be detected).

Classification of L.F.T.

1) Static tests 2) Dynamic tests

Static Tests

1) **Tidal volume** (TV) = Amount of air taken in or out during quiet respiration. Normal value = 400-500 ml

2) **Inspiratory Reserve volume** (IRV) = Amount of air taken in, by forceful inspiration, over and above tidal volume.

Normal value = 2400 – 2800 ml

3) **Inspiratory Capacity** = Tidal volume + Inspiratory Reserve volume

IC = TV + IRV

4) **Expiratory Reserve Volume** (ERV) = Amount of air given out by forceful expiration over and above Tidal volume.

Normal value = 800 – 900 ml

5) **Residual Volume** (RV) = Amount of air, that remains in lungs at a end of forceful expiration. Normal Value = 1000 ml

6) **Functional Residual Capacity (FRC)** = Expiratory Reserve Volume + Residual Volume

= 800 + 1000

= 1800 ml

7) **Vital Capacity** (VC) = Amount of air that can be given out by forceful expiration, after forceful inspiration.

VC = IV + IRV + ERV

Normal value

Adult Indian males = 4 – 5 liters

Adult Indian females = 3.3 – 4 liters

Physiological Variations

a) **Age** = With the age, VC increases up to adulthood.

b) **Height** = VC is more in tall person.

c) **Posture** = VC is more in standing position.

d) **Sex** = VC is less in females because average height is low.

e) **Exercise and yoga** = Increases VC

f) **At High Altitude** = VC Increases

Practical Importance of Tests

1) Vital capacity is affected in restrictive lung diseases such as pneumonia and VC is not affected in obstructive diseases like Asthma.

2) VC Test is used in sports people and before joining particular occupation like Military Services.

8) Total Lung Capacity (TLC) - It is VC+ Residual volume.

(Normal value = 5 to 6 liters)

Dynamic Lung Tests

1) FEV_1 - Forced expiratory volume, at the end of 1 second

Normal value - FEV_1 = 85 %

FEV_2 = 97 %

FEV_3 = 100 %

These values are reduced in obstructive lung disease (Asthma and Bronchitis)

2) Resting Minute Ventilation (RMV)

Amount of the air ventilated in one minute at rest.

RMV = Tidal volume x Respiratory Rate

(Normal value = 8 to 9 lit./min)

3) Maximum Breathing Capacity (MBC) Or

Maximum Voluntary Ventilation (MVV)

Amount of air which is ventilated by forceful ventilation in 1 minute. (Normal value = 80 to 100 lit./min)

MBC is reduced in both obstructive and restrictive lung diseases.

4) Pick Flow Rate (PFR)

It is the maximum rate at which, air can be expired out.

(Normal value = 450 – 500 lit./min.)

PFR is measured by 'Peak Flow Meter'

PFR is reduced 'Obstructive lung disease.' (Asthma)

स्रोतोंगत अवशिष्ट वायु वर्णनम् ।

1) Functional Residual Capacity (FRC)

Amount of air remaining in the air passages and the alveoli, at the end of quiet expiration.

2) Residual volume

Amount of air left behind in the ling at the end of deep expiration (1 to 1.4 lit.)

3) Dead space air

Air left in the bronchial tree, which does not take part in respiration.

Study of Respiration

a) Inspection

Note construction of bony structures, any deformities, asymmetry or rickets, muscles, skin, etc.

Normally movements of chest wall are equal on both sides from midplane.

b) Palpation

It is done to confirm the findings of inspection.

c) Percussion (Tapping)

Lung tissue normally gives resonant note while solid tissue (fibrous) gives a dull tone.

d) Auscultation

It is done with stethoscope to hear the normal and abnormal sounds. Three types of normal sounds are

- Tracheal sounds at the root of neck.
- Bronchial sounds in bronchial region.
- Vesicular sounds of lung tissue.

Special Study

For chest structure and movement, lungs and heart, X - ray examination and screening.

A few important terms

Eupnoea	-	Normal breathing.
Hyperpnoea	-	Increase in amplitude of rate of respiration.
Dyspnoea	-	Difficulty in breathing.

Note

1) In male, breathing is predominantly abdominal and in females it is thoracic.

2) Artificial respiration is needed in some emergencies like drowning, an electric shock, operations, greater doses of anaesthesia etc. When breathing suddenly stops but heart keeps on breathing.

२) श्वासावरोध

'श्वासावरोध' शब्द से पूर्णतः अवरोध अपेक्षित नहीं, बल्कि अधिकतर Respiratory Insufficiency अर्थात् अपूर्ण स्वरुप का श्वसन अपेक्षित है।

2A) Hypoxia (Less O_2)

This is deficiency of O_2 at tissue level.

Types

1) Hypoxic Hypoxia
2) Anaemic Hypoxia
3) Stagnant Hypoxia
4) Histotoxic Hypoxia

Causes

1) Hypoxic Hypoxia

i) Atmospheric O_2 is less (high altitude)

ii) Ventilation in the lung is improper (Bronchitis & Asthma) Narrow bronchi.

iii) Improper diffusion across pulmonary membrane (pulmonary oedema, fibrosis of lung, T.B.)

iv) Improper mixing of arterial and venous blood (congenital atrial septal defect (P.D.A. – Patent Ductus Arteriosus)

2) Anaemic Hypoxia

i) Atmospheric O_2 is normal, diffusion of O_2 is normal but Hb% is less or defective. So O_2 is not transported properly. (Severe anemia or CO_2 poisoning)

3) Stagnant hypoxia

i) Atmospheric O_2 normal, diffusion normal, Hb normal but circulation is defective. So O_2 is not transported properly (C.C.F. or obstruction of arteries due to thromboembolism)

4) Histo-toxic hypoxia

i) Atmospheric O_2 normal, diffusion normal, Hb normal, circulation is normal but cellular mitochondrial enzymes are damaged. So O_2 cannot be utilized.

Effects of Hypoxia

1) **R.S.** – To begin with Respiration is stimulated but when CO_2 is washed out, no further rise in respiration.

2) **C.V.S.** – To begin with H.R. increases but if hypoxia persist for longer time, Myocardial weakening occurs.

3) **Excretory system** – Due to washing of CO_2 alkalosis occurs. Urinary pH becomes alkaline.

4) **Blood** – J.G. cells are stimulated by hypoxia. Erythropoietin formation increases Bone marrow is stimulated $\Rightarrow$ R.B.C. count $\uparrow$ $\Rightarrow$ Hb $\uparrow$

Why there is polycythemia at high altitude?

इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त प्रकार से ही दिया जा सकता है $

5) Digestive System (GIT) Nausea and vomiting occur due to hypoxia of GIT.

6) **Nervous System** – Throbbing headache, mental concentration becomes less and irritability increases.

Treatment of Hypoxia

1) Treat the basic cause

2) O_2 therapy is useful in Hypoxic hypoxia and few cases of anaemic hypoxia.

2B) Asphyxia

Lack of O_2 and excess of CO_2 in the body.

Causes

1) Drowning

2) Suffocation in the smoke

3) Foreign body obstruction in trachea

4) Paralysis of respiratory muscles

Pathological stages

1) **1st stage – Hyperpnea**

last for 1 min due to excess of CO_2 and so R.R. increases.

2) **2nd stage – Central excitation**

Duration - 2 min. Due to excess of CO_2 complete CNS stimulates, H.R., B.P. increases.

3) **3rd stage – Central failure**

Lasts for 3 min. due to lack of O_2, irreversible damage to N.S.

H.R., B.P., decreases.

Lastly pupils are dilated and death occurs.

Treatment

1) Treat the cause

2) First Aid – CPR – Cardio pulmonary Resiscitation.

3) Emergency – Tracheostomy and 100% O_2 is given.

2C) Dyspnoea (Breathlessness)

1) **Dysponea** = Difficulty in breathing

2) **Hyperopnea** = Double the normal respiration

3) **Dysponea** = when R.R. becomes 3 to 4 times more than normal, the patient starts feeling breathless.

Causes of Dyspnoea

1) **Respiratory causes** – Bronchial asthma, Acute bronchitis, pneumonia etc.

2) **Cardio vascular problems**

C.C.F = congestive cardiac failure,

I.H.D.

3) **Metabolic causes**

Uremia, Diabetic Ketoacidosis

4) **Blood diseases**

Severe Anemia

Grades of Dyspnoea

1) **Grade I** = Dyspnoea after accustomed exertion.

2) **Grade II** = Dyspnoea after climbing up

3) **Grade III** = Dyspnoea after walking on flat surface

4) **Grade IV** = Dyspnoea at rest

3) कृत्रिम श्वसनकर्म (Artificial Respiration)

अपघात, जलनिमज्जन, इलेक्ट्रिक शॉक इसमें प्रथमोचार अथवा मुख्य उपचार स्वरुप कृत्रिम श्वासोच्छ्वास देना पड़ सकता है।

कृत्रिम श्वसनकर्म के संदर्भ में विविध पद्धति

1) Mouth To Mouth Breathing

a) The patient is laid flat on the back on the table or on ground, higher than that on which rescuer stands and under the patient's shoulders some soft article is placed so that the patient's head falls well back. Standing or kneeling opposite to the patient's head, the rescuer presses with one hand on the crown of the patient's head gentally so that the head is fully extended. Other hand is placed on the patient's jaw so that the jaw is drawn well forward.

b) Breathing in deeply the rescuer's mouth is placed over the patient's mouth whilst pinching the patient's nose to block the nasal orifice. The rescuer breaths out forcibly into the patient's lungs. When the patient is a child or baby the rescuer should breath delicately.

c) The patient expires passively and the jaw is kept drawn well forward so that the patient's air passage is always kept patent.

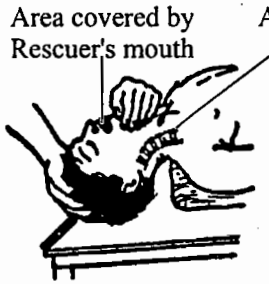

यह अत्यंत सुलभ तथा फलदायी पद्धति है। इसमें चिकित्सक (स्वस्थ व्यक्ति) दीर्घ श्वसन कर रुग्ण के मुख में अपने मुख के द्वारा हवा भरता है। यह प्रक्रिया प्रति मिनट १० से १२ इस प्रमाण में की जाती है। यह पद्धत कुछ उपेक्षित ही थी, क्यों कि स्वस्थ व्यक्ति ने उच्छ्वास द्वारा छोडी हवा रुग्ण की दृष्टी से अयोग्य मानी जाती थी। किन्तु शास्त्रीय दृष्टीकोण के अनुसार यह मिथ्या है, क्यों कि उच्छ्वासित हवा में भी काफी मात्रा में ऑक्सिजन होता है, जिससे रुग्ण को यकीनन लाभ ही होता है। साथही स्वस्थ व्यक्ति द्वारा उच्छ्वासित हवा में होना वाला कार्बन-डाय-ऑक्साईड भी रुग्ण के श्वसन केंद्र (Respiratory centre) को उत्तेजित कर लाभदायी हो सकता है।

2) Sharpey Shaffer's Method

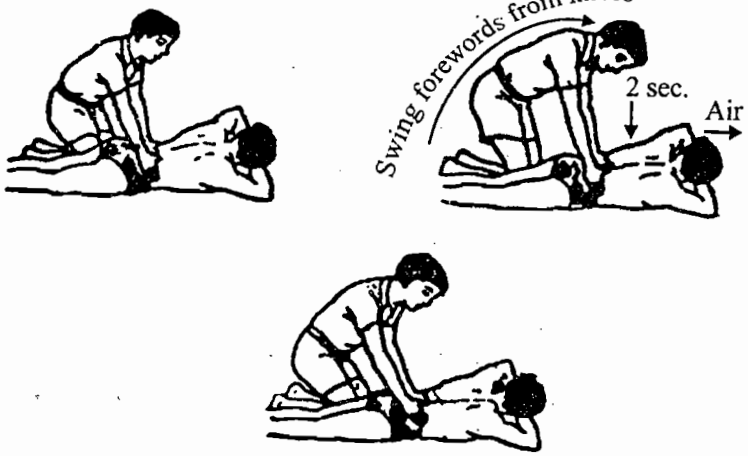

a) Lying casualty's face downwards with head turned to one side arms bent and forehead resting on his hands with neck extended and kneeling to one side of casualty's hips facing his head and placing hands flat on the small of the casualty's back just above the top of the pelvic bones, thumbs almost touched each other in the midline, fingers being spread over the loins and pointing towards the ground.

b) Seating on heals and swinging body slowly forward from knees being kept arms straight and hands in place all the time only applying gentle pressure by the body weight. Forcing air out of the lungs (expiration) to be maintained this position for 2 sec. counting 1,2.

c) Relaxing the pressure by swinging quietly and gradually backwards on to heals allowing inspiration and counting 3, 4, 5 in three sec. before swinging forwards again to first movement being kept arms straight and hands in place all the time.

रुग्ण को पेट के बल तीर्यक अवस्था में, सिर किसी एक ओर घुमाकर बिठाया जाता है। गला साफ करके जिव्हा बाहर खींची जाती है। उरः प्रदेश के निचलें हिस्से में (Lower part of sternum) हाथ की मुट्ठी से दबाव देना और छोड़ना यह प्रक्रिया प्रति मिनट १२-१४ इस प्रमाण में की जाती है।

3) Holger - Nielsen Method

The subject is placed in the prone position with the arms abducted at the shoulders and elbows remaining flexed. The face is turned to one side and rests on the hands. The mouth is cleaned (by wiping the mucus, fluid etc.) The operator kneels down in front of the subject facing towards the head. Two hands are placed on the two side of the chest. With the thumbs and fingers spread apart. Then the operator puts his body weight leaning forwards upon the subject's back. This compresses the chest and helps in expiration. The operator then makes himself straight and at the same time draws the subject's arms forwards by holding them above the elbows. This helps in natural inspiration. This process is repeated about 10-12 times a min.

(a)

(b)

(c)

(d)

(e)

a) Rocking forwards quietly with arms straight and applying light pressure to back by weight of the upper part of body only counting for two sec. 1,2 (Expiration).

b) Rocking back with arms straight releasing pressure gradually and sliding hands to elbows of casualty counting three for 1 sec.

c) Raising and pulling casualty's arms until tension being felt for 2 sec. counting 4,5 causing inspiration.

d) Placing hands over casualty's shoulders with thumbs being touched in the mid line and arms straight. Then leaving casualty's arms down and placing hands on his back as in fig (A) for 1 sec. counting 6.

e) Position of casualty and operator laying casualty with face being nose and mouth unobstructed and neck extended and kneeling at this head being placed one knee near casualty's head and one foot alongside his elbow and hands being placed over the casualty's shoulder blades with thumbs touching in the mid line and fingers spreading out and being kept arms straight.

4) Hospital Management

Artificial Respiration (कृत्रिम श्वसन कर्म)

Respiration is a vital sign. Inadequate airway is the main cause for the death. WHO has mentioned that 50 to 60% deaths occur due to improper ventilation. So airway management and ventilation is important.

Causes of breathlessness – In conscious patient

1) Foreign body obstruction.

2) Aspiration of food or any other secretion in the respiratory tract. (For eg. Fast eating habits).

Symptoms

i) Deep breathing

ii) Difficulty in expiration (Grasping)

During Inspiration **During Expiration**

During inspiration trachea dilates and during expiration trachea recoil. Foreign body sticks to the mucous. Due to the irritation of mucosa – secretion increases – so obstruction also increases.

Symptom

a) In upper air way obstruction patient express the chocking by holding his hand around the throat. – Universal sign.

b) The doctor must see the important sign → Cyanosis

Two types of Cyanosis

I) **Central Cyanosis** – Tip of the tongue become bluish.

II) **Peripheral Cyanosis** – Tip of the finger become bluish.

Treatment

1) Patient has to be sited in relax position. Lift up the neck, put the left hand on the chest and do the stumping (stroke by the pump) at the neck.

2) Or patient can be asked to lie down and do the chest physiotherapy. Extend the neck (Head lift, chin tilt position) Tapping is done from lower lobe to upper lobe of the lungs on both the side.

3) Hot fomatation (स्वेदन - कफ, वातघ्न चिकित्सा) can be given.

4) Mostly with this efforts, airway opens. These are primary efforts.

If needed.

i) Injection Atropine IV 0.6 mg (It reduces the mucous secretion)

ii) Bronchodilators are given. For eg, 'Inj. Deriphylline' 1 ampule.

5) Advise – Bronchoscopy = Planned bronchoscopy or Emergency bronchoscopy

Note – Foreign body can be hydroscopic or non-hygroscopic

Basic principle about foreign body removal is to push the F.B. from down to the upper side. If the foreign body sticks, lung infection chances are more. So, it is necessary to start higher antibiotics.

If the patient is unconscious

Two important features indicate the dyspnoea.

1) Aphonia

2) Absence of cough reflex / Gag reflex

Causes

1) Status asthmaticus

2) Foreign body in the air-way

In unconscious patient first treat the symptoms and then ask the patient. In emergency like shock gasping respiration, peripheral and central cyanosis – three parameters are observed.

i) Rate of the respiration (14-18/min.)

ii) Regularity and rhythm (observe the chest expansion)

iii) Efforts to take breathing.

To activate the Respiratory Centers

Mouth to mouth breathing is very important (Head low position, Head lift and chin tilt position, Pinching of the nose and then mouth to mouth breathing).

In the patients of HIV or Hepatitis in spite of mouth to mouth breathing the patient is directly taken on the ventilator.

If the air way is not open, endotracheal intubation is done. Two types of endotracheal tubes are available nasal and oral. Size No. is 2.5 upto 8. For endotracheal intubation direct laryngoscope is also use. Endotracheal tube is connected to 'Ambu bag'. During the procedure observe the chest expansion and check the air entry by stethoscope.

After 48 hours if the patient is not out, tracheostomy is done. Number of tracheostomy tube is decided according to age.

Tracheostomy tube is of two types, metal and plastic. Vertical incision is taken on the trachea and with proper sterilization care the tube is introduced with stirrer.

After observing PO_2 by pulse oxymeter, the decision of O_2 administration is taken.

Tracheostomy care

1) daily dressing 2) antibiotic coverage

प्राणायाम गतो वायुः तस्य महत्वं च।

स्वास्थ्य रक्षण एवं व्याधि प्रतिबंध इन दोनों दृष्टी से 'योगशास्त्र' अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा आयुर्वेद शास्त्र को पूरक है।

'योग' शब्द का अर्थ

योगस्तु चित्तवृत्ती निरोधः।

अर्थात् शरीर और मन के कार्य नियंत्रण में रखने के उद्देश से मुख्यतः जिस शास्त्र का उदय हुआ, वह योगशास्त्र है।

योगशास्त्र का विचार आठ स्तरों पर किया जाता है, यही 'अष्टांगयोग' है।

इन आठ अंगों के अर्थ निम्न प्रकार से हैं।

१) **यम** - चलना-बोलना, रहन-सहन इस विषय में नैतिक नियम।
उदा. - सत्य बोलें, हिंसा न करें।

२) **नियम** - स्वच्छता संबंधी नियम

३) **आसन** - विशिष्ट प्रकार की, सुखकर शरीरस्थिति

४) **प्राणायाम** - श्वसन प्रक्रिया का नियंत्रण

५) **प्रत्याहार** - इंद्रियों पर नियंत्रण (इंद्रिय निग्रह)

६) **धारणा** - सखोल चिंतन

७) **ध्यान** - मन की एकाग्रता साध कर की हुई चिंतन अवस्था

८) **समाधी** - चित्तवृत्ती निरोध की अंतिम अवस्था

यह है योगशास्त्र के विषय में प्रारंभिक विवेचन।

प्राणायाम

प्राणायाम = प्राण + आयाम।

अर्थात् एक श्वसन प्रक्रिया से दूसरे श्वसन प्रक्रिया तक बढ़ाई गयी काल की मर्यादा। प्राण का मुख्य कार्य है - अन्न, वायु, जल और अन्य उपयुक्त इंद्रिय अर्थों का ग्रहण। यदि प्राणगति को नियंत्रण में रखा जाए तो उदान, व्यान, समान इन सभी का

बल वर्धित होता है और शरीर का क्षरण कम-से-कम रखना संभव होता है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर संरक्षक तथा आयु वृद्धिकारक है।

शरीर की व्याधिप्रतिकार क्षमता कम होने पर, शरीर दुर्बल होने पर, मानसिक तनाव की अवस्था में, और अधिक शारीरिक श्रम के कारण श्वसनवेग बढ़ जाता है, जो हानिकारक है। (इसीलिए श्वसन वेग कम करना और श्वसन की गहराई बढ़ाना अत्यंत उपयुक्त है, जो प्राणायाम से सुखपूर्वक साध्य होता है।)

शरीर में कोष्ठ की (मुख्यतः उदर अवकाश) अवस्था जब विकृत होती है (अर्थात् कोष्ठ अति मात्रा में भरा हुआ अथवा अति मात्रा में रिक्त होना) तब श्वसन वेग बढ़ता है। अतः श्वसन प्रक्रिया नियंत्रण के द्वारा कोष्ठ आरोग्य सम्पन्न रखा जा सकता है।

प्राणायाम प्रक्रिया अधिक उत्तम प्रकार से समझने के लिए कुछ विशिष्ट शब्दों की जानकारी आवश्यक है।

प्राणायाम = पूरक - अन्तःकुंभक - रेचक - बहिःकुंभक

१) **पूरक** - हवा भीतर लेना = निःश्वसन

२) **रेचक** - अशुद्ध हवा शरीर से बाहर निकालना = उच्छ्वसन

३) **अन्तकुंभक** - निःश्वसन प्रक्रिया के पश्चात उच्छ्वास से पूर्व कुछ समय श्वसन रोके रखना।

४) **बहिःकुंभक** - उच्छ्वास के पश्चात अगले निःश्वसन से पूर्व साँस रोके रखना।

प्राणायाम – मूल तत्व

प्राणायाम केवल श्वसन का व्यायाम नहीं बल्कि इसमें फुफ्फुस के व्यायाम के साथही, मन पर भी विशिष्ट नियंत्रण अपेक्षित है। विस्तृत अर्थ में, प्राण के द्वारा हवा, अन्न, पानी और इंद्रियार्थ का ग्रहण किया जाता है। प्राणायाम के द्वारा इन सभी की लेन-देन प्रक्रियाओं पर नियंत्रण साधा जा सकता है। प्राणायाम; अर्थात् विविध प्रकार की शरीर-मानस प्रक्रियाओं पर नियंत्रण; आरोग्यपूर्ण दीर्घायुष्य की प्राप्ति कराता है।

प्राणायाम के दौरान महत्वपूर्ण

प्राणायाम एक कुशलता का काम है। अतः इसका ज्ञान शास्त्रीय प्रकार से माहिर तज्ञों से ही प्राप्त करना चाहिए। प्राणायाम करने के पूर्व शरीर शुद्ध होना आवश्यक है। यह शरीर शुद्धी वमन, विरेचनादि आयुर्वेदिक पंचकर्मोपचार द्वारा अथवा धौती, नेती, नौलि आदि योगापचार द्वारा साध्य हो सकती है।

प्राणायाम कितनी बार करें ?

प्राकृत व्यक्ति में श्वसन प्रक्रिया ४ सेकंद की होती है, अतः पूरक और रेचक क्रमशः २ और ४ सेकंद करना यह प्रारंभिक अभ्यास है। प्रारंभ में प्राणायाम प्रक्रिया एक बैठक में ५ बार करें। यह प्रक्रिया एक बैठक में १५ से २० बार कर सकना यह उत्तम उपलब्धी है।

प्राणायाम कृती

प्राणायाम अभ्यास करने के लिए विशिष्ट प्रकार का सुखकर आसन आवश्यक है। प्रथमतः दाहिनी नासा बंद कर गहरी साँस लें और दहिनी नासा धीरें से छोड़कर साँस छोड़ें। यही प्रक्रिया बाई नाकसा बंद कर विपरीत प्रकार से करें। अन्तःकुंभक अथवा बहिःकुंभक यह प्रक्रिया सबर के साथ आत्मसात करनी चाहिए। प्राणायाम के दौरान गायत्री मंत्र अथवा ओंकार जाप भी उपयुक्त है।

प्राणायाम में समाविष्ट कोई भी प्रक्रिया जान-बूझ कर, बलपूर्वक अथवा अति जलद करने से संभवतः नुकसान ही होता है।

निष्कर्ष

सुश्रुत ने सूत्र स्थान में 'दीर्घश्वास' यह दीर्घायु का एक लक्षण बताया है। प्राणायामागत वायु नियंत्रण से शरीर को भी लाभ होता है।

योगशास्त्र में उल्लेखित प्राणायाम हर व्यक्ति को स्वास्थ्यपूर्ण जीवन की प्राप्ती कराने में नित्योपयोगी अंग है। कुछ विशिष्ठ व्याधियों में प्रचलित उपचारों के साथ ही प्राणायाम करने से अधिक लाभ होता है।

वक्तव्य – स्वामी रामदेवजी महाराज की प्राणायाम एवं योगासन यह व्हीसीडी अवश्य देखें।

प्रकरण ११

वाक्प्रवृत्ती

वाक्प्रवृत्ती यह उदान वायु का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

अवयव अधिष्ठान विचार

वाक्प्रवृत्ती अर्थात् बोलना यह एक कर्म है, जो वागिंद्रिय (बोलने से संबंधित इंद्रिय) इस कर्मेंद्रिय द्वारा होता है। वागिन्द्रिय का अधिष्ठान मुख है, जिव्हा वाक् इंद्रिय का अधिष्ठान है।

जिव्हा वागिंद्रिय वाक्च सत्याज्योतिस्तमो ऽ नृता। ... च. शा.

जिव्हा

कंठमूल से ऊपर आकर आगे दाँतों तक पहुँचने वाला लंबा और प्रायः तीन अंगुल चौड़ा, चपटा मांसमय अवयव, इस प्रकार जिह्वा का वर्णन शास्त्रकारों ने किया है। जिव्हा मुखविवर में स्थित होती है। जिव्हा की गतिविधियां सदैव चलती रहती हैं। जिव्हा का संकरा अग्रभाग मुखविवर के विविध स्थानों को स्पर्श कर विविध शब्द उत्पन्न करता है।

आयाम विस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतीयुक्ता पाटलवर्णी जिव्हा।

... च. शा.

स्वरवह स्त्रोतस

कंठ स्थित स्वरवह स्त्रोतस स्वर उत्पन्न करता है और अनुनासिकादि उच्चारण में नासिका का भी संबंध होने के कारण वागिंद्रिय अधिष्ठान की दृष्टी से कंठ, मुख, नासिकादि तीनों स्थानों का विचार करना पड़ता है।

माधव निदान की मधुकोश टीका में कहा गया है कि कंठ में ४ स्वरवह स्त्रोतस होते हैं।

स्वरवहेषु स्त्रोतःसु शब्दवाहिनीषु धमनीषु। ...सु.उ.५३/३ सु.उ.(टीका)

उपरोक्त श्लोक में स्वरवह स्त्रोतस के साथही शब्दवह धमनी का उल्लेख है। वायु शब्दवह धमनी द्वारा स्वरवह स्त्रोतस तथा जिव्हा को कार्यप्रवृत्त करता है।

शब्द निर्मिती के संदर्भ में दोष-महाभूत विचार

वाक्प्रवृत्ती के संदर्भ में शब्दनिर्मिती यह महत्त्वपूर्ण घटना है।

शब्द आकाश का गुण है। आकाश का अस्तित्व रिक्त स्थान के स्वरुप में होता है। उरः प्रदेश, कंठ, नाडी, स्वरवह स्त्रोतस, मुखविवर, नासिका आदि सभी अवयव अवकाश युक्त होते हैं। वायु यह स्पर्श एवं शब्द गुणों की प्रकृती है, ऐसा कहा गया है। अर्थात् वह शब्द तथा स्पर्श का कारण है। वह बोलने की क्रिया को प्रवृत्त करता है।

- **वायु ... प्रवर्तको वाचः, प्रकृति स्पर्श शब्दयोः।** ... च. सू. १२/८
- **प्रकृति कारणं शब्द कारणत्वं च वायोः नित्य आकाशानु प्रवेशात्।**

... च. सू. १२/८ (टीका) चक्रपाणी

उदान वायोः विशिष्ट कर्म वर्णनम्

वातदोष प्रकारोंमें से मुख्यतः उदान वायु वाक्प्रवृत्ती को जिम्मेदार होता है।

- **उदानो नाम् यस्तूर्ध्वम् उपैति पवनोत्तमः।**
  तेन भाषितगीतादिविशेषो ऽ भिप्रवर्तते॥ ... सु. नि.
- **उरः स्थानमुदानस्य नासानाभि·गलांश्चरेत्।**
  वाक्प्रवृत्ती प्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः॥ ... वा. सु. १२/५

उदान वायु का स्थान उर है और वह नाभि, कंठ तथा नासा इन स्थानों में से संचार कर वाचा, ऐच्छिक क्रिया, उत्साह, बल, वर्ण, स्मृति आदि उत्पन्न करता है।

वात के आकाश अनुप्रवेश करने से शब्द निर्माण करने का कारण होता है, ऐसा चरक संहिता १२/८ (वातकलाकलीय अध्याय) में उल्लेख है।

वाक्प्रवृत्ती के लिए आवश्यक वस्तु

कंठादि अवयवों द्वारा शब्द उच्चारण करने के लिए प्रथमतः उस शब्द का श्रवण होना जरूरी है। सुनने से जो शब्द निर्माण होता है, उसी अनुरोध से शब्द प्रकटीकरण होता है। अतः शिशुओं को बात करना शीघ्र सिखाने की दृष्टी से माता-पिता सातत्य से

दा-दा, बा-बा, चा-चा, मा-मा इस प्रकार शब्द सुनाते रहते हैं। व्यवहार में नित्य दिखने वाली दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

१) जिन शिशुओं में श्रवण दोष होता है, वे बोलना देर से सीखते हैं अथवा बहरा मनुष्य मूक भी होता है (बोल नहीं सकता)।

२) यद्यपि संसार में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं, फिर भी शिशु जो भाषा, गाने सातत्य से सुनते हैं उन्हीं का उच्चारण करते हैं।

सारांश – केवल श्रोत्र उत्पन्न शब्द ही उच्चारण के लिए चुना जाता है। इसी अर्थ का सूत्र मुक्तावली गुण निरुपण अंश में मिलता है।

सर्वशब्द नभोवृत्तिः श्रोतोत्पन्नस्तु गृह्यते। **... दृष्टार्थ मुक्तावली**

शब्दप्रकार

शब्द के कारण भेद एवं स्वरुप भेद से दो प्रकार होते हैं।

कारण भेद से प्रकार एवं उदा.

- **संयोगज** – ताली बजाना, ऊँगली से वीणा की तार छेडना।
- **विभागज** – लकडी तोडते हुए, डोर टूटते हुए उत्पन्न आवाज।
- **शब्दज** – मनुष्य का बोलना।

स्वरुप भेद से प्रकार एवं उदा.

- **ध्वन्यात्मक** – सन्तूर, तबला आदि वाद्यों से निर्मित शब्द।
- **वर्णात्मक** – कंठ से उत्पन्न, आकारादि स्वरुप धारण करने वाला।

भाषा वर्णात्मक शब्दों से बनती है।

उपप्रकार

मनुष्य के कंठ से निर्मित शब्द में भी भाषारुप तथा घोषरुप ऐसे दो प्रकार होते हैं।

- **उर्ध्वगाः - शब्द -स्पर्श - रुप - रस - गंध प्रश्वासोच्छ्वासः ...।**
  द्वाभ्यां भाषते द्वाभ्यां घोष करोति॥ **... सु. शा. ९/५**

- **भाषते इति तालवादिस्थान व्यापारनिष्पादिताकारादिवर्गव्यक्ति युक्तं शब्दं करोति।**
  घोषश्च तद् विपरीत अव्यक्तः शब्दः। **... सु.शा.९/५ डल्हण टीका**

तालु आदि स्थानों में उत्पन्न घटनाओं के कारण होने वाली अकारादि वर्गयुक्त शब्दनिर्मिती भाषा कहलाती है और अव्यक्त शब्द 'घोष' कहलाता है।

वाक्प्रवृत्ती अथवा शब्दनिर्मिती प्रक्रिया

अ) आयुर्वेदीय संदर्भ ग्रंथों के आधार पर

आयुर्वेद संहिता ग्रंथों के अनुसार, भाषित, गीत आदि उदान वायु के कारण होते है।

शब्दोत्पत्ती का प्रारंभ नाभी से होता है और उसका अंतिम व्यक्तीकरण कंठ से मुख के द्वारा शब्द बाहर निकलकर होता है। अंतिम शब्द व्यक्तीकरण से पूर्व चार महत्त्वपूर्ण स्तर होते हैं।

१) **परा नामक वाणी** – नाभी प्रदेश में उत्पन्न शब्द। यह वाणी अव्यक्त तथा स्वसंवेद्य होती है, अर्थात केवल उस व्यक्ति को ही उसकी अनुभूति होती है, जो उसे निर्माण करता है।

२) **पश्यन्ति वाणी** – अर्थात् उरःप्रदेश के समीप होने वाला अल्पव्यक्त शब्द।

३) **मध्यमा वाणी** – उरःप्रदेश के ऊपर, कंठ प्रदेश के दरम्यान उत्पन्न वाणी / शब्द।

४) **वैखरी वाणी** – मुखप्रदेश में दंत, ओष्ठ, तालव्य, अनुनासिक कंठ आदि स्थान संपर्क के अनुसार निर्मित वाणी।

रुग्ण परीक्षण के संदर्भ में तथा चिकित्सा की दृष्टी से उपरोक्त स्तर समझने का महत्त्व

फुफ्फुस स्वास्थ का परीक्षण करने के दौरान T.V.R अथवा T.V.F. (Tractile Vocal Fremitus) आदि परीक्षणों द्वारा उरः प्रदेश में निर्मित शब्द का परीक्षण स्टेथोस्कोप आदि साधनों द्वारा किया जा सकता है।

वर्णस्थानानि

अष्टौ स्थानानि वर्णानाम् उरः कंठशिरः ।

तथा जिव्हामूलं च दंताश्च नासिका औष्ठौ च तालु च ।। ...पाणिनीय शिक्षा ६

स्थान संपर्क के अनुसार शब्द व्यक्तीकरण

कंठ, तालु, मूर्धा, दंत, ओष्ठ, नासिका आदि जिव्हा के संपर्क में आने से विभिन्न वर्णाक्षर उत्पन्न होते हैं, जैसे -

क्र.	वर्णस्थान	वर्णाक्षर
१	कंठ्य	अ, क, ख, ग, ङ, घ, ह.
२	तालव्य	च, छ, ज, झ, ञ, श, य.
३	मुर्ध्न्य	ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष.
४	दंत्य	ऌ, त, थ, द, ध, न, ल, स.
५	ओष्ठ्य	ड, प, फ, ब, भ, म.
६	अनुनासिक	ङ, ञ, ण, न, म.

उपरोक्त स्थानों में कुछ विकृती उत्त्पन्न होने पर उस स्थान की सहायता से होने वाले उच्चार रुग्ण सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता। उदा. Cleft Palate में (tear in Upper Palate) अथवा अनेक दाँत गिर जाने पर तोतलापन अथवा बोलने में विकृती दिखाई देती है।

प्रत्यक्ष शब्दोत्पत्ती के पूर्व बुनियादी विचार

आयुर्वेद के अनुसार - आत्मा का मन से, मन का इंद्रिय से और इंद्रिय का अपने-अपने विषय से सन्निकर्ष होने पर ही ज्ञानोत्पत्ती होती है।

आत्मा मनसः संयुज्यते । मनः इंद्रियेणः । इंद्रियं अर्थेन । ततः ज्ञानम् ।।

इस ज्ञान के अनुसार बोलने की इच्छा निर्माण होती है। मन उदान वायु को प्रेरणा देता है। इस पश्चात नाभी से मुख तक वाणी उत्पत्ती को ऊर्ध्वगति प्राप्त होकर पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार शब्दोत्पत्ती होती है।

ब) पाणिनीय शिक्षाशास्त्र के आधार पर

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।

मारुतस्तूरसि चरन् मंद्रं जनयति स्वरम् ।

सोदीर्णो मूर्ध्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।

वर्णाञ्जनयते, तेषां विभागः पंचधा श्रुणु ।

अष्टौ स्थानानि वर्णनाम् उरः कंठशिरस्तथा ।

जिह्वामूलं च दंताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।। ... पाणिनीय शिक्षा ६/१३

आत्मा बुद्धी की सहायता से 'बोलने के योग्य अथवा अयोग्य' इस संबंध में निर्णय लेता है। इसके पश्चात यह विचार अथवा आशय भाषा के रुप में व्यक्त करने के लिए मन को प्रेरणा दी जाती है। मन कायाग्नि को प्रेरणा देता है। कायाग्नि वायु को प्रेरणा देता है। वायु उरःस्थान में मंद स्वर उत्पन्न करता है। इसके बाद मंद स्वर के साथ मूर्धा की दिशा से वायु मुख में प्रवेश करता है। मुख में वर्ण अर्थात् वर्णात्मक शब्द उत्पन्न होता है।

शब्दोत्पत्ती के संदर्भ में कायाग्नि का विचार

'वाणी इस कर्मेंद्रिय का अधिदैवत अग्नि है।' ऐसा सुश्रुत ने शरीरस्थान में कहा है। दैनंदिन व्यवहार में वैद्यों को ऐसा भी अनुभव मिलता है कि शब्दोच्चारण में धातुओं का बल तथा कायाग्नि का संबंध होता है, क्यों कि चिरकालीन, जीर्ण व्याधिओं में धातुबल तथा अग्निबल कम होने पर रुग्ण का स्वर अत्यंत क्षीण हो जाता है।

शब्द प्रसारण प्रक्रिया

इस संदर्भ में आयुर्वेद ने दो न्यायों का विचार किया है।

१) **वीचितरंग न्याय**

मुख द्वारा प्रकट होने वाले आद्य शब्दों से प्रथम वीचि (लहर का ऊपर आने वाला भाग) निर्माण होती है। वीचि निर्माण के परिणामस्वरुप तरंग निर्माण होता है। वह वीचिकेंद्र के आसपास की चक्राकार जगह में सर्व दिशाओं में फैल जाता है। तरंग फैलने के दौरान ही नूतन वीचि निर्माण होती है। इस प्रकार वीचितरंगों की श्रृंखला निर्माण होकर, शब्द उत्पन्न उत्पत्तीस्थान से दूर तक फैलता है।

२) **कदंबमुकूल न्याय**

कदंब वृक्ष के पुष्पगुच्छ में स्थित सभी कलियाँ जिस प्रकार एकसाथही खिलती हैं, उसी प्रकार शब्द सभी दिशाओं में एकसाथही फैलता है।

Speech (Vocalization)

Although speech involves the respiratory system particularly but it also involves,

1) Specific speech nervous control centers in the cerebrl cortex.
2) Respiratory control centers of the brain.
3) The articulation and resonance structures of the mouth and nasal cavities.

Speech is composed of two separate mechanical functions

Phonation – Which is achieved by the larynx and

Articulation – Whicl. is achieved by the structures of the mouth

Centre of Speech (वाक् उत्पत्तीः नियंत्रणः)

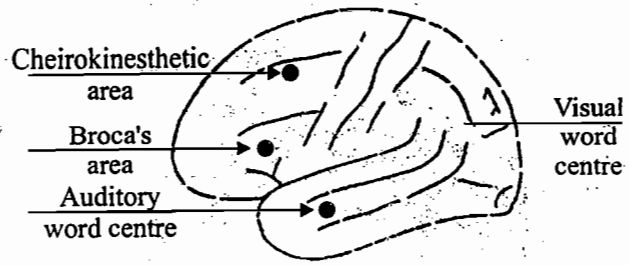

Lateral view of left cerebral hemispnere

Broca's Area

Inf. frontal Gyrus of left side is termed as centre of Speech which was discovered by Broca, that's why called as Broca's area.

Cheirokinesthetic Area

It is the corresponding region concerned with hand movements, damage to which abolishes the power of writing (Agraphia)

Auditory Word Centre

It is the area in the sup. temporal convolution, damage to which produces word deafness.

Visual Word Centre

It is the cortical area, damage to which produces word blindness. It is situated in the angular gyrus.

The discovery of a part of the **Cerebral Cortex** which was specially associated with speech was one of the first steps towards cerebral localization. The French physician - **Broca** came to the conclusion that patients who died from cerebral haemorrhage and who has lost the power of speech, had invariably haemorrhage in the region of the **Pars Triangularis** of the inferior frontal convolusion. The most curious fact about this so called speech centre is that it is situated only on the left side of the brain in right handed person.

Subsequently, **Marie And Moultier**, pointed out that loss of speech may occur with lessions of other parts of the brain, thus the individual may be unable to read aloud, to write to dictation.

Phonation/Study of Larynx & Vocal Cords (स्वरयंत्रस्य सामान्य परिचयः)

The larynx is specially adapted to act as a vibrator. The vibrating element is the vocal cords which are folds along the lateral walls of the larynx that are stretched and positioned by several specific muscles within the confines of the larynx itself.

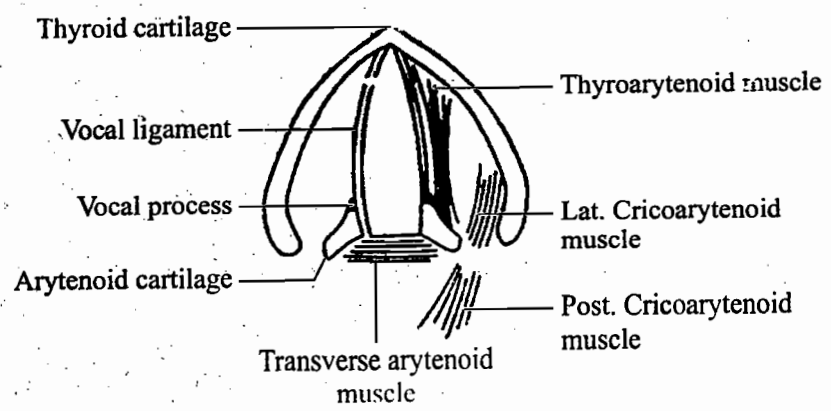

Basic structure of the larynx

Each vocal cord is stretched between the thyroid cartiiage anteriorly and an arytenoids cartilage posteriorly. The contraction of the posterior cricoarytenoid muscle pulls the arytenoids cartilage away from the thyroid cartilage and thereby stretches the vocal cords. The transverse arytenoids muscle pulls the arytenoids cartilages together and therefore approximates the two vocal cords, so that they vibrate in a stream of expired air. Contraction of the lateral cricoarytenoid muscles pulls the arytenoids cartilage forward and apart to allow normal respiration. The thyroarytenoid muscles lie within the folds of the vocal cords themselves. Contractions of these muscles help to control the tension of the cords during different type of phonation.

Frequency of Vibration

The pitch of the sound emitted by the larynx can be changed in two different ways

i) A change can be achieved by stretching or relaxing the vocal cords. In addition to the effect of intrinsic muscles the muscles attached to the external surface of the larynx can also pull against the cartilages and thereby help to stretch or relax the vocal cord.

ii) The second way for changing the sound frequency is to change the shape and mass of the vocal cord edges.

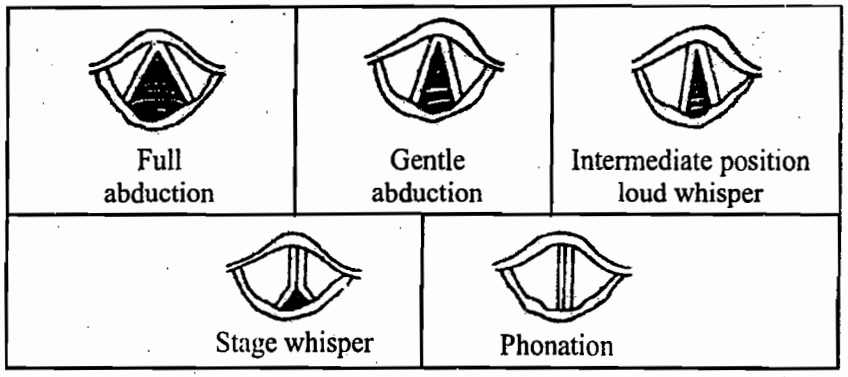

Positions and shapes of vocal cords during phonations

Articulation And Resonance

The three major organs of articulation are the lips, the tongue and the soft palate. We all are familiar with their movements during speech and other vocalizations.

The resonators include the mouth, the nose ad associated nasal sinuses, the pharynx and the chest cavity. The function of the nasal resonators is illustrated by the change in quality of the voice when a person has a severe cold, thick mucous blocks the air passages to their resonators.

Important Details of Articulation

One of the most important differences between the human being and lower animals is the facility with which human beings can communicate with one another. There are two aspects of *communication*

Sensory aspect – Involving the ears and the eyes.

Motor aspect – Involving vocalization and its control.

Motor Aspects of Communication

The process of communication involves two principal stages of mentation

- Formation of thoughts in the mind to be expressed and choice of words to be used.
- Motor control of vocalization and the actual act of vocalization.

The formation of thoughts and choice of words is the function of the brain (Wernicke's area in the posterior part of the superior temporal gyrus). Hence in Wernicke's aphasia or global aphasia one is unable to formulate the thoughts that are to be communicated.

Motor Aphasia

Often a person is perfectly capable of deciding what he wishes to say and he is capabel if vocalizing but he simply can not make his vocal system emit words instead of noises. The motor aphasia results from damage to Broca's speech area, which lies in the premotor facial region of the cortex.

Articulation

Means the muscular movements of the mouth, tongue, larynx etc. which are responsible or the actual emission of sound. The facial and laryngeal regions of motor cortex activate these muscles and the cerebellum basal ganglia and sensory cortex all help to control the muscle contractions by feedback mechanism. Destruction of these regions can cause either total or partial inability to speak distinctly.

प्रकरण १२

रस – रक्त संवहन प्रक्रिया

रस - रक्त संवहन का अर्थ है - रस तथा रक्त का सुनियंत्रित वहन।

आयुर्वेद में वर्णित हृदय के द्वारा होने वाला रस संवहन यह रस-रक्त का संयुक्त वहन अथवा रक्ताभिसरण है। अतः हेतुपूर्वक ही रस-रक्त संवहन यह शब्दप्रयोग किया गया है।

जीवन अर्थात् जीवित रहने की प्रक्रिया रक्त धातु पर निर्भर होती है।

रक्तं जीव इति स्थितिः।

इस प्रकार अत्यंत महत्त्वपूर्ण रक्त धातु का वहन, शरीर के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म घटक तक किस प्रकार होता है यह समझने के लिए रस - रक्त संवहन इस शारीर क्रिया का अध्ययन करना आवश्यक है। रस - रक्त संवहन इस शारीर क्रिया का प्रत्यक्ष विचार करने से पहले इस शारीर क्रिया से संबंधित हृदय इस महत्त्वपूर्ण अवयव के विषय में विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

हृदय के संदर्भ में विचार

१) संज्ञा

महत् एवं अर्थ, महामूला, महाफला, समासक्ता।

हृदय अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवयव है। इस अर्थ से **महत्** और साथही अत्यंत महत्त्वपूर्ण शारीर अर्थ से संबंधित होने के कारण वह **अर्थपूर्ण** है।

हृदय शब्द तीन महत्वपूर्ण कार्य स्पष्ट करता है।

- हृ = हरति = आदान / स्वीकार (अशुद्ध रक्त)।
- दा = यच्छति = प्रदान / देना (शुद्ध रक्त)।
- य = याम्यति = नियमन करना।

२) स्थान

हृदय पंचादश कोष्ठांगों में से एक है।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्व रजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम मर्म।

... सु. शा.

सुश्रुत, शारीर स्थान के अनुसार उरः स्थान में दोनों स्तन रेखाओं के बीच तथा आमाशय के द्वार में हृदय स्थित होता है। इस स्थान के संदर्भ में अधिक स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से -

- **तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च दक्षिणतो यकृत क्लोम च॥ ... अ.हृ. शा.**
- **यदा श्रया हि धमन्याः प्राणवहाः।**

३) हृदय का संघटन

शोणित कफ प्रसादजं हृदयं। **... सु. शा.**

शोणित एवं कफ इनके अत्यंत सारभाग से निर्मित हृदय यह मांसमय अवयव है। हृदय मातृज अवयव होता है।

४) हृदय का आकार

- **पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।** **... सु. शा.**
- **मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारं अधोमुखम्।** **... वा. शा.**

हृदय का आकार रक्तकमल के समान होता है और उसका मुख अधो दिशा में होता है।

५) चेतनास्थान

हृदयं चेतनास्थानं उक्तं सुश्रुतदेहिनाम्।

समस्त शरीर चेतना, सजीवता का स्थान है ही, तथापि सुश्रुत ने विशेषतः हृदय यह चैतन्य का स्थान बताया है। इसका कारण स्पष्ट है कि, समस्त शरीर की चेतना प्राकृत रस - रक्त संवहन पर निर्भर होती है। बाह्य सृष्टी में उपस्थित उपयुक्त प्राणद्रव्य रसा-रक्तसंवहन के द्वारा ही शरीरस्थ अभ्यन्तर प्राणों को प्रदान कर चैतन्य बनाएं रखा जाता है।

गर्भ शरीर में चार मास पूर्ण होने पर चेतनाधातु व्यक्त होता है। मन, बुद्धी ये उसके भाव व्यक्त होते हैं। हृदय मन का स्थान है।

६) हृदयविकृति का परिणाम

तस्योपघातान्मूर्च्छाय भेदान्मरणमृच्छति। **... च. सू.**

हृदय पर किंचित भी आघात होने पर भी अर्थात उसके प्राकृत कार्य में थोडा भी बिगाड निर्माण होने पर भी मूर्च्छा आती है। किन्तु अधिक विकृति के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

७) हृदय के संदर्भ में दोषधातु मल का विचार

हृदय एवं प्राणवायु

हृदय का धारण करना यह प्राणवायु का कार्य है। हृदय का पोषण करना, उसे सातत्य से प्राणद्रव्य प्रदान करना, हृदय क्रियाओं का नियंत्रण करना ये सभी कार्य प्राणवायु के द्वारा किये जाते हैं। शरीरस्थ प्राण के कार्य में व्यत्यय आने पर तुरंतही हृदय के व्यापार बंद होने की संभावना होती है।

प्राण – उरःकण्ठचरो बुद्धि – हृदय – इंद्रिय – चित्त धृक्।

हृदय एवं उदान वायु

शरीर की चयापचय क्रिया में निर्मित सूक्ष्म मलिन अंश उदान के द्वारा शरीर से बाहर निकाला जाता है। इस कार्य में बिगाड उत्पन्न होने पर प्राण तथा उदान का संतुलन बिगड जाता है और उसका परिणाम हृदय स्वास्थ्य पर होता है।

हृदयाश्रयी होने वाले सुख, दुःख, भय ये भाव उदान वायु ही व्यक्त करता है।

हृदय एवं व्यान वायु – व्यान वायोः विशिष्ट कर्माणि

व्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान इस दृष्टी से हृदय का उल्लेख किया गया है।

व्यानो हृदि स्थितः। कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंहनोद्यतः।

हृदय की प्रत्यक्ष गति नियंत्रण करने का कार्य व्यान वायु ही करता है। उदा. किसी शरीरावयव की गतिविधि करनी होगी तो व्यान वायु को प्रथमतः हृदय की गति बढानी पडती है। जिस स्थान में गतिविधियाँ अधिक मात्रा में हो रही होंगी, उस स्थान में रस-रक्त का वहन अधिक जलद गति से किया जाता है।

हृदय एवं साधक पित्त

यद्यपि साधक पित्त अथवा मेधाकृत पित्त इनका स्थान हृदय बताया गया है, तथापि इस संदर्भ में रस-रक्त संवहन संबंधित उरस्थ हृदय की अपेक्षा शिरस्थ हृदय (मस्तिष्क) का विचार करना अधिक प्रशस्त होगा।

साधकं हृद्गतं पित्तं।

शुक्रधातु को सारत्व प्रदान कर उसका ओज में रूपान्तर करने का कार्य हृदयस्थ साधक पित्त करता है। इसी कारण ओजवृद्धी होकर बुद्धी, मेधा इनका बृंहण होता है ।

हृदय एवं अवलंबक कफ

हृदय का क्षरण आजीवन होता रहता है। अतः हृदय का संरक्षण, हृदय घटकों का पोषण सुव्यवस्थित होने कि दृष्टी से, अवलंबक कफ स्वसामर्थ्य से, आहाररस के द्वारा हृदयघटकों का पोषण करता है।

हृदय एवं ओज

सभी धातुंओं में से अत्यंत सारभूत भाग यही ओज है, इस प्रकार की संकल्पना आयुर्वेद ने विषद की है। ओज हृदय के आश्रय से रहता है, ऐसा बताया है।

रस रक्त विक्षेपण क्रिया

प्रत्यक्ष क्रिया

१) अंतःकोष्ठ में (उदर गुफा में) समान वायु के कारण आहार रस से निर्मित रस धातु रसवाहिनियों के द्वारा हृदय में आता (पहुँचता) है।

२) हृदय में रस एवं रक्त धातु अधिक शुद्ध करने के लिए फुप्फुस की ओर भेजे जाते है। वहाँ रस में स्थित मालिन्य दूर किया जाता है। रक्त में उपस्थित मलिन वायु फुप्फुस के द्वारा निष्कासित किया जाता है। नासा के द्वारा अंतःप्रविष्ट प्राणवायु फुप्फुस के द्वारा रक्त में मिश्रित होता है।

३) इस प्रकार प्रीणन करने वाला रस तथा प्राणानुवर्तन करने वाला रक्त ये दोनों भी हृदय में आते हैं।

४) तत्पश्चात्, हृदय के द्वारा व्यान की प्रेरणा से सर्व शरीर में प्रसृत होते हैं और इसीसे शरीरस्थ सभी परमाणुओं को पोषणार्थ आहार रस तथा जीवन के लिए बाह्यप्राण की प्राप्ति होती है।

५) इस प्रकार संपूर्ण शरीर में रस और उसके साथ रक्त विक्षेपण होता है और इसी कारण सभी दोष, धातु, मल का तर्पण एवं पोषण होता है।

- **रसो यः स्वच्छतां यतिः स तत्रैवावतिष्ठते।**
  ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते ।। **... अ. हृ.**
- **स तु व्यानेन विक्षिप्त सर्वान धातून् प्रतर्पयेन ।।** **... सु. सू.**

रस-रक्त संवहन क्रिया के संदर्भ में अधिक विवेचन

१) व्यान की प्रेरणा से रस-रक्त नित्य गमन करते रहते हैं। इसे तीन प्रकार की गतियां प्राप्त होती हैं। हृदय के द्वारा यह रस-रक्त जत्रुर्ध्व भाग की और प्रसृत किया जाता है, नीचे पैर तथा तीर्यक शाखाओं तक जाता है। इस प्रकार त्रिविध गति से उसका विक्षेपण होता है।

स शद्वार्चिर्जलसंतानवत् अणुना विशेषेण अनुधावत्येवं शरीरं केवलम्।

... सु. शा.

वक्तव्य – सुश्रुत ने उपरोक्त श्लोक में उपमा के द्वारा रस-रक्त विक्षेपण की क्रिया स्पष्ट की है ।

त्रिविध गति

अग्नि की ज्योत नित्य ऊर्ध्वगामी तथा जल की गति अधो दिशा में होती है और शद्व की गति तिर्यक दिशा में होती है, यह सर्वपरिचित है। इसी प्रकार रस-रक्त विक्षेपण होता है। शद्वार्चिजल से शद्व, ज्वाला, जल के विषय में विशेष ज्ञान मिलता है, ऐसा कै. वै. पं. गंगाधर शास्त्री गुणे इनका मानना था।

शद्व, अर्चि, जल इन उपमाओं के द्वारा रस-रक्त संवहन की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो सकती है।

- **तीक्ष्णाग्नि पुरुष** में होने वाला रस-रक्त संवहन शद्व गति के समान अतिशीघ्र होता है।
- **मध्यमाग्नि पुरुष** में अर्चि अथवा तेज के समान गति होती है।
- इसके विपरीत **मंदाग्नि पुरुष** में रस-रक्त संवहन की गति जल के समान मंदस्वभावी होती है।

रस-रक्त संवहन में जल गुण के सदृश रसधातु का समावेश होता है और यह संवहन सशद्ध होता है। (इसी लिए हृदय की, नाडी की धडकन गिनी जाती है।) इस प्रकार शद्ध, अर्चि, जलयुक्त रस-रक्त संवहन होता है।

रस-रक्त संवहन में वात, पित्त, कफ इन त्रिदोषों के प्रमुख लक्षण, सशद्धता, उष्णता तथा सद्रवता इस प्रकार दिखाई देते हैं। इस दृष्टी से भी शद्ध, अर्चि, जल इनकी उपमा समझी जा सकती है।

२) रसरक्त विक्षेपण के लिए हृदय के समीप महामूल होने वाली १० धमनियों से प्रारंभ होता है। तत्पश्चात् उनका विभजनोत्तर जाल समग्र शरीर में फैल जाता है और उसके द्वारा सर्व शरीर को सारभूत रसधातु की प्राप्ति होती है।

तेन मूलेन महता महामूला मता दशा।

ओजो वहाः शरीरे ऽ स्मिन विधम्यन्ते समन्ततः ॥ **... च. सू.**

ओज का अर्थ है - सप्त धातुओं में से सारवान अंश। रस-रक्त के द्वारा ओज का वहन होता है, यह उपरोक्त श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

३) समस्त शरीर को पोषक तथा प्राणवर्धक द्रव्य हृदय के संकोच के कारण प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात इसी रस वहन के मार्ग के द्वारा सभीं धातुओं के मल भाग पुनः रस के साथ मिश्रित होते हैं और रस-रक्त पुनः हृदय की ओर सिराओं के द्वारा जाता है।

हृदो रसो निःसरति तत एव च सर्वतः।

सिराभि हृदयं याति तस्मात् हृत प्रभवं सिरा ॥ **... भेलसंहिता**

४) रस-रक्त के संवहन का नियंत्रण व्यानवायु करता है।

व्यानेन रस धातुर्हि विक्षेपोचित् कर्मणा।

युगपत सर्वतो देहे देहे विक्षिप्यते सदा ॥

५) रस-रक्त संवहन की प्रक्रिया आजीवन-अखंडित चलती रहती है। यह क्रिया बंद होने पर एक क्षण के लिए भी जीवन असंभव है।

यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठति। **... च. सू.**

६) विश्राम काल में सोने के समय हृदय की गतिविधियां धीमी गति से होती हैं। इसी काल में उसे थोडा विश्राम मिलता है। संपूर्ण विश्राम उसे सम्पूर्ण जीवन में कभी नहीं मिलता।

जाग्रस्तत विकसति स्वप्तश्च निमीलति। **... च. सू.**

७) रस-रक्त विक्षेपण क्रिया हर मिनट में ७० से ८० बार चलती है, और इसका ज्ञान नाडी परीक्षा के द्वारा हो सकता है। हृदय की गति के जितनी ही नाडी की भी गति होती है। अतः योग रत्नाकर ने रुग्ण परीक्षणार्थ अष्टविध परीक्षा में नाडी परीक्षण का भी समावेश किया है।

नाडी मूत्रं मलं जिव्हा शद्ध स्पर्श दक् आकृती। **... यो. र.**

नाडी की गतियाँ तीन होती हैं।

१) वातदोष ----- सर्पगति

२) पित्त दोष ----- मण्डुक गति

३) कफदोष ----- हंस गति

शरीर में कहीं भी अधिक गतिविधि होने पर हृदय का कार्य भी जलद होने लगता है।

प्रायः सर्वाः क्रियास्तास्मिन प्रतिबद्धा शरीरिणाम् ॥

अतः हृदय का कार्य जलद गति से होने पर नाडी गति भी बढ जाती है।

हृत्कार्यावरोध – आयुर्वेद मत

हृत्कार्यावरोध का अर्थ हृदय के प्राकृत कार्य में अवरोध इस प्रकार किया जाए तो इस विषय का समावेश हृद्विकृति के अंतर्गत करना पडेगा।

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथों में हृद्रोग नामक व्याधि वर्णित है। हृद्रोग में मुख्यतः हृदय से संबंधित दोष-धातु-मलों का विचार करना पडता है।

हृदरोग में वातज, कफज-पित्तज एवं कृमिज हृद्रोग इन प्रकारों के साथही हृद्विद्रधि, हृद्शूल इन व्याधियों का भी समावेश होता है।

इनमें से हृद्कार्यावरोध शद्ध से वातज हृद्रोग एवं हृदशूल इस संदर्भ में ग्रंथोक्त श्लोक निम्न हैं -

- वेपथुर्वेष्टनंस्तंभः प्रमोहः शून्यताः दरः। ... च. सू.
- कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रस मूर्च्छितः।
  हृदिस्थः कुरुते शुलमुच्छ्वासारोधकं परम्।
  स हृच्छ्ल इति ख्यातो रस मारुत संभवः॥ ... सु. उ.

श्लोक में अवरुद्ध शद्ध से अवरोध स्पष्ट होता है।

अर्वाचीन विचार

Circulatory System

William Harvey (1578 - 1657) was the inventor of process that - organ of blood circulatory system is the heart. On an average the heart beats about 2600 million times in man's life and pumps about 155 million lit. of blood from each ventricle. The heart weighs approx. 300 gms.

The human heart is a marvellous organ. Its function is to move the living stream of blood through all parts of the body, never stopping even for a moment in its endless activity.

Human heart does enormous amount of work. It beats over one hundred thousand times a day continually pumping the blood through more than 60, 000 miles of tiny blood vessels. These tiny capillaries are only a tenth of an inch long. But if they could be placed end to end, they stretch two and a half times round the earth at equator.

Position of the Heart

The human heart lies in the thorax, between the two lungs and behind the sternum or brest bone. It is located not exactly in the middle but lies slanting a little to the left. The base of the heart is directed upwards and points towards the persons right shoulder. The apex points downwards towards the front as well as left.

The movements of the apex can be felt while the heart beats between the 5th and 6th left ribs. The apex is situated 8 - 9 cm away from the mid line, a little below the nipple and slightly towards the mid line.

Structure of the Heart

The heart is roughly cone shaped, hollow, muscular organ. It is about 10 cm long and its about the size of the owners fist. It weighs about 125 gm in woman and is heavier in men.

The heart is composed of **three layers** of tissue -

1) Pericardium 2) Myocardium 3) Endocardium

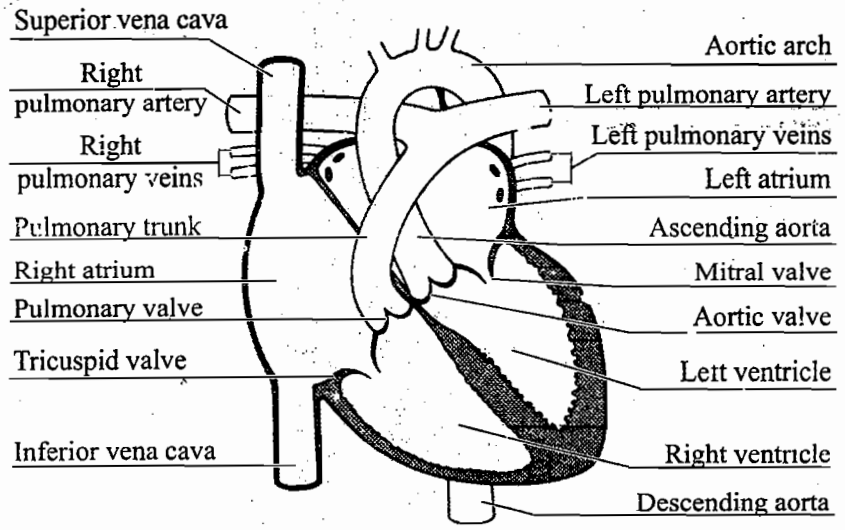

Heart and great vessels

1) **Pericardium** – It is made up of two sacs. The outer sac consists of fibrous tissue and the inner of a double layer of serous membrane.

2) **Myocardium** – It is composed of specialized cardiac muscle tissue found only in the heart.

3) **Endocardium** – This forms the lining of the myocardium and is thin, smooth, glistening membrane consisting of flattened epithelial cells, continuous with the lining of the blood vessels.

The outer pericardium has parietal and visceral layers with pericardial fluid between them. The pericardial fluid facilitates and regulates free heart contraction.

Interior of the Heart

The heart is divided into a right and left side by the septum, a partition consisting of myocardium covered by endocardium. After birth blood can not cross the septum from one side to the other. Each side is divided by an atrioventricular valve into an upper chamber, the atrium and a lower chamber, the ventricle. The atrioventricular valves are formed by the double folds of endocardium strengthened by a little fibrous tissue. The right atrioventricular valve **(tricuspid valve)** has three flaps or cusps and the left atrioventricular valve **(mitral valve)** has two cusps.

The valves between the atria and ventricles open and close according to the changes in pressure in the chambers. During ventricular systole (contraction) the pressure in the ventricles rises to a level higher than that in the atria, closing the valves and preventing the backward flow of the blood. The valves are prevented from opening upwards into the atria by tendinous cords, called chordae tendinae, which extend from the inferior surface of the cusps to the

little projections of myocardium covered with endothelium, called papillary muscles (columnae - chornae)

Flow of Blood through the Heart

The two largest veins of the body, the superior and inferior vana cavae empty their contents into the right atrium and then through right atrioventricular valve into the right ventricle. From there it is pumped into the pulmonary artery. The opening of the pulmonary artery is guarded by the pulmonary valve, formed by three semilunar cusps. This valve prevents the back flow of the blood into the right ventricle when the ventricular muscles relax. After leaving the heart the pulmonary artery divides into the right and left pulmonary arteries which runs to the lungs carrying deoxygenated blood. This deoxygenated blood is oxygenated in lungs due to interchange of gases (O_2 and CO_2).

The two pulmonary veins from each lung carry deoxygenated blood to the left atrium. It then passes through the left atrioventricular valve into the left ventricle and from there it is pumped into aorta, the first artery of general circulation. The opening of the aorta is guarded by the aortic valve formed by three semilunar flaps (Cusps). Then the oxygenated blood is provided to all the body organs through the branches of aorta.

From this sequence of events it can be seen that the blood passes from the right to the left side of the heart via the lungs.

Mode of Blood Circulation In The Body

1) ***Pulmonary Circulation***

This consists of the circulation of blood from the right ventricle of the heart to the lungs and back to the left atrium. In the lungs carbon dioxide is removed and O_2 is absorbed.

2) Systemic or General Circulation

The blood pumped out from the left ventricle is carried out by the branches of the aorta around the body and is returned to the right atrium of heart by the superior and inferior vena cava. This is called systemic circulation.

Relation between Systemic and Pulmonary Circulation

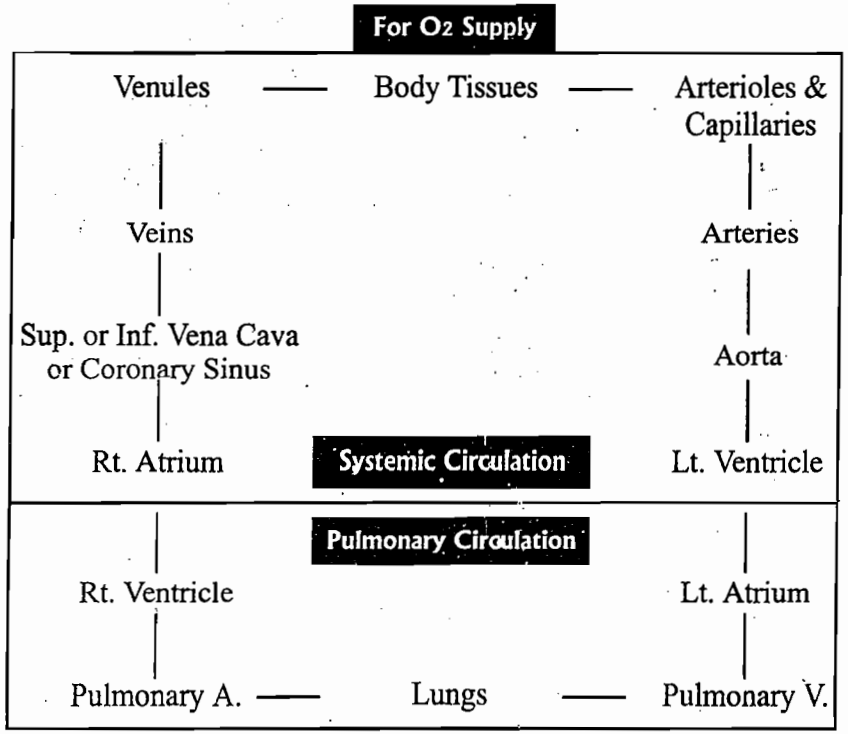

Conducting System of The Heart

The heart has an intrinsic system whereby the muscle is stimulated to contract without the need for a nerve supply from brain. However, the intrinsic system can be stimulated or depressed by the nerve impulses initiated in the brain and by some hormones.

There are some small groups of specialized neuro muscular cells in the myocardium which initiate and conduct impulses of contraction over the heart muscles.

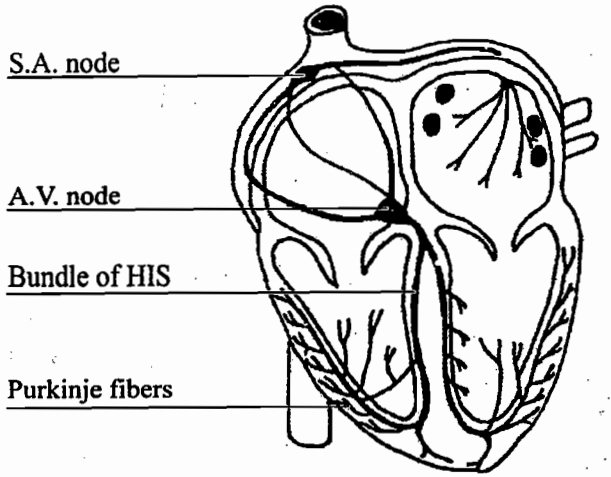

Conducting system of the heart

1) Sinuatrial Node (S. A. Node)

This small mass of neuromuscular cells is in the wall of right atrium neat the opening of the superior vena cava. The S. A. Node is often described as the **Pace Maker** of the heart because it initiates impulses of contraction more rapidly than other groups of neuromuscular cells.

2) Atrioventricular Node (A. V. Node)

This small mass of neuromuscular cells is situated in the wall of atrial septum near the Atrioventricular valves. Normally, A. V. Node is stimulated by the impulse of contraction that sweeps over the atrial myocardium.

3) A. V. Bundle (Atrioventricular Bundle or Bundle of His)

This consists of a mass of specialized fibres that originate from the Atrioventricular node. At the upper end of ventricular septum bundle of His divides into the right and left branches. Within the ventricular myocardium the branches break up into the fine fibres called 'Purkinje Fibers'.

Properties of Cardiac Muscles

- Automatic rhythmic contraction.
- Excitability and contractility.
- Conductivity.
- Tonus.

Nerve supply to the heart

1) Cardiac Centre

In addition to the intrinsic stimulation of the myocardium described above, the heart is influenced by the nerves originating in the cardiac centre in the medulla oblongata which reach it through autonomic nervous system. These are the parasympathetic and sympathetic nerves and they are antagonistic to each other.

2) Vagus Nerve (Parasympathetic)

Supply mainly the S. A. Node and A. V. Nodes and atrial muscles.

3) Sympathetic Nerves

Supply the S. A. and A. V. Nodes and myocardium of atria and ventricles.

Parasympathetic stimulation tends to reduce the rate at which the impulses are produced, decreasing the rate & force of heart beat.

The sympathetic stimulation tends to increase the rate and force of heart beat.

Cardiac Cycle (हृदय कार्य चक्र)

Definition

The function of the heart is to maintain a constant circulation of blood through the body. The heart acts as a pump and its action consists of a series of events known as the cardiac cycle.

The normal number of cardiac cycles per min. ranges from 60 to 80. Taking 75 as an example, each cycle consists of about 0.8 of a second and consists of -

Cardiac Cycle

Phases of ventricular contraction

a) Isovolumic / Isometric contraction

b) Rapid ejection phase

c) Reduced ejection phase

Venticular relaxation

a) Proto Diastole

b) Isovolumic/isometric relaxation

c) Rapid filling phase

d) Reduced filling phase (Diastasis)

e) Last rapid filling phase (Atrial contraction)

1) Atrial contraction

i) During the period of ventricular relaxation – blood flows from atria to ventricles.

ii) 75% blood flows into two ventricles (This is passive flow, due to gravity)

iii) Both atria contract simultaneously and pump remaining 25% blood into respective ventricles.

iv) During the contraction, pressure increases in atrium (Right atrium = 4 to 6 mm of Hg and left atrium = 7 to 8 mm of Hg.)

v) This event coincides with last rapid filling phase of ventricular diastole.

Time period = 0.1 sec.

2) Ventricular Contraction (systole)

i) Pressure of blood in ventricle rises, which exceeds atrial pressure.

ii) So, closure of A.V. valves forms 'first heart sound'

a) Isovolumic/Isometric Contraction

i) A.V. Valves closed but semilunar valves are not yet opened. Hence, ventricular chambers are sealed from both atria and arteries.

Volume of blood and length of muscle fibers remains same. Hence, the name is "Isovolumic or Isometric contraction"

ii) Ventricles contract as a closed chamber and pressure rises rapidly.

iii) When left ventricle pressure is greater than 80 mm of Hg and right ventricle pressure is greater than 8 mm of Hg. Then ventricular pressure pushes semilunar valves to open.

Time period = 0.05 sec.

b) Rapid Ejection Phase

i) Blood is rapidly ejected.

ii) 2/3rd of stroke volume is ejected.

iii) At this time, the pressure in the left ventricle = 120 mm of Hg

iv) As, both ventricles almost eject same volume, velocity of right ventricular ejection is less than left ventricular ejection.

Time period = 0.11 sec.

c) Reduced Ejection Phase

i) In the later 1/3rd of systole – rate of ejection declines.

ii) Rest, 1/3rd stroke volume is ejected.

iii) Ventricular pressure falls, below than that of aorta.

iv) But, due to momentum blood continues to empty into aorta.

v) Momentum decreases and kinetic energy of momentum is converted to pressure in aorta.

vi) So, aortic pressure is slightly greater than ventricle.

Time period = 0.14 sec.

3) Ventricular Diastole (Relaxation)

a) Proto diastole

i) After systole ventricle starts relaxing.

ii) Rapid fall in intraventricular pressure.

iii) Elevated pressure of blood in aorta and pulmonary artery pushes blood back towards ventricles, which snapes semilunar valves (2nd Heart sound).

Time period = 0.04 sec.

b) Isovolumic/Isometric Relaxation

i) Ventricles are closed chambers, because A.V. valves and semilunar valves both are closed.

ii) Hence, rapid fall of pressure inside ventricles (from 80 mm of Hg to 2-3 mm of Hg in left ventricle).

iii) Ventricular volume remains constant. Hence, the name 'Isovolumic/Isometric.

iv) When ventricular pressure falls below atrial pressure, A.V. valves open.

Time period = 0.08 sec.

c) Rapid Filling Phase

i) During ventricular systole A.V. valves are closed, but superior and inferior vena cava and pulmonary vein continue to empty the blood in the atrium. So large amount of blood accumulate in atria and atrial pressure increases.

ii) High atrial pressure causes blood to flow rapidly into ventricles.

Time period = 0.113 sec.

d) Reduced Filling Phase (Diastasis)

i) After rapid filling, rate of blood flow from atria to ventricles decreases.

ii) Blood continues to return to the heart so pressure in atria and ventricles rise slowly.

iii) During rapid and reduced filling phases about 95% of blood passes from atria to ventricles (Due to Gravitational force).

Time period = 0.167 sec.

e) Last Rapid Filling Phase (Atrial contraction)

The next cycle begins with atrial contraction.

Time period = 0.1 sec.

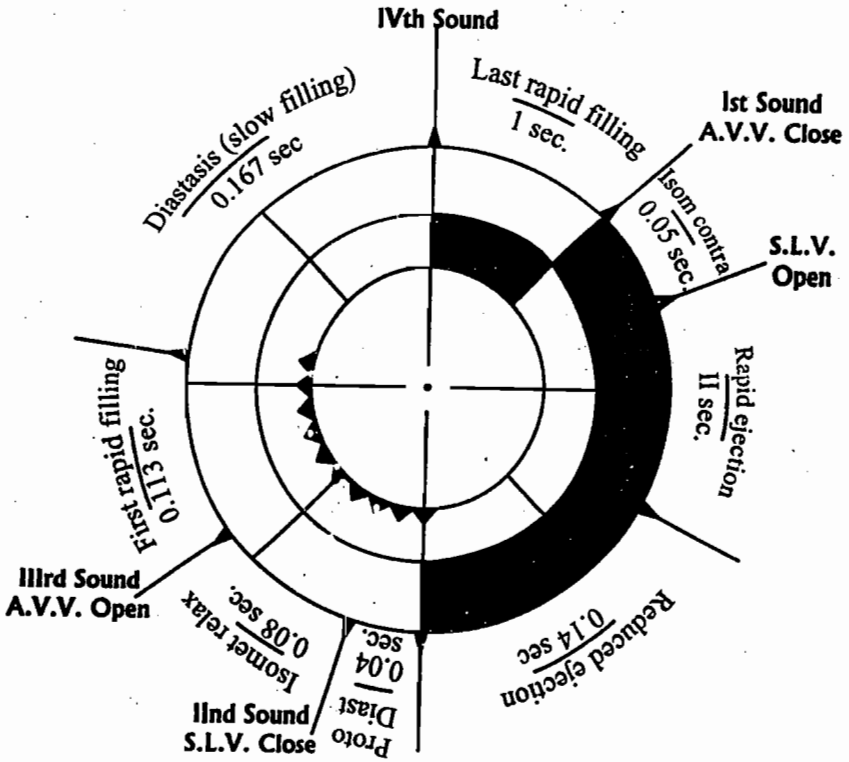

Sequence of events in cardiac cycle

Summary of The Time Relations

With 0.8 sec. as the cardiac cycle time (heart rate 75 / min.) the time relations of the various events are given below –

I.	Atrial Events		
a	Atrial systole		**0.1 sec.**
	First phase (At rise of pressure)	0.05 sec.	
	Second phase (At fall of pressure)	0.05 sec.	
b	Atrial diastole		**0.7 sec**

II)	Ventricular events		
a	Ventricular systole		**0.3 sec.**
	Isometric contraction period	0.05 sec.	
	Rapid ejection phase	0.11 sec.	
	Reduced ejection phase	0.14 sec.	
	Total ejection period (0.25 sec.)		
b	Ventricular diastole		**0.5 sec.**
	Protodiastolic period	0.04 sec.	
	Isometric relaxation period	0.08 sec.	
	First rapid filling phase	0.113 sec.	
	Diastasis or slow filling phase	0.167 sec.	
	Last rapid filling (Atrial systole)	0.100 sec.	
	Total ventricular filling time (0.38 sec)		
		Total	**0.8 sec.**

Heart Sounds (हृदयध्वनी वैविध्यम्)

The heart sounds are generally heard with stethoscope. These may also be recorded graphically. There are two main heart sounds heard as 'Lubb' (first heart sound) and 'Dup' (second sound). Occasionally third sound may be heard.

1) First Heart Sound

Character – soft, prolonged with low pitch ... 'Lubb'

Cause – due to the vibrations set up by sudden closure of A.V. Valves and the tension and contractions of ventricles.

Place – where best heard is apex beat.

Importance – indicates force of ventricular contraction and conditon of myocardium, competence of A. V. Valves.

Note – Asynchronous closure of mitral (bicuspid) and tricuspid valves, cause splitting of first heart sound. This may be found normally and in bundle branch heart block.

2) Second Heart Sound

Character – sharp, short, high pitch ... 'Dup'

Cause – sudden closure of semilunar valves.

Place – where best heard is right costal cartilage for aortic and second left intercostal space for pulmonary artery near sternal border.

Importance – indicates competence of semilunar valves.

3) Third Heart Sound

It is heard in about 60 % of causes.

Character – soft, low pitched.

Cause – various views are

i) due to vibrations of A. V. Valves,

ii) vibrations in ventricular muscles,

iii) vibrations in semilunar valves while closing.

Place – where best heard is usually at apex beat.

4) Fourth Heart Sound

It is very rarely heard.

Abnormal Heart Sound - Murmur

Due to the presence of abnormalities in chamber or valve of the heart, some abnormal sounds may be audible in addition to the normal heart sounds. These are called as Murmurs. The Murmurs are classified on the basis of their relations to main heart sounds as pre - systolic, systolic and diastolic Murmurs.

Pre - Systolic Murmur

It is heard before the onset of ventricular contraction. ie.- during auricular contraction.

Systolic Murmur

It occurs during general ventricular contraction.

Diastolic Murmur

It occurs during general diastole and is usually due to damaged valves causing regurgitation into ventricles. eg.- Aortic regurgitation.

Cardiac Output

Cardiac output signifies the amount of blood leaving the heart per unit time & expressed as 'stroke volume'.

Control of Cardiac Output

It mainly depends on

1) Venous return
2) Force of cardiac contraction
3) Rate of heart beat
4) Blood pressure

Nervous Control of Heart (हृदगती नियंत्रण)

Nervous control of heart is essential for adaptation and regulation of working of the heart. It is classified as -

1) Efferent Nerves

are vagus and sympathetic fiberes. Vagus nerve exerts a continuous tension on heart's action caused the vagal tone, which checks the heart rate. Vagal stimulation diminishes excitability, conduction and heart rate and acts both on auricles and ventricles.

The sympathetic fibres produce a definite tone, which helps to regulate the heart. Sympathetic stimulation causes increase in rate of conduction through S.A. node, auricles and ventricles which in turn results in increase of rate and force of heart beat.

2) Cardiac Afferent

These are -

a) Cardio aortic nerve, originates in left ventricle and aortic arch. The endings are sensitive to stretch (stretch receptors)

b) Other vagal afferents originate form right auricle and great veins. Their stimulation reflexly causes reduction of vagal tone resulting in acceleration and augmentation of heart action. (This is called Bainbridge effect or reflex.)

c) Carotid sinus nerve begins from carotid sinus. Like cardio-aortic, the carotid sinus fibres are stretch receptors, where as those from carotid body are chemo receptors.

3) Cardiac Centre

Dorsal motor nucleus of vagus is associated with cardio-inhibitory center, while the cardio acceleratory centre lies in its vicinity in the floor of the 4th ventricle.

Heart Rate (हृद्स्पंदन गति)

Normally, heart rate is 72 / min. It is affected by the following factors-

1) Impulses form higher centers eg.- emotional excitement increases the heart beat.
2) Respiration -voluntary deep breathing increases the heart rate.
3) Changes in O_2 and CO_2 concentration of blood -

a) O_2 lack (Anoxia) accelerates the heart rate
b) CO_2 excess also has acceleratory effects.
c) Temperature - Rise of body temp. Increases heart rate.
d) Muscular exercise - accelerates heart rate.

Nutrition and Metabolism of Heart

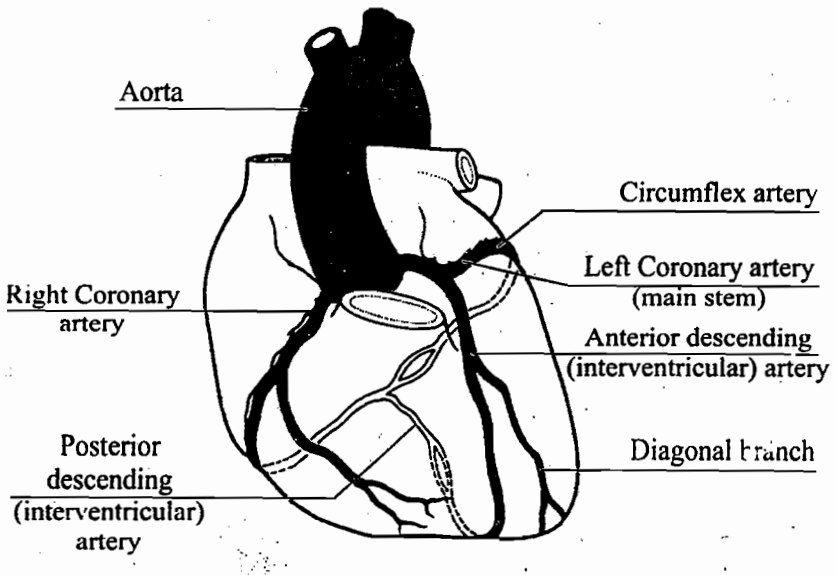

The coronary arteries

The coronary artery originates from the stem of aorta and bifurcates into right and left coronary arteries. The oxygenated blood is provided to the heart muscles through the branches of right and left coronary arteries. About 5 % cardiac circulation is diverted to coronary circulation.

Blood Pressure (रक्तचाप)

Blood pressure may be defined as the force or lateral pressure which the blood exerts on the walls of the blood vessels.

It can be also defined as,

BP = Peripheral Resistance x Cardiac Output

As there is some delay in the movement of blood through the arteriolar and capillary system, the Blood pressure in the arteries is higher than that in veins.

The arterial Blood pressure is the result of discharge of blood from left ventricle into the already full aorta.

S. B. P. – When the left ventricle contracts and pushes blood into the aorta, the pressure produced is called the 'Systolic Blood Pressure'. (SBP)

In adults it is about 120 mm Hg.

D. B. P. – When complete diastole occurs and heart is resting following the ejection of blood, the pressure within the arteries is called 'Diastolic Blood Pressure'. (DBP)

In adults, this is about 80 mm Hg.

Measurement of Blood Pressure

Arterial blood pressure is measured by the use of sphygomomanometer and is usually expressed in the following manner - B. P. = 120 / 80 mm Hg

Methods Used to Determine Blood Pressure

1) Oscillatory Method

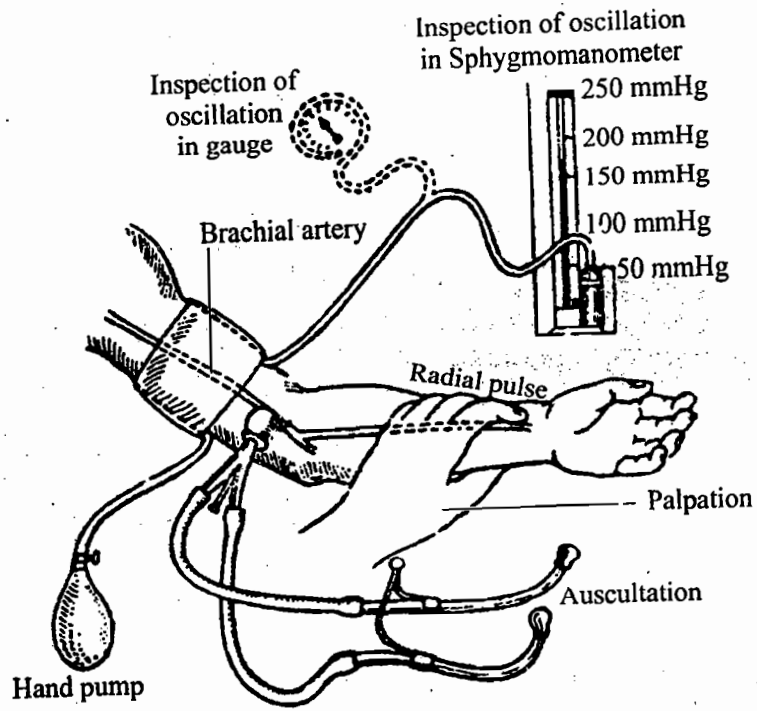

Measurement of arterial blood flow

Inspection of oscillation in spring gauge or mercury manometer is the basis of this method. In this method the cuff is wrapped over brachial artery and oscillations that are produced by pulsations are observed. The instrument is always kept at heart level. When the cuff

pressure is increased above systolic pressure the oscillations disappear, but on releasing the pressure gradually the oscillations become larger and prominent. The pressure head at which larger oscillation is seen is noted as 'systolic pressure'. But on further release of pressure oscillations become smaller and disappear.

The pressure at which the oscillations become smaller or disappear is known as 'diastolic pressure'.

2) Palpatory Method

The instrument is kept at the level of heart and cuff is tied round the upper arm. Pressure is raised to 200 mm Hg and then gradually released. When the pulse just appears at the wrist the pressure is noted. This is systolic pressure. This method is not accurate because the diastolic pressure can not be determined by this method.

3) Auscultatory Method

The instrument is kept at the level of heart and cuff is tied round the upper arm. Pressure is raised to 200 mmHg and then gradually released. Variations of heart sound are heard by placing the chest piece of stethoscope on the brachial artery, a little below the cuff. When the pressure is released gradually there is sudden appearance of clear tapping sound. This indicates systolic pressure.

The loud sound becomes muffled and rapidly begins to fade on further release of pressure. This point indicates diastolic pressure.

Record of B. P.

B. P. can be recorded by sphygmomanometer.

Physiological Variations

1) **Age** - B. P. rises with age. As age increases, blood vessels become rigid. Hence, the lumen of blood vessels becomes small. Blood flows slowly. To provide blood everywhere in the body, heart exert more pressure on the blood so that it can reach all the organs

2) **Sex** - In females, both systolic and diastolic pressures are slightly lower than in males upto the age of 45 to 50, because of the status of ladies, they take little food. Hence B. M. R. is less and consequently B. P. is less. Also their bones are smaller than that of gents. Hence, R. B. C. s are produced in less number. Therefore, the viscosity is less and consequently B. P. is less

3) **Build** - The systolic pressure is usually high in obese persons. In most of the corpulent persons, the blood pressure is found to be high

4) **Exercise** - In streneous exercise, the systolic pressure rises. In moderate exercise, there is slight rise of systolic blood pressure. Oxidative metabolic rate is increased due to running or exercise. More O_2 is needed for metabolism. Hence, B. P. is increased.

5) **Posture** - The diastolic pressure is slightly higher in standing position. In recumbent position the diastolic pressure is lower than that in sitting or standing position.

6) **Sleep** - The systolic pressure falls during sleep.

7) **After meals** - There is a slight rise of systolic pressure.

8) **Emotion or excitement** - It increases the systolic pressure.

9) **The sense of fear** - It increases blood pressure because, the adrenal glands secrete adrenalin more in quantity. When a

person is frightened, adrenalin acts as a stimulant which stimulate S. A. Node, increasing the heart beat. Hence, B. P. is increased. Also, when a person is frightened, spleen contracts. Therefore, blood comes out from the spleen increasing blood volume of the body and consequently B. P. is increased.

Factors Controlling Arterial B. P.

- Pumping action of the heart.
- Cardiac output.
- Peripheral resistance.
- Elasticity of the arterial walls.
- Blood volume.
- Viscosity of blood.

Maintenance of Normal Blood Pressure

The blood pressure is maintained within the normal limits by fine adjustments involving a number of factors including,

- Cardiac output.
- Blood volume
- Peripheral resistance
- Elasticity of the artery walls
- Venous return

Peripheral Resistance Depends Upon

- Velocity of blood
- Viscosity of blood
- Elasticity of arterial walls
- Lumen of blood vessels

Significance of Blood Pressure

The Normal Functions of B. P. is

1) To maintain a sufficient pressure to keep blood flowing from head to toe.

2) To provide for the motive force of filtration at the capillary bed

3) It gives correct information about the state of circulation as a whole.

Systolic Pressure

It indicates -

1) The extent of work done by heart.
2) The force with which heart is working.
3) The degree of pressure which the arterial wall has to withstand.

Diastolic Pressure

1) Diastolic pressure is the measure of peripheral resistance which indicates constant load against which heart has to work.
2) Increase of diastolic pressure indicates that the heart is approaching towards its failure.

Pulse Pressure

It generally varies directly as the stroke volume.

Pulse pressure = Systolic pressure - Diastolic pressure.

Circulation Time

It is a measure of time, taken by blood to flow from one site to any other specific site. Normally, total circulation time is 12 - 19 sec.

1) Arm to tongue circulation time is 10 - 16 sec. To measure this, 5 ml of 2 % Decholin is injected intra - venous (I/V) in anti cubital vein and time noted when bitter taste is felt.
2) Arm to tongue circulation time is 6 sec and measured by injecting ether and time noted when it is smelt in expired air.

Hypertension (High B. P. - उच्चरक्तदाब)

Hypertension is a very common disorder of the cardio vascular disease. Its incidence tends to increase with age. Since diastolic pressure reading tends to be more constant than the systolic one, it should be relied upon more.

Classification I - Normal diastolic pressure = 80 - 90 mmHg.

Type of hypertension	Diastolic pressure
Mild	90 - 100 mmHg
Moderate	100 - 110 mmHg
Severe	More than 110 mmHg

Classification II

1) Primary or Essential Hypertension.
2) Secondary Hypertension. - It occurs due to disorders of other systems like endocrine disorders, renal disorders.

The Reasons of High B. P.

1) Sex - In male BP is more than in female
2) Alcoholic beverages, tea, tobacco, smoking, excessive salts increase B. P.
3) Arterio sclerosis - Hardening of arteries due to old age.
4) Severe kidney diseases.
5) Emotional states.

Hypotension

B. P. less than normal is termed as hypotension.

Reasons

1) Blood loss by bleeding.
2) Failure of heart to pump blood.
3) Shocks and burning.
4) Endocrine failure (Hypo thyroidism).
5) Anaemia - Due to less R. B. C.
6) During sleep.

Radial Pulse (नाडी)

Definition

The pulse is described as a wave of distension and elongation felt in an artery wall due to the contraction of the left ventricle forcing about 60 to 80 millilitres of blood into the already full aorta.

Information that may be obtained from pulse includes

1) The rate at which heart is beating.
2) The rhythm and regularity with which heart beats occur, ie.- the length of time between beats should be the same.
3) **Volume** or strength of the beat - It should be possible to compress the artery with moderate pressure stopping the flow of blood. The compressibility of the blood vessel gives some indication of the blood pressure and the state of the blood vessel wall.
4) **Tension** - The artery wall should feel soft under the fingers.

Factors Affecting The Pulse Rate

1) **Position** – When an individual is standing up the pulse rate is usually rapid than when he is lying down.

2) **Age** – The pulse rate in children is more rapid than in adults.
3) **Sex** – The pulse rate tends to be more rapid in females.
4) **Exercise** – Any exercise - walking, running or playing games, will increase the pulse rate. The resting rate should be restored soon after the exercise has stopped.
5) **Emotion** – In strong emotional states the pulse rate is increased. Eg.- fear, excitement, anger, grief.

Record of Radial Pulse

This is done by sphygmograph. A normal sphygmograph or radial pulse tracing shows the following waves -

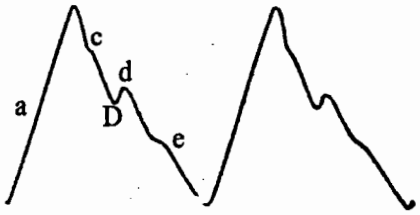

a – Primary Wave
c – Predicrotic Wave
d – Dicrotic Wave
e – Postdicrotic Wave
D – Dicrotic Notch

Radial pulse tracing

Some Common Variations Seen in the Pulse

1) **Tachy cardia** - It means increase in the pulse rate, above normal range. Pulse rate is usually increased in fevers, emotional states, increased B.M.R. (Basal Metabolic Rate), after meals and exercise.
2) **Brady cardia** - It means decrease in the pulse rate It is seen in cases with increased intracranial pressure and low B.M.R.
3) **Sinus arrhythmia** - The pulse rate rises during inspiration, while there is comparative fall during expiration.

4) **Auricular fibrillation** - The pulse rate rises to 400/ min.

5) **Pulses alternans** - There is alternate weak and strong beatings of the pulse. e.g. myocardial infarction.

6) **Pulsus paradoxus** - Pulse practically disappears during inspiration or frequency is more during expiration, than during inspiration.

7) **Water hammer pulse** - It is a sharp and steep rise and fall of pulse. The dicrotic notch and wave are absent in the graph. e.g. aortic regurgitation.

8) **Anacrotic pulse** - shows high and prominent dicrotic wave e.g. In case of Typhoid fever.

9) **Dicrotic pulse** - shows high and prominent dicrotic wave e.g. In case of Typhoid fever.

Electro Cardiogram (E. C. G.)

When the muscles contract, there is a change in the electrical potential across the membrane of muscle fibres. As the body fluids and tissues are good conductors of electricity, the electrical changes which occur in the contracting myocardium can be detected by attaching electrodes to the surface of body. The pattern of electrical activity may be displayed on an 'oscilloscope screen' or traced on paper.

The apparatus used is an 'Electrocardiograph' and the tracing is an 'electrocardiogram' (E. C. G.)

The electrocardiogram (E.C.G.) is a graphic record of electrical activity of the heart.

The E.G.C. is done with a special machine i.e. E.G.C. machine The E.G.C. paper is a specially prepared paper with small & large squares. There are 5 small squares. The E.C.G. paper moves at a rate such that in one minute 300 large squares or 1500 small squares are covered.

Thus 1 small square is equivalent to 0.04 sec. and

1 large square equals 0.2 sec.

To calculate the heart rate

$$\text{Heart rate} = \frac{300}{\text{No. of big squares between two 'R' waves}}$$

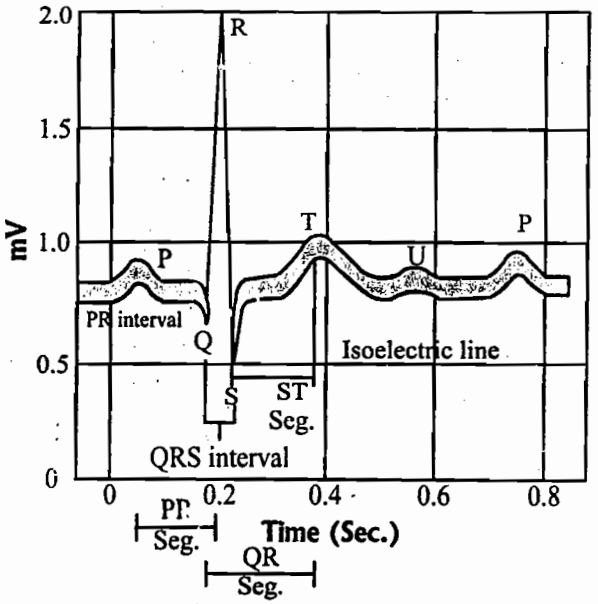

Conventional terms for electrocardiographic deflections.

E.C.G. (हृत्कार्यविलेख)

Electro Cardio Gram (E.C.G. / E.K.G.)

1) It is the record of electrical activity of heart.

2) Potentials, produced in heart, are conducted all over the body. These potentials are picked up by electrodes, amplified and recorded on the paper. Electrodes are called as leads.

Classification

1) Bipolar lead/standard leads

Two leads are used – positive and negative electrodes.

Names – Leads – I, II, III

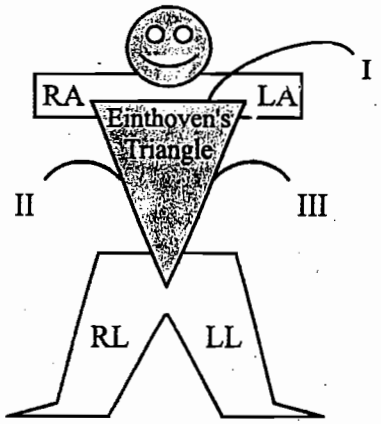

2) Unipolar lead

Only one electrode is used, other is earthed.

Two types

a) Unipolar chest leads (V1 to V6)

b) Unipolar limb leads (aVR, aVL, aVF)

E.C.G. is taken in so many leads (12 leads) to locate damage in myocardium. For e.g.

a) Anterior wall infarct – changes in chest lead.

b) Right ventricular Hypertrophy (RVH) changes are seen in right sided lead (aVR and I)

Normal E.C.G.

In lead II – Typical E.C.G. is obtained.

Scale

1) Time – 1 mm = 0.04 sec. Dot square (on X – axis)

Big square = 0.2 sec.

2) Y axis = Amplitude – 1 mm = 0.1 mv

Two big square = 10 mm = 1 mv

1) P Wave = First positive wave. Indicates Depolarization or Contraction of atria.

Amplitude = 0.2 mV (2 dot squares)

Duration = 0.08 sec. (2 dot squares)

Pathology = 1) In atrial hypertrophy P wave is tall.
2) Atrial fibrillation/flutter – multiple P Waves

2) Q Wave = Small negative wave.
Indicated depolarization of AV septum

3) QRS – complex

Indicates depolarization of both ventricles.

Amplitude = 1.5 – 2.5 mV (3-5 large square)

Duration – 0.08 sec. (2 dot squares)

Pathology

1) In ventricular hypertrophy QRS complexes are tall.

2) In ventricular fibrillation – QRS complexes are tall and irregular.

4) T Wave

Indicates repolarization of ventricles.

Ampiitude = 0.4 mv (4 dot squares)

Duration = 0.24 sec. (6 dot squares)

From this wave nutrition to myocardium can be judged.

Pathology = In M.I. T wave is flat on inverted.

In ventricular repolarization coronary supply ↑.

Intervals

1) P-R interval

From beginning of P. wave to beginning of QRS complex.

Normal = 0.12 to 0.16 sec. (3-4 dot square)

It indicates A-V conduction time.

Pathology = P-R interval is prolonged – In AV heart block.

2) Q.T interval

From beginning of Q-wave to end of T.

Normal = 0.24 to 0.30 sec. (6-8 dot squares)

It indicates the duration of ventricular systole.

3) T.P. interval

From beginning of T-wave to beginning of next P-wave.

Normal = 0.46 to 0.50 sec. (11-13 dot square)

It indicates duration of ventricular diastole.

Uses of ECG

1) To diagnose M.I. → T wave is flat or inverted. But ST segment is elevated.

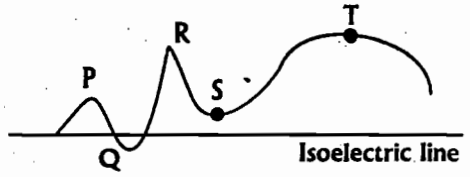

Elevated ST segment

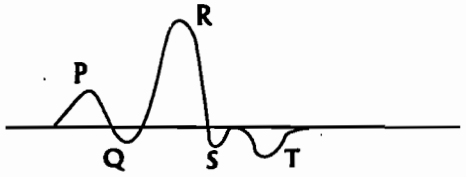

T wave inverted

2) To diagnose heart block. PR interval is prolonged. (Greater than 0.2 sec. Greater than 1 big square)

3) To diagnose arrhythmias. (Irregularity in the heart beat)

a) In atrial fibrillation (Flutter) – multiple P-Waves

b) In ventricular fibrillation – irregular tall QRS complexes

4) To diagnose hypertrophy of chambers.

a) In atrial hypertrophy – P waves are tall. (Normally 0.2 mV)

b) In ventricular hypertrophy (LVH or RVH) – QRS complexes are tall.

5) From the ECG 'Axis' deviation can be detected (Right axis deviation or left axis deviation)

Right axis deviation is seen in RVH. (Right Reaches)

Left axis deviation is seen in LVH. (Left Reaches)

6) To diagnose the diseases of pericardium.

To study the effect of drug on patients

For details, please read "Handbook of ECG" by Dr. R. R. Deshpande and Dr. S. S. Wavhal.

The E. C. G. Recording is done with reference to the following lids. I.e.- I, II, III, AVR, AVL, AVF, V_1, V_2, V_3, V_4, V_5, V_6.

Significance of E. C. G.

The E. C. G. Record gives the report about normal; or abnormal conditions about the heart chambers, valves and heart functions. We have already studied about normal E. C. G.

Eg.- The normal value of P. R. interval = 0.12 to 0.2 sec., & of QRS complex is 0.4 to 0.10 sec.

Indication for E. C. G.

In general case, the routine preventive health check up (Group check up) programme includes E.C.G. Also in some specific diseases like high blood pressure, diabetes mellitus, rheumatic fever, obesity the E.C.G. is done to see, effect of these diseases on the heart. If any patient complains, dyspnoea on exertion, pain in chest, palpitation the patient is usually get suggested about E.C.G. to rule out the possibility of cardiac problem.

Conclusion

The abnormal E.C.G. records give clue about specific diseases e.g. in Rheumatic heart diseases the PR interval is expected to be high. In myocardial infarction (M.I) T waves gets inverted which normally has positive deflection and also ST segment gets elevated.

In short E.C.G. record is a very good tool for assessment of normal and abnormal heart function.

हृदकार्याविरोध संदर्भ में अर्वाचीन विचार

Explanation of Heart Diseases According To Modern Concept

1) Heart Block

Defination

The improper function of auricular impulse and its propagation through the junctional tissues of heart is called heart block.

Explanation

Heart block occurs when the delay between atrial and ventricular contraction is increased. The severity depends on the extent of loss of stimulation of the S.A. Node.

Heart block is complete when ventricular contraction is totally dependent on impulses initiated by the A. V. Node, ie.- about 40 / min.

The Most Common Causes Are

i) Acute ischemic heart disease, ie.- angina pectoris, myocardium infraction.

ii) Myocardial fibrosis following repeated infarctions or myocarditis.

iii) Drugs used to treat heart disease, ie.- digitalis propranolol.

Classification

1) S. A. block 2) A. V. block

3) Bundle branch block 4) Purkinje's block.

Important Features of Complete Heart Block

1) Pulse - rate = 36 - 40 / min, Rhythm = Regular,
volume = high, Tension = High

2) Condition of the arterial wall may be sclerosed and character may be collapsing. The pulse is fixed pulse i.e. its rate will not change after exercise, or atropine injection etc.

3) E. C. G. will be diagnostic.

2) Angina Pectoris

This is sometimes called 'angina of effort' because physical effort causes severe ischemic pain.

Angina pectoris denotes cardiac pain of short duration due to inadequate blood supply to the cardiac musculature.

Causes

1) Coronary atherosclerosis
2) Aortic valve diseases
3) Syphilitic aortitis
4) Severe anaemia
5) Paroxysmal tachycardia

Clinical Features

Most important symptom is pain having following characteristics -

Location - Mid or upper sternal region. May be felt over the left side of the chest.

Character - Constricting squeezing, pressing or crushing in character. The feeling in the arms is one of tingling in type.

Radiation - Along both the shoulders and upper arms more commonly to the left side.

Provoking factors - Usually starts after exercise. ie.- walking uphill or walking upstairs. Also seen after heavy meals, exposure to cold weather, emotional upsets or even during sexual intercourse.

Pain - Usually disappears after taking rest for a while. Duration of pain is not more than 2 - 5 min usually.

Investigation - Stress test may be helpful.

3) Myocardial Infarction (हृत्कार्यविरोध)

It is also ischemic heart disease.

It occurs when the oxygen supply to heart muscles becomes nil due to occlusion of one of the branches of coronary artery.

Causes

- In chronic heart disease many small infracts form and collectively they lead to myocardial weakness, angina pectoris ad possibly heart failure.
- In acute ischemic heart disease one or more large arteries are occluded and are usually complicated by thrombosis. The infract is correspondingly large and disrupts the heart activity.
- In coronary thrombosis there is occlusion of coronary artery due to formation of blood clot in it.

Clinical Feature

- The **typical retrosternal pain** of angina pectoris is present but unlike peetoris it starts at rest, persists longer and is not relieved by coronary dilators
- Breathlessness, cough, frothy sputum, nausea and vomiting may be present.
- Sometimes the limbs are cold, **severe sweating**, restlessness and confusion.

Investigation

E. C. G. Shows inverted T wave. ST segment elevation and abnormal 'Q' wave (5 mm or more.)

4) Cardiac Arrhythmias

Fibrillation

This is the contraction of the cardiac muscle fibres in a disorderly sequence. The chambers do not contract whole and the pumping action is disrupted.

i) Auricular Fibrillation

Contraction of atria is uncoordinated and rapid. Pumping is ineffective and stimulation of A. V. Node is disorderly.

ii) Ventricular Fibrillation

The pumping action of ventricles is defective when the sequence of contraction of the muscle fibres is disrupted and blood is not pumped into either.

5) Congenital Heart Disease

i) Atrial Septal Defect

It is an abnormal opening or shunt between the upper chambers of the heart, the right and the left atria.

This abnormal opening or defect raises the blood pressure on the right side of the heart. The child often suffers from chest cold and may fail to grow rapidly as he should. Eventually because of extra resistance building up in vessels supplying the lungs the blood flow may reverse itself, passing from the right to the left side. When this occurs the patient may turn blue, a condition known as cyanosis.

ii) Coarctation of Aorta

It means a localized constriction or narrowing of the aorta near the point where that vessel crosses behind the pulmonary artery. This is the spot where the 'ductus arterious' or cross - channel between the aorta and pulmonary artery existed before birth.

प्रकरण १३

षट्क्रियाकाल

षट्क्रियाकाल यह दोष वैषम्य का विचार है।

रोगस्तु दोषवैषम्यं अर्थात रोग अर्थात दोषों की विषमावस्था।

दोष वैषम्य मुख्यतः दो प्रकार से होता है - १) वृद्धी २) क्षय

दोष वृद्धी के बगैर वे बाकी शरीर घटकों की दुष्टी नहीं कर सकते।

दोष दूष्य संमूर्च्छना जनितो व्याधिः।

प्रत्यक्ष व्याधि निर्माण होने से पूर्व शरीर में होने वाली विभिन्न घटनाएँ यही षट्क्रिया काल है।

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्या ऽतिमात्रकः।

सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्॥ ... वा. सू. १ / १९

रोगोत्पत्ति के लिए जिम्मेदार इन तीन कारणों में से किसी भी कारण से प्रथमतः दोष में बिगाड निर्माण होता है। यह बिगाड उत्पन्न होने पर विकृत दोषों के कारण शरीर के बाकी घटकों में भी अलग-अलग स्तर पर बिगाड निर्माण होने लगता है। संक्षेपतः-

दोष प्रकोपक कारणों का सेवन करने से ले कर व्याधिनिर्मिती होने तक जो घटनाएँ घटती हैं, उन्हें संप्राप्ती कहते है।

व्याधि का जन्म होने के लिए दोषों को अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पडता है। उनमें से महत्त्वपूर्ण छह अवस्थाओं को षट्क्रिया काल कहते है। इन अवस्थाओं का सुश्रुत ने अत्यंत समर्पक वर्णन किया है।

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।

व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेत भिषक्॥ ... सु. सू. २१ / ३५

१) संचय २) प्रकोप ३) प्रसर

४) स्थानसंश्रय ५) व्यक्ति ६) भेद

इन छह अवस्थाओं का ज्ञान आवश्यक है। इनमें से प्रारंभिक अवस्था में की गई चिकित्सा सुलभ तथा अधिक लाभदायी होती है। किन्तु जैसे-जैसे अगली अवस्था प्राप्त होती है, उसके साथही चिकित्सा करना मुष्किल होता है और व्याधि चिरकाल ठीक नहीं होता।

विशेष टिप्पणी

वाग्भट ने दोषवैषम्य के संदर्भ में चय - प्रकोप - प्रशम ये तीन ही अवस्थाएं बताई हैं। अर्थात् वाग्भटोक्त प्रकोप अवस्था में सुश्रुतोक्त प्रकोप से लेकर भेद तक सभी अवस्थाएं समाविष्ट होती हैं।

षट्क्रिया काल का विस्तार पूर्वक विचार

१) **चय अवस्था**

चय अवस्था में बिगडे हुए दोष स्व स्थान में संचित होने लगते हैं।

एतानि खलु दोष स्थानानि एषु संञ्चीयन्ते दोषाः।

प्राक् सञ्चयहेतुरुक्तः तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्ण कोष्ठता।

पीतावभासता मंदोष्मता च अंगानां गौरवमालस्य।

चयकारणविद्वेषश्चेति लिंगानि भवन्ति।

तत प्रथमः क्रियाकालः। ... सु. सू. २१ / २८

- वातदोष के चय के कारण स्तब्धपूर्ण कोष्ठता यह लक्षण निर्माण होने की तथा उदर संपूर्णतः भरने की भावना निर्माण होती है। उदरप्रदेश में जडता की अनुभूति होती है। क्वचित् पेट में दर्द होता है।
- पित्त की चय अवस्था में नख, नेत्र, मूत्र इन स्थानों में मुख्यतः पीतता की अनुभूति होती है। कफ के चय के कारण शारीरिक उष्णता कम होती है, अग्नि मंद होता है। इसके अतिरिक्त दोषनिरपेक्ष प्रकार का एक विशेष लक्षण दिखता है, और वह है - **चय कारण विद्वेष**। जिन कारणों से दोषों की चय अवस्था निर्माण हुई है, उनके लिए विद्वेष, तिरस्कार निर्माण होता है। उदा.- श्रीखंड, बासुंदी आदि अति मधुर, गुरु भोजन होने पर भोजन के पश्चात कुछ कालावधि के लिए पुनः मधुर भोजन की इच्छा नहीं होती अथवा एक दिन लंघन करने की इच्छा होती है।

चय अवस्था में चिकित्सा हितकारक

इस अवस्था में लक्षणों का स्वरुप अल्प मात्रा में तथा सौम्य होता है। अतः चिकित्सा करना आसान होता है और बिगडे हुए दोषों को आसानी से अवरोध किया जा सकता है। किन्तु चिकित्सा के अभाव में ये दोष अगली अवस्था में पहुँचने पर बलवान हो जाते हैं। अतः आयुर्वेद की सलाह -

दोषों पर चय अवस्था में ही विजय प्राप्त करनी चाहिए।

चय एव जयेत दोषम्। ... अ. हृ. सू.

२) **प्रकोपावस्था**

चय अवस्था में दोष स्व-स्थान में संचित होना केवल प्रारंभ ही होता है। किन्तु परंतु प्रकोपावस्था में दोष स्व-स्थान में अधिक मात्रा में संचित हो जाते हैं।

लक्षण

तेषां प्रकोपात् कोष्ठ तोद संचरण अम्लिका पिपासा परिदाह अन्नद्वेष

हृदयोत्क्लेदश्च जायन्ते। तत्र द्वितीय क्रियाकालः॥ ... सु.सू.२१/२६

- वात प्रकोप के कारण चल गुणधिक्य से कोष्ठ-उदर प्रदेश में वेदना निर्माण होती है (तोद)। संचरण क्रिया अर्थात् संबंधित कोष्ठ भाग की गतिविधियाँ अधिक बढ जाती है। पेट में गुडगुड शब्द निर्माण होता है (Hyperperistalsis)।
- पित प्रकोप के कारण अम्लिका (मुख में अम्ल जल भर आना - Water Brash), पिपासा (अत्यधिक तृष्णा - Polydypsia एवं परिदाह (सर्वांगदाह - Burning Sensation) ये लक्षण निर्माण होते हैं।
- कफ प्रकोप के कारण अन्न के प्रति घृणा निर्माण होना, हृदयोत्क्लेद (हृदय प्रदेश में संचिति का आभास, छाती में पीडा की भावना) ये लक्षण निर्माण होते हैं।

ज्ञातव्य

तथापि वाग्भट ने प्रकोपावस्था में दोष स्वस्थान छोडकर बाहर निकलते हैं, ऐसा वर्णन किया है।

कोपस्तु उन्मार्ग गमिता

अर्थात् वाग्भटोक्त प्रकोपावस्था सुश्रुतोक्त प्रसरावस्था की अगली अवस्था से मिलती-जुलती है।

३) प्रसरावस्था

प्रकोपावस्था में दोष स्व-स्थान में अधिक मात्रा में वृद्धिंगत होते हैं। दोषवृद्धी होती ही रही तो प्रसरावस्था में दोष स्व-स्थान छोडकर बाहर निकलते हैं और उनका प्रसर होता है, अर्थात् वे संपूर्ण शरीर में भ्रमण करते हैं।

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गमनाटोपौ, ओषचोष परिदाह धूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकांगासाद च्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिंगानि भवन्ति तत्र तृतीयः क्रियाकालः। ... सु.सू.२१/३२

- वातदोष की प्रसरावस्था में वातदोष विमार्ग गमन करता है अर्थात अपने प्राकृत मार्ग की (अनुलोम) गति बदलकर अलग ही मार्ग से गति निर्माण होती है। इसी कारण 'आटोप' (गुडगुड ध्वनी निर्माण होना) यह लक्षण निर्माण होता है।
- पित्तदोष की प्रसरावस्था में कम-अधिक स्वरुप का दाह निर्माण होता है।
- कफ की प्रसरावस्था में अरुचि (आरोचक), अपचन, थकान (अंगसाद), उल्टी (च्छर्दी) ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

प्रसरावस्था किस प्रकार होती है ?

प्रसर किस प्रकार होता है, यह स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण दिये गएं हैं।

१) जल और चावल का आटा साथ मिलाकर उसमें थोडा किण्व डालकर कुछ दिन साथ रखने पर किण्वन प्रक्रिया के पश्चात यह मिश्रण उफनकर सर्वत्र फैल जाता है, उसी प्रकार दोष प्रसरावस्था में फैल जाते हैं।

२) बाल्टी में पानी अत्यधिक मात्रा में जमा होने लगा तो वह बाल्टी की सीमा छोडकर बाहर निकलता है। उसी प्रकार अत्यधिक वृद्धिंगत दोष स्व-स्थान की सीमा छोडकर बाहर निकलते हैं।

प्रसरावस्था में लक्षणों की तीव्रता

स्व-स्थान छोडने के पश्चात दोष जिस-जिस स्थान में पहुँचते है, वहाँ विकृति उत्पन्न करते हैं।

① वात ② पित्त ③ कफ ④ शोणित (रक्त)
सश्रुत – १३ प्रकार – ⑤ वात पित्त ⑥ वात कफ ⑦ पित्त कफ
⑧ वात शोणित ⑨ पित्त शोणित ⑩ कफ शोणित
⑪ वात पित्त कफ ⑫ वात पित्त शोणित ⑬ वात कफ शोणित
⑭ पित्त कफ शोणित ⑮ वात पित्त कफ शोणित

४) स्थान संश्रय

प्रसरावस्था में बिगडे हुए दोष समस्त शरीर में घूमते हुए जिस स्थान में स्थानवैगुण्य, स्रोतोवैगुण्य (तद्-तद् स्थान की दुर्बलता) होगी उस स्थान का आश्रय लेते हैं। इस अवस्था में जो लक्षण निर्माण होते हैं, उन्हें उस व्याधि के **पूर्वरुप** अर्थात् व्याधिसूचक लक्षण कहा जाता है।

स्थानसंश्रयिणा क्रुध्दाः भाविव्याधि प्रबोधकम्।

दोषाः कुर्वन्ति यत् लिंगं पूर्वरुपम् तदुच्यते॥ ... मा. नि. १ / ७

संक्षेपतः, स्थानसंश्रय होने पर व्याधि उत्पत्ति की प्रक्रिया का प्रारंभ होता है, ऐसा कहा जा सकता है। अतः इस स्थान को व्याधि उद्भवस्थान कहा जाता है।

शरीर में स्थानसंश्रय अलग-अलग स्थान पर होता है। अतः एकही दोष स्थान के अनुसार अलग-अलग व्याधि उत्पन्न कर सकता है। उदा.- प्रकुपित दोष उदरप्रदेश में संग होने पर अग्निमांद्य, जलोदर, अतिसार ये व्याधि उत्पन्न हो सकते हैं। किन्तु यही दोष बस्तिप्रदेश में जाकर संग होने पर अश्मरी, मूत्रकच्छ्र, मूत्राघात आदि व्याधि निर्माण होते हैं और सर्व शरीर में दोषों की व्याप्ति बढने पर ज्वर के जैसे व्याधियों की संभावना बढ जाती है।

स्थानसंश्रयावस्था में चिकित्सा शीघ्र व्याधि प्रशमनार्थ उपयुक्त होती है। दुर्बल स्थान को बल प्रदान करने वाली तथा अवयवानुसार रसायन चिकित्सा ही उपयुक्त होती है।

५) व्यक्ती अवस्था

व्यक्ती अर्थात् व्यक्त होना इस अवस्था में ज्वर, अतिसार आदि व्याधिओं के लक्षण व्यक्त होते हैं। अतः इस अवस्था को सुश्रुत ने **व्याधिदर्शन** कहा है।

इस अवस्था में व्याधि का विशेषतापूर्ण लक्षण समझा जा सकता है।

प्रत्यात्मक लक्षणों के कुछ उदाहरण

१) **प्रवाहिका** – प्रवाहमाणस्य प्रवाहिका।
(जिसमें प्रवाहण अर्थात् तट्टी करते समय जोर लगाना यह लक्षण होता है, वह प्रवाहिका व्याधि।)

२) **कामला** – कामान् लाति इति कामला।

३) **ग्रहणी** – मुर्हुद्रवं मुर्हुबद्धं।

(ग्रहणी व्याधि में क्वचित बद्ध मलप्रवृत्ती और क्वचित द्रवमलप्रवृत्ती दिखाई देती है।) व्यक्ती अवस्था में व्याधिप्रत्यनिक (व्याधि विरोधी) चिकित्सा करने का उपदेश किया है।

६) भेद अवस्था

यह अंतिम अवस्था है। इस अवस्था में व्याधि का परिपूर्ण ज्ञान होता है। व्यक्ती अवस्था में व्याधि नाम का आकलन होता है, किन्तु भेद अवस्था में व्याधि का दोष प्रकार भी स्पष्ट होता है, ऐसा वाग्भट ने वर्णन किया है।

वातादि लक्षण भेदात भिन्नत्वे भेदः॥

उदा. द्रवमल प्रवृत्ती तथा बाकी लक्षणों से अतिसार व्याधि होने की पुष्टी होती है।

- द्रवमलप्रवृत्ती शनैः-शनैः तथा तीव्र उदरशूल के साथ होने पर वातज अतिसार,
- पित्तरक्तवर्णी होने पर पित्तज अतिसार अथवा
- स्त्यान मलप्रवृत्ती होने पर कफज अतिसार

इस प्रकार दोषज प्रकारों की विविधता स्पष्ट होती है।

दोषज प्रकार स्पष्ट होने से व्याधि की सामान्य चिकित्सा के साथही दोषविशिष्टता के अनुसार अंशांश चिकित्सा की जा सकती है।

षट्क्रिया काल ज्ञान का महत्त्व

१) व्याधिनिर्मिती में कारण स्वरुप सभीं विषयों का स्वाभाविक क्रम समझा जा सकता है।

२) व्याधि अणु स्वरुप में ही, प्राथमिक अवस्था में ही ठीक किया जा सकता है।

३) व्याधिनिर्मिती के विभिन्न स्तरों में अलग-अलग दृष्टीकोन से चिकित्सा की जा सकती है।

४) उपरोक्त लाभोंद्वारा चिकित्सा अचूकता से की जा सकती है।

प्रकरण १४

प्रकृति विचार

प्रकृति का अर्थ

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी खास विशेषता होती है, जो अन्य व्यक्तियों के समान नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ खास, अलग गुण, पहचान, चुनाव आदि होते है। इस प्रकार की अलगता यही प्रकृति है। संक्षेपतः, शरीर का स्वभावधर्म, स्ववैशिष्ट्य यही प्रकृति है।

प्रकृति व्याख्या (अरुणदत्त के अनुसार)

प्रकृतिः शरीर स्वरुपम्।

शरीर का स्वरुप यही प्रकृति है।

देह प्रकृति व्याख्या (श्रीनृसिंहजी के अनुसार)

रसवैशेषिक भाष्यकार श्रीनृसिंहजी ने प्रकृति की व्याख्या निम्न प्रकार से की है।

- **जन्ममरणान्तराल भाविनि अविकारिणी दोषस्थिती प्रकृति।**

... रसवैशेषिक सूत्र

- **प्रकृतिर्नाम, जन्ममरणान्तरालभाविनी।**

गर्भावक्रन्ति समये स्वकारणोद्रेक।

जनिता निर्विकारिणी दोषः स्थितिः॥ **... रसवैशेषिक सूत्र**

गर्भावक्रन्ति के समय स्व-कारणों से उद्रित दोषों की निर्विकार स्थिति को, जो स्थिती जन्ममरणांतराल है, अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक कायम रहनेवाली है, उसे 'प्रकृति' कहते है।

देहप्रकृति

देहप्रकृति – व्याख्या

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः ।

दृश्यन्ते वातलाः केचित्पित्तला श्लेष्मलास्तथा ॥

तेषामनातुराः पूर्ववातलाद्याः सदातुराः ।

दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ ... च. सू. ७/३८,३९

गर्भाशय में जब शुक्रशोणित संयोग होता है, तभी से कुछ व्यक्ति वात, पित्त, कफ सम होने वाले, कुछ वातदोष का अधिक्य होने वाले, कुछ पित्तदोष का अधिक्य होने वाले और कुछ कफ दोष का आधिक्य होने वाले दिखाई देते हैं और उसी के अनुसार उनका जन्म होता है। उनमें से वात, पित्त, कफ ये दोष समस्थित में होने वाले व्यक्ति स्वस्थ, अनातुर, निरोगी होते हैं। किन्तु वातल (वाताधिक्य होने वाले) प्रकार के एकदोषज व्यक्ति नित्य व्याधिपीडित होते हैं। इन अलग-अलग दोषों से बनने वाले प्रकृति में दोषों का अनुशय (अर्थात् जन्म के साथ ही शरीर में होने वाला दोषाधिक्य) होने के कारण उन्हें 'देहप्रकृति' कहा जाता है।

शुक्र शोणित संयोग के समय जो दोष उत्कट (Dominant) होते हैं उन दोषों

प्रकृति किस प्रकार बनती है ? (प्रकृति निर्माण प्रक्रिया)

- **शुक्रशोणित संयोगे यो भवेद्दोषः उत्कटः प्रकृतिर्जायते तेन ॥** ... सु.शा.४ /६२
- **शुक्रासृग्गर्भिणी भोज्यचेष्टागर्भाशयर्स्तुषु ।**

  यः स्याद्दोषो ऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिताः ॥ ... वा. शा. ३ /८२

कि प्रकृति निर्माण होती है।

१) पितृबीज
२) मातृबीज
३) गर्भसंभवकाल में माता का आहार
४) माता का विहार
५) गर्भाशय की स्थिति
६) गर्भ धारणा का काल
७) बीज में होने वाला दोष

उपरोक्त घटक शुक्रआर्तवादि की सहायता से देहोत्पत्ति करते हैं।

वातापित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः ।

जिस प्रकार से शिकारी किटक के शरीर का विष उसे बाधा नहीं पहुँचाता उसी प्रकार से उत्कट दोष गर्भ को बाधा नहीं पहुँचाते।

मानवी शरीर में शिर, मुख, पृष्ठ, उदर, हस्त, पाद आदि सभी अवयव निर्माण होते हैं। साथही आहार ग्रहण, पाचन, मलविसर्जन, श्वसन, अभिसरण आदि नित्य व्यापार भी उस देह में सम्पन्न होने लगते हैं। किन्तु उस व्यापार में प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिभेद से कम-अधिक बदलाव होते हैं। व्यक्तिभेदानुरुप लाखों प्रकृतियां निर्माण होती रहती हैं, उन सभी का वर्गीकरण वैद्यकशास्त्र में सातत्य से किया गया है।

प्रकृति गुणवत्ता मापन

तैश्च भिन्नः प्रकृतयो हीनमध्यमोत्तमा पृथक् ।

समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निंद्या द्विदोषजा ॥ ... वा. सू. १ / १०

१) वातप्रकृति
२) पित्तप्रकृति
३) कफप्रकृति
४) वातपित्तात्मक प्रकृति
५) वात कफात्मक प्रकृति
६) कफापित्तात्मक प्रकृति
७) त्रिदोषज प्रकृति अथवा समधातु प्रकृति

इस प्रकार प्रकृति के संक्षेप में सात प्रकार किये गए हैं।

इन सात प्रकारों में वात प्रकृति कनिष्ठ, पित प्रकृति मध्यम तथा कफप्रकृति उत्तम होती है। द्विदोषात्मक प्रकृति में पित्तकफात्मक प्रकृति हीन, वातकफात्मक हीनतर तथा वातपित्तात्मक प्रकृती अतिहीन श्रेणि की होती है।

प्रकृति के प्रकार

"जितनी व्यक्तियां उतनी प्रकृतियां" यह व्यावहारिक सूत्र शास्त्रीय दृष्टी से भी सत्य है। वस्तुतः कोई भी एक व्यक्ति एकदम समान रुप से दूसरे जैसी नहीं होती और इस भूमिका से प्रकृति के अनेकों प्रकार किए जा सकते हैं। किन्तु शास्त्राभ्यास की दृष्टी से, विशिष्ट वर्गीकरण पद्धति से, प्रकृति के प्रकार किए जा सकते हैं।

वर्गीकरण १ – प्रकृति के दोषज प्रकार

वात, पित्त, कफ इन त्रिदोषों में से जिस दोष का अधिक्य होगा, उसके अनुसार प्रकृति के ७ प्रकार होते हैं। इनमें से एकदोषज ३, द्विदोषज अथवा द्वंद्वज ३ तथा समदोषज १।

प्रकार

१) वातज प्रकृति २) पित्तज प्रकृति ३) कफज प्रकृति

४) वात पित्तज प्रकृति ५) वात कफज प्रकृति ६) पित्त कफज प्रकृति

७) त्रिदोषज प्रकृति

वर्गीकरण २ – भौतिक प्रकृति

मनुष्य शरीर में पंचमहाभूतों में से किस घटक का अधिक्य है, इसके अनुसार भौतिक प्रकृति के ५ प्रकार होते हैं।

१) पार्थिव प्रकृति २) आप्य प्रकृति ३) तेजस प्रकृति

४) वायवीय प्रकृति ५) आकाशीय प्रकृति

वर्गीकरण ३ – गुणमयी प्रकृति

गुणमयी प्रकृति अथवा मानस प्रकृति अथवा कायिक प्रकृति।

त्रिदोषों के समान ही सत्व, रज, तम इन त्रिगुणों के अधिक्य के अनुसार प्रकृति के प्रकार तथा उपप्रकार निम्न प्रकार से किये गएं हैं।

१) सात्विक प्रकृति

१) ब्राह्म २) माहेंद्र ३) वरुण

४) कौबेर ५) गांधर्व ६) याम्य

७) ऋषी सत्व

२) राजस प्रकृति

१) आसुर २) राक्षस ३) पैशाच

४) प्रेत ५) सर्प ६) शाकुन

३) तामस प्रकृति

१) पाशव २) मात्स्य ३) वानस्पत्य

वर्गीकरण ४ – जात्यादि सप्तविध प्रकृति

उपरोक्त वर्गीकरण में उल्लेखित प्रकारों से अलग रुप से अष्टांग संग्रहकार ने वर्णन किया है।

१) जातिनियत प्रकृति २) कुलनियत प्रकृति ३) देशनियत प्रकृति

४) कालनियत प्रकृति ५) वयनियत प्रकृति ६) बल नियत प्रकृति

७) प्रत्यात्मनियत प्रकृति

प्रकृति ज्ञान का महत्त्व

स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम् तथा आतुरस्य व्याधि परिमोक्षः।

आयुर्वेद के इस मूलभूत उद्दिष्ट की पूर्ति के लिए प्रकृति विज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

स्वास्थ्य रक्षण

स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थ्य बनाएं रखने की दृष्टी से ''स्व-प्रकृति समझना'' यह **आरोग्य की चाबी** प्राप्त करने के समान है, क्यौं कि स्व-प्रकृति समझने पर प्रकृति के अनुसार कौनसा आहार योग्य है, कौनसा अयोग्य है, कौनसी व्याधियाँ होने की संभावना है, व्याधि टालने की दृष्टी से आदर्श दिनचर्या कैसी होनी चाहिये ? प्रकृति के अनुसार स्वास्थ्य रक्षणार्थ कौनसा रसायन लेना चाहिए आदि सभीं विषयों में मार्गदर्शन मिल सकता है।

व्याधिपरिमोक्ष

प्रतिबंधात्मक दृष्टी के साथही रुग्ण की चिकित्सा करने की दृष्टी से भी ''प्रकृति'' ज्ञान सहायक होता है। अतः रुग्णपरीक्षा की दृष्टी से महत्त्वपूर्ण दशविध परीक्षा भावों में प्रकृति परीक्षण का उल्लेख किया गया है।

दूष्यं देशं बलं कालं अनलं प्रकृतिं वयः।

सत्वं सात्म्यं तथा आहारं अवस्थाश्च पृथग्विधाः ... ॥

१) रुग्ण चिकित्सा के दौरान मुख्यतः द्रव्य का चुनाव, प्रकृति के अनुसार करने पर लाभदायक होता है और साथही क्वचित नुकसान भी टाला जा सकता है। उदा. भल्लातक, त्रिभुवनकिर्ती आदि उष्ण, तीक्ष्ण गुण युक्त औषधों का उपयोग पित्त प्रकृति की व्यक्ति में नहीं करना चाहिए अथवा अत्यंत सावधानी से करना चाहिए।

प्रकृति बदलती नहीं।

प्रकोपो वा ऽ न्यथाभावोः क्षयो वा न उपजायते।

प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥ **... सु.शा.४/७७**

उन तीन दोषों में सद्य आयुष्य में क्षय-वृद्धि अथवा अलगता निर्माण नहीं होती। किसी सम प्रकृति व्यक्ति को अथवा पित्तप्रकृति की व्यक्ति को ज्वर, रक्तपित्त, कामला, पाण्डु जैसा पित्त विकार होने पर पित्तदोष प्रकृति में ही मूलतः होने के कारण इस व्याधि में पित्त के लक्षण अधिक होते हैं। किन्तु पित्तप्रकृति व्यक्ति को वातप्रधान अथवा कफप्रधान विकार होने पर उस पर प्रकृति आरंभक पित्त का कुछ भी परिणाम नहीं होता। उस स्थान में वात अथवा कफ के लक्षण वर्धित होते हैं, पित्त के नहीं। इस दृष्टी से प्रकृति आरंभक दोष तथा रोग निर्माण करने वाला दोष यदि भिन्न होगा तो वह रोग सुलभसाध्य होने की संभावना अधिक होती है, क्यौं कि व्याधिजनक दोषों का शमन करने के लिए प्रकृतिजनक दोष सहायता करते हैं।

प्रकृति बाधाकर नहीं।

यहाँ पर यह किन्तु निर्माण होने की संभावना है कि, प्रकृतिजनक दोष शरीर को पीडाकारक कैसे नहीं होते ? इस का उत्तर यह है कि उनकी आदत हो जाती है और वे प्राकृत होते हैं। इस लिए वे सम अथवा विषम दोनों भी स्थितियों में आत्मा का संयोग करने में अर्थात् देहोत्पत्ति करने की दृष्टी से सहायता ही करते हैं।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।

तद्वत्प्रकृतयोमर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥ **... सु. शा. ४ / ७८**

विष जीवित का नाश करता है, किन्तु उस विष में ही किटकों का जन्म होता है, वे नहीं मरते। इसी प्रकार शुक्रार्तव में उपस्थित दोष शरीर की निर्मिती करते हैं। वही दोष विकृत होने पर शरीर का नाश करते हैं। व्यवहार में प्रकृति के दोषों के कारण विशेष पीडा नहीं होती। उसीसे उस व्यक्ति का जन्म होने के कारण वे मारक नहीं होते। शरीरव्यापार चलाने में वे सहायता करते हैं। एकदूसरे के विरोधी होकर पंचमहाभूत तथा आत्मा इनका वियोग नहीं कराते। इस विकृति अवस्था में भी वे जीवन जारी रखते हैं।

सभी व्यक्ति **उपचार स्वस्थ** होते हैं।

वातप्रकृति

१) वात प्रकृति (चरक के अनुसार)

वातस्तु रुक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः, तस्य रौक्ष्याद्वातला रुक्षापचिताल्पशरीराः, प्रततरूक्षक्षामभिन्न मन्दसक्तजर्जरस्वराः, जागरुकाश्च, लघुत्वाच्च लघुचपलगतिचेष्टाहाराः , चलत्वादनवस्थिभ्रूहन्वोष्ठजिव्हाशिरः स्कंन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद्बहुप्रलापकंडरासिराप्रतानाः शीघ्रत्वातच्छीघ्रसमारम्भ क्षोभविकारा; शीघ्रत्वात्शीघ्रत्रासविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽपिल्पस्मृत्यश्च, शैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेषकस्तंम्भाःपारूष्यात्परूषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाङ्गाः, वैशद्यात्स्फुटित अंग अवयवाः, सततसन्धिशब्दगामिश्च भवन्ति, त एवंगुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पापत्याश्चासाधन्याश्च भवन्ति ॥

... च. वि. ८ / १०८

वायु रुक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष, विशद, गुणयुक्त होता है।

१) वात के **रुक्ष गुण** के कारण वातप्रकृति मनुष्य का शरीर रुक्ष, अपचित, कृश होता है। उसका स्वर प्रतत (खींचा हुआ), क्षाम (बारीक, क्षीण), सन्न (फंटा हुआ, चिडचिडा, घर्घर युक्त), सक्त (अवरोधित), जर्जर (कर्कश/अश्राव्य) होता है। उसकी निद्रा सजग होती है।

२) वायु **लघु तथा चपल** होने के कारण चलना (हलचलों की गति) क्रिया-कर्म, चेष्टा, आहार-विहार आदि अल्प मात्रा में किन्तु जलद होते है।

३) वायु के **चल गुण** के कारण संधि, अक्षि (नेत्र), भ्रू, हनु, ओष्ठ, जिव्हा, शिर, स्कंध, पाणि (हस्त), पाद ये अवयव अनवास्थित (टेढे-मेढे अथवा अस्थिर) होने हैं।

४) वायु के **बहु गुण** के कारण ये व्यक्ति बातुने होते हैं। साथही कंडराओं तथा सिराओं का प्रमाण अधिक होता है अथवा वे उन्नत होती हैं।

५) वायु के **शीघ्र गुण** के कारण ये व्यक्ति किसी भी कार्य का प्रारंभ शीघ्रता से करते है। मानसिक क्षोभ, व्याधि-विकार शीघ्रता से होते हैं। शीघ्र भय, शीघ्र प्रेम,

शीघ्र वैराग्य वात प्रकृति में दिखाई देता है। इस व्यक्ति की श्रुतग्राहिता (आकलन शक्ति) उत्तम होती है, किन्तु चिरस्मरण नहीं होता।

६) वायु के **शीत गुण** के कारण ये व्यक्ति शीत वातावरण, शीत पदार्थ सेवन टालते हैं। उन्हें नित्य शीतता के कारण उत्पन्न विकार (शीतक) तथा स्तम्भ (अवयव जकडना) आदि की बाधा होती है।

७) **परुष गुण** के कारण केश, दाढी-मूँछ के केश, रोम, नख, दन्त, हस्त, पाद, चेहरा ये अवयव रुक्ष होते हैं।

८) **विशद गुण** के कारण शरीर में छालें पडते रहते है।

उदा.- शीत ऋतु में हाथ-पैरों में छालें पडते हैं, और संधियों से चलने के दौरान शब्द निर्माण होता है।

इस प्रकार उपरोक्त गुणों के संयोग के कारण वातप्रकृति मनुष्य अधिकतर अल्प शक्ति, अल्प आयु, अल्प संतान, अल्प साधन सामुग्री युक्त तथा निर्धन होता है।

२) **वात प्रकृति (सुश्रुत के अनुसार)**

प्रजागरुकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटित करचरणो ऽ तिरुक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी (क्राथीति पाठान्तरे हिंसाशिलः) दन्तनखखादी च भवति ॥६३॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनो ऽ नवस्थितात्मा वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६४॥
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मंदराघवनसंचयमित्रः।
किञ्चिदेव विलपत्यनिबद्ध मारुतप्रकृतिरेव मनुष्यः ॥६५॥
वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्त्तिता नराः ॥६६॥ ... सु. शा. ४ / ६३ - ६६

३) **वात प्रकृति (वाग्भट के अनुसार)**

प्रायोऽत ग्वं पवनाध्युषिता मनुष्या दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृति बुद्धिचेष्टा सौहार्ददृष्टिगतयो ऽ ति बहुप्रलापाः ॥८५॥

अल्पापित्तबलजीवित निद्राःसन्नसक्ताचलजर्जरवाचः।
नास्तिका बहुभूजः सविलासा गीतहासमृगयाकलिलोलाः ॥८६॥
मधुराम्लकटूष्णसात्म्यकाङ्क्षाः कृशदीर्घकृतयः सशद्वयाताः।
न दृढा न जितेंद्रिया न चार्या न च कान्तादयित बहुप्रजा वा ॥८७॥
नेत्राणि चैषां खरधूसराणिवृत्ताान्यचारुणि मृतोपमानि उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्तेशैलंद्रुमास्ते गगनंच यान्ति ॥८८॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोब्दद्धपिण्डिकाः।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखुकाकानुकाश्च वातिकाः ॥८९॥ ... अ.ह.शा. ३/८५-८९

पित्त प्रकृती

१) **पित्त प्रकृती (चरक के अनुसार)**

पित्त उष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्र अम्लं कटुकं च तस्य औष्ण्यात् पित्तला भवन्ति उष्णअसहा, उष्ण मुखाः सुकुमार अवदात गात्राः प्रभूत पिप्लुव्यंगतिलकालकाः क्षुत् पिपासावन्तः क्षिप्र वलीत - पलित - खालित्यदोषाः। प्रायो मदु अल्प कपिल श्मश्रु लोमकेशाःच, तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः तीक्ष्ण अग्नयः, प्रभूत अशनपानाः, क्लेशअसहिष्णवो - दन्दशूकाः, द्रवत्वात शिथिल मृदु सन्धिमासाः, प्रभूत सृष्ट - स्वेद - मूत्र पुरीषः च, विस्रत्वात पूतिकक्ष आस्य - शिरः शरीर गन्धाः, कटु अम्लत्वात अल्प शुक्र व्यवाय - आपत्याः, त एवं गुणयोगात पित्तला मध्यबला, मध्यायुषी, मध्यज्ञान, विज्ञान वित्तउपकरणवन्तः च भवन्ति। ... च.वि.८/९७

पित्त - उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र, अम्ल, कटु गुणों से युक्त होता है।

१) पित्त का **उष्ण गुण** होने के कारण इन व्यक्तियों को उष्ण वातावरण का संपर्क, उष्ण गुणयुक्त पदार्थ सहन नहीं होते। उनका मुख उष्ण होता है। वे सुकुमार तथा गौरवर्णी होते हैं। शरीर पर छोटे फोडे-फुलसियाँ (पिप्लु), व्यंग (तारुण्यपिटीका), तील और पिडिका (बडी फुलसियाँ) अधिक मात्रा में होती हैं। उन्हे क्षुधा-तृष्णा अधिक मात्रा में लगती है। शीघ्र (सम्यक् आयु से पहले) वलि (झिल्लियाँ) उत्पन्न होना, पलित (बाल सफेद होना), खालित्य (केश

झडना), आदी लक्षण दिखते हैं। प्रायः दाढी-मूँछ के केश, रोम, सिर के केश मृदु, अल्प तथा कपिल वर्णि होते हैं।

२) पित्त के **तीक्ष्ण गुण** के कारण ये व्यक्ति तीक्ष्ण, पराक्रम युक्त एवं तीक्ष्णाग्नि (उत्कृष्ट पचन शक्ति) होने वाले होते हैं। अधिक मात्रा में भोजन करने वाले, कष्ट सहन न होने वाले होते हैं, साथही बार-बार खाने वाले (दन्दशूक) होते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार दन्दशूक का अर्थ है - उपद्रवकारक, धूर्त।

३) पित्त का **द्रव गुण** होने के कारण इन व्यक्तियों के संधि, मांसपेशी शिथिल तथा कोमल होते हैं। स्वेद, मूत्र - पुरीष की मात्रा अत्यधिक (प्रभूत) होती है।

४) पित्त के **विस्र गुण** के कारण इन व्यक्तियों की कक्षी (बगल), मुख, शिर तथा शरीर से दुर्गंध आती है।

५,६) पित्त के **तिक्त तथा अम्ल गुण** के कारण पित्तप्रकृति व्यक्ति अल्प शुक्र, अल्प मैथुनशक्ती तथा अल्प अपत्य युक्त होते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त गुणों के संयोग के कारण पित्तप्रकृति व्यक्ति मध्यम बल, मध्यम आयु, मध्यम ज्ञान, धन तथा उपकरणयुक्त होते हैं।

२) **पित्त प्रकृती (सुश्रुत के अनुसार)**

स्वेदनो दुर्गंधः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयन तालु जिव्हौष्ठ पाणि पादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुग् उष्णद्वेषीक्षिप्रकोपप्रसादो मध्यम बलो मध्यायुश्च भवन्ति ।।६७ ।।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता, तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।

सुप्तः सन् कनक पलाश कणिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ।।६८।।

न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचि ।।

भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः स भवेदिव पित्तकृतप्रकृतिः ।।६९।।

भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।

व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैःपैत्तिकास्तु नरा स्मृताः ।।७०।। ... सु. शा. ४ / ६७ - ७०

३) **पित्त प्रकृति (वाग्भट के अनुसार)**

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात् पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।

गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः शूरोमानी पिङ्गकेशो ऽ ल्परोमा ।।९०।।

दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुरुचितः शुचिराश्रितवत्सलः।

विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि ।।९१।।

मेधावीप्रशिथिल सन्धिबन्धमांसोनारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।

आवासं पलितरङ्गनीलिकानाम् भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम् ।।९२।।

घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।

सुप्त : पश्येत्कर्णिकारान् पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च ।।९३।।

तनुनि पिङ्गानि चलानि च ऐषां। तन्वल्पपक्ष्माणि हिमाप्रियाणि।

क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा। रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ।।९४।।

मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ।।९५।। ... अ.हृ.शा. ३/९०-९५

कफ प्रकृति

१) **कफप्रकृति लक्षण (चरक के अनुसार)**

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्ण मृदु मधुरसारसान्द्र मन्द स्तिमित गुरु शीत विज्जलाच्छाः। तस्य स्नेहात श्लेष्मलाः स्निग्धांगाः श्लक्ष्णत्वात् श्लक्ष्णांङ्गाः मृदुत्वात् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्रा माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः सान्द्रत्वादुपचित परिपूर्ण सर्वगात्राः मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्याहाराः स्तैमित्यादशीघ्रारंभाल्पक्षोभविकाराः गुरुत्वात् सारधिष्ठितावस्थितगतयः शैत्यादल्पक्षुतृष्णासंताप स्वेददोषाः विज्जलत्वात्सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्न स्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवं गुणयोगात् श्लेष्मलाः बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः आयुष्मन्तश्च भवन्ति ।। ... च. वि. ८/९८

कफ स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरू, शीत, पिच्छिल तथा अच्छ होता है।

१) कफ के **स्निग्ध गुण** के कारण कफप्रकृति की व्यक्ति का शरीर स्निग्ध होता है।

२) **श्लक्ष्ण गुण** के शरीर श्लक्ष्ण होता है।

३) **मृदु गुण** के कारण दिखने में सुंदर, सुकुमार, नाजुक तथा गौरवर्णि होते हैं।

४) **मधुर गुण** के कारण कफप्रकृति व्यक्ति अधिक शुक्र युक्त, अधिक मैथुनसामर्थ्य युक्त तथा तथा अधिक अपत्य युक्त होते हैं।

५) **सार गुण** के कारण कठिन एवं मजबूत होते हैं।

६) **सांद्र गुण** के कारण सभी अवयव उपचित (पुष्ट - सुयोग्य प्रकार से पोषण) तथा परिपूर्ण (पूर्ण वर्धित) होते हैं।

७) कफ के **मन्द गुण** के कारण ये व्यक्ति मंद चेष्टा (मंद हलचल) तथा अल्प आहार-विहार करने वाले होते हैं।

८) कफ के **स्तैमित्य गुण** के कारण ये व्यक्ति किसी भी कार्य का प्रारंभ धीमी गति से करते हैं। साथही मानसिक क्षोभ तथा व्याधि निर्मिति भी धीमी गति से होती है।

९) कफ के **गुरु गुण** के कारण ये व्यक्ति सारयुक्त होते हैं, हलचलें दृढ (स्थिर तथा खंबीरता पूर्वक) निश्चित स्वरुपात्मक होती हैं।

१०) कफ के **शीत गुण** के कारण इन व्यक्तियों को क्षुधा-तृष्णा कम मात्रा में लगती है, संताप (शरीर तापमान बढना अथवा मानसिक क्षोभ), स्वेद तथा दोष भी कम मात्रा में होते हैं।

११) कफ के **पिच्छिल गुण** के कारण इन व्यक्तियों की संधियाँ सुयोग्य प्रकार से बद्ध तथा मजबूत होती हैं।

१२) साथही **अच्छ गुण** के कारण दृष्टी, मुख प्रसन्न तथा स्निग्ध होते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त गुणों के कारण ये व्यक्ति बलवान, धनवान, विद्यावान, ओजस्वी (तेजःपुंज), शांत एवं दीर्घायुषी होते हैं।

२) **कफप्रकृति के लक्षण (सुश्रुत के अनुसार)**

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवर निस्त्रिंशांर्द्रारिष्टक शर काण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शना मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान सहिष्णुरलोलुपा बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवन्ति ।।७१।।

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनील केशो लक्ष्मीवाञ् जलदमृदंग सिंहघोषः।

सुप्तःसन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदापि च जलाशयान मनोज्ञान् ।।७२।।

रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छवि सत्वगुणोपपन्नः।

क्लेशक्षमो सामयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ।।७३।।

दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।

परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरूमानकरश्च भवेत स सदा ।।७४।।

ब्रम्हरुद्रेन्द्रवरूणै सिंहाश्वगजगोवृषैः।

तार्क्ष्य - हंस - समानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ।।७५।। ... सु.शा.४ /७१ - ७५

३) **कफ प्रकृति के लक्षण (वाग्भट के अनुसार)**

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो गूढस्निग्धश्लिष्टसन्ध्यास्थमांसः।

क्षुतृड्दुःखक्लेशघर्मेरतप्तो बुध्द्यायुक्तः सात्विकः सत्यसङ्घः ।।९६।।

प्रियंगुदूर्वाशरकाण्डशस्त्र गोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।

प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा महाललाटो घननीलकेशः ।।९७।।

मृद्वङ्गः समसुविभक्त चारुवर्ष्मा बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः।

धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ।।९८।।

समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो, जलदाम्भोधिमृदङ्ग सिंहघोषः।

स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनोऽतिलोलः ।।९९।।

तिक्तं कषायं कटुकोष्णरुक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि।

रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घ - सुव्यक्तशुक्लसितपक्ष्मलाक्षः ।।१००।।

अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेर्ष्यः। प्रज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।

श्राद्धो गंम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावान् आर्यो निद्रालुदीर्घसूत्रः कृतज्ञः ।।१०१।।

ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सलज्जो भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च।

स्वप्ने सपद्मांस्सविहंगमालां स्तोयाशयान्पश्यति तोयदांश्च ।।१०२।।

ब्रम्हरुद्रेन्द्रवरूणतार्क्ष्य हंसगजाधिपैः।

श्लेष्म प्रकृतयस्तुल्यास्तथासिंहाश्वगोवृषैः ।।१०३।। ...अ.ह.शा.३/९६-१०३

भौतिक प्रकृति

प्रकृतिमिह नराणां भोतिकी केचिदाहुः पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च श्रमावान शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥

... सु. शा. ४ / ७६

सुश्रुत ने दोषप्रकृति के साथही भौतिक प्रकृति का भी वर्णन किया है। आकाश, वायु, तेज,जल तथा पृथ्वी इन पाँच पंचमहाभूतों के आधिक्य से बनने वाली प्रत्येकी एक इस प्रकार पाँच प्रकार की भौतिक प्रकृतियों का वर्णन सुश्रुत ने किया है, जैसे -

१) **वायवीय प्रकृति** – वात प्रकृति के लक्षणों से इस प्रकृति का साधर्म्य है।

२) **तैजस प्रकृति** – पित्त प्रकृति के लक्षणों से इस प्रकृति का साधर्म्य है।

३) **जलीय प्रकृति** – कफ प्रकृति के लक्षणों से इस प्रकृति का साधर्म्य है।

४) **नाभस प्रकृति** – इस प्रकृति के पुरुष में नांसा, कर्ण आदि के छिद्र बृहत होते हैं। वे स्वच्छता प्रेमी होते होते हैं साथही दीर्घायु होते हैं।

५) **पार्थिव प्रकृति** – इस प्रकृति के व्यक्ति स्थिर, हृष्ट-पुष्ट शरीरयुक्त तथा क्षमावान होते हैं।

मानस प्रकृती

स्वास्थ्य रक्षण तथा व्याधिपरिमोक्षण इन दोनों उद्दिष्टों की पूर्ति के लिए आयुर्वेद ने त्रिदोष, पंचमहाभूत इन घटकों के साथही मन, आत्मा इन सूक्ष्म घटकों के अध्ययन को भी तुलनात्मक दृष्टी से समान महत्त्व दिया है। वैद्य को वात, पित्त, कफ इन त्रिदोषों के साथही सत्व, रज, तम इन त्रिगुणों का विचार अवश्य करना पडता है। अतः दोषज प्रकृति के समान ही मानस प्रकृति का विनिश्चय, वैद्य को अधिक यश प्राप्त कराता है। प्रत्येक व्यक्ति में सत्व, रज, तम ये तीनों गुण होते हैं, तथापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय के अनुसार जिस घटक का आधिक्य, उसके अनुसार सात्विक, राजस, तामस प्रकृति इस प्रकार नामभिधान किया जाता है।

पर्यायी नाम

गुणमयी प्रकृति, महाप्रकृति, चित्तप्रकृति, मानस, काय प्रकृति इन सभी शब्दों से एकही अर्थ अभिप्रेत होता है।

मानस प्रकृति के प्रकार

सात्विक, राजस, तामस ये तीन मुख्य प्रकार होते हैं।

किन्तु नागार्जुन इस आयुर्वेद तज्ञ ने दोष प्रकृति के समान गुणप्रकृति भी सात प्रकार की होती है, ऐसा वर्णन किया है। एकदोषज ३, द्विदोषज ३ तथा सन्निपातिक १।

मानस प्रकृति का लाभ

मानस प्रकृति के कारण एक प्रकार से मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होने से सलाह देना आसान हो जाता है।

मानस प्रकृति के लक्षण

सात्विक, राजस, तामस इनसे उत्पन्न होने वाले मनोगुणों का वर्णन किया है। वही प्रकृति के लक्षण समझे जा सकते हैं। सत्वादि गुणों के अधिक्य से उत्पन्न होने वाले मनःस्वभाव के लक्षण निम्न प्रकार से हैं।

सात्विक स्वभाव

१) आनृशंस्य (क्रूरता का अभाव)

२) सर्वांगरुचिता (कोई भी वस्तु सभी के साथ समानता से बाँटने की प्रवृत्ति)

३) तितिक्षा (क्षमाशील वृत्ती)

४) सत्य (सच्चाई)

५) आस्तिक्य - धर्म, कर्तव्य आदि पर श्रद्धा.

६) धर्म - धृ = धारण करना, बने रहना (व्यक्ति, समाज बने रहने की दृष्टी से नियम, कर्तव्य। उदा.- काया, वाचा एवं मन से शुद्धता)

७) ज्ञान - (विज्ञान एवं आत्मज्ञान)

८) बुद्धी - (निश्चयात्मिका बुद्धी - योग्यायोग्यता का निश्चय करने की क्षमता। ज्ञान का माध्यम)

९) मेधा - ग्रंथावधारणशक्ती।

१०) धैर्य - मन का नियंत्रण करने की क्षमता।

११) अनभिषंग - (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन - फलनिरपेक्ष बुद्धि से कर्म करना)

राजस स्वभाव

१) दुःख बहुलता

२) अटनशीलता (नित्य घूमते रहना)

३) अधृति - संयम का अभाव, उतावलापन।

४) अहंकार - गर्व

५) आनृतिकत्व - असत्य वचन की वृत्ति।

६) अकारुण्य - निर्दयता।

७) दंभ - ढोंगीपन।

८) मान - केवल अपना ही उत्कर्ष होना चाहिये यह वृत्ती।

९) हर्ष - आनंद।

१०) काम - विषय वासना।

११) क्रोध - संताप।

तामस स्वभाव

१) विषादित्व - मूढता।

२) नास्तिक्य।

३) अधर्मशीलता।

४) बुद्धीनिरोध - दुष्ट बुद्धी अथवा बुद्धि का उपयोग न करना।

५) अज्ञान।

६) दूर्मेधसत्व - ग्रंथधारण शक्ति का अभाव।

७) अकर्मशीलता - कुछ भी काम न करने की वृत्ती (आलस)।

८) निद्रालुत्व।

विशेष टिप्पणी

राजस एवं तामस स्वभाव में प्रज्ञापराध होकर मानसिक रोग निर्माण होने की संभावना अधिक होती है।

मानस प्रकृति के उपप्रकार

चरक एवं सुश्रुत ने क्रमशः सत्व तथा काय इन शब्दों से सत्वादि प्रकृति के निम्न उपप्रकार बताएं हैं - सात्विक, राजस, तामस

सात्विक प्रकृति

१) ब्रह्म २) ऐंद्र ३) वरुण

४) कौबेर ५) गान्धर्व ६) याम्य ७) ऋषी

राजस प्रकृति

१) आसुर २) राक्षस ३) पैशाच

४) प्रेत ५) सर्प ६) शाकून

तामस प्रकृती

१) पाशव २) मात्स्य ३) वानस्पत्य

जात्यादि सप्त प्रकृति प्रकार

मनुष्य का स्वविशिष्ट अर्थात प्रकृति निश्चित होने के दौरान परिस्थिती के अनुरुप कुछ घटकों का विचार करना पडता है। इस दृष्टीकोण से चरकाचार्य तथा अष्टांग संग्रहकार ने जात्यादि सप्त प्रकृति का वर्णन किया है।

१) जातिनियत प्रकृति

किस जाति में जन्म हुआ इससे व्यक्ति की विशेषताएँ निश्चित होती हैं। उदा.- ब्राह्मण जाति मूलतः ही मधुर आहार में रुची रखने वाली होती है। शास्त्रनिपुण एवं अहिंसक होती है। सद्य काल की दृष्टी से जातीनियत प्रकृति के साथही **संस्कार नियत प्रकृती** यह नवीन स्वरुप का वास्तवदर्शी, कालानुरुप विचार करना अपरिहार्य प्रतीत होता है।

२) कुलनियत प्रकृति

किस कुल में जन्म हुआ इससे व्यक्ति की विशेषताएँ निश्चित होती हैं। अर्वाचीन शास्त्र में उल्लेखित अनुवंशिकता (Heredity) अथवा गुणसूत्रों का विचार (Chromosomal Study) इस विषय से पूरक लगता है।

३) देशनियत प्रकृति

किस देश (प्रदेश) में जन्म हुआ उसके अनुसार प्रकृति विशेषता का विचार। उदा.- पंजाबी मनुष्य तुलना में शौर्यवान और केरली मनुष्य बुद्धिमान, विचारपूर्वक कार्य करने वाले आदि।

४) कालनियत प्रकृति

किस काल में जन्म हुआ ? शीत काल में जन्मे व्यक्ति में उष्ण काल में जन्मे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बल दिखाई देता है।

५) वय नियत प्रकृति

बाल, युवा, वृद्ध इन आयु के प्रत्येक स्तर में कुछ ना कुछ विशेषता होती है। उदा.- बाल आयु में कफ आधिक्य के कारण वृद्धी की प्रवृत्ती, वृद्धावस्था में वात आधिक्य के कारण क्षीणता के लक्षण निर्माण होते हैं। (उदा.- दाँत टूटना, केश शातन)

६) बलनियत प्रकृति

गर्भावस्था में गर्भ का पोषण किस प्रकार होता है, इस पर बल निर्भर होता है। बल की अल्प-अधिकता पर व्यक्ति विशेषता में बदलाव दिखाई देता है।

७) प्रत्यात्मनियत प्रकृति

प्रति + आत्म = प्रत्याम।

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार जो भिन्नता दिखाई देती है उसका उत्तर है प्रत्यात्मनियत प्रकृति।

सारांश, वैद्य को प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भिन्न दृष्टीकोण रखकर प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना पडता है और उसके अनुसार आरोग्य सलाह दी जा सकती है।

आरोग्य सलाह मूलभूत तत्व

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिये कि वह अपने दोषजप्रकृति के विरुद्ध गुणों का आहार-विहार सेवन करें।

विपरित गुणाः तेषां (दोषाणां) स्वस्थवृत्ते विधिहितः।

समसर्वरसे सात्म्यं समधातो प्रशस्यते। **... च. सू. ७ /४१**

प्रकृति अनुकत्व

सुश्रुत मतानुसार

१) वात प्रकृति

	अनुकत्त्व		लक्षण
१	अजानूक	(बकरी)	कृश शरीर, अल्पबल तथा पेटी, घुमक्कड प्रवृति।
२	गोमायु	(लोमडी)	धुसर वर्ण, चलदृष्टी, कृतघ्न, क्राथी, चलदृष्टी।
३	शश	(खरगोश)	चल दृष्टी, अनवस्थित चित्त, भिरु, अल्पतनु, बहुभूक।
४	आखु	(चहा)	तनु, अल्पदेहयुक्त, भीरु, धुसर केश, स्तेन प्रवृत्ति।
५	उष्ट्र	(ऊँट)	दीर्घाकृती, रुक्ष स्वर, बेढब शरीर।
६	श्वा	(कुत्ता)	अल्प शरीर, कलह प्रिय, हिंसक प्रवृत्ति।
७	गृध	(गिद्ध)	कुरुप, दुष्ट स्वभाव, नीच वृत्ती, मृगयाशीलता।
८	काक	(कौआ)	कृष्ण वर्ण, कुरुप, रुक्ष स्वर, कलहप्रिय, नीच वृत्ती, धूर्त।
९	खर	(गधा)	रुक्ष स्वर, धूसर केश एवं गात्र, खर स्वर, भारवाहक, निर्बुद्ध, दुर्भग।

२) पित्त प्रकृति

	अनुकत्त्व		लक्षण
१	गन्धर्व		गंधमाल्यप्रियत्व, नृत्यवादनेच्छा, विहार शीलता।
२	यक्ष		गंधमाल्यप्रियत्व, नृत्यवादनेच्छा, विहार शीलता।
३	व्याघ्र	(बाघ)	पराक्रमी, पीतांग, अभिमानी,साहसअन्विता, बलवान।
४	ऋक्ष	(भालू)	पराक्रमी, रक्तनेत्र, शीतप्रियता, तेजस्वी।
५	मार्जार	(बिल्ली)	सुकुमार, कपिल वर्णि नेत्र, उष्ण असहिष्णु, मध्य शरीर।
६	वानर	(बंदर)	बुद्धिमान, कपिल वर्णि केश, चपल गति, मध्यशरीर।
७	नकुल	(नेंवला)	पराक्रमी, शूर, रक्तनेत्र, आक्रमकप्रवृत्ति, साहस।

८	भुजंग (सर्प)	पीत/ताम्र वर्ण, सुकुमार शरीर, मृदु तेजस्वी, क्रोधी, आक्रमक प्रवृत्ति।
९	उलूक (उल्लु)	ताम्रमुख, ताम्रलोचन, उष्णद्वेषी, उग्र स्वभावी, रविभिता, बुद्धिमान।

३) कफप्रकृति

	अनुकत्त्व	लक्षण
१	ब्रह्म	ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिभासंपन्न, शुचिता आस्तिक, गुरुपूजन, वेदाभ्यास, जीतात्मा, सर्वभूतों में समत्व।
२	रुद्र	गंभीरघोष, बलवान।
३	इंद्र	ऐश्वर्यवान, ओजस्वी, दीर्घदर्शी, शूर।
४	वरुण	शीतसेवा, असहिष्णू, प्रियवादी।
५	सिंह	गंभीर स्वर, विशाल वक्ष, बलवान, वैभवयुक्त, उदार मानी।
६	अश्व	बलवान, चारुगात्रता, स्वामीभक्त, कृतज्ञ।
७	गज	महाशरीर, महाललाट, स्थिर गति, दृढवैरी, क्षुद्र की उपेक्षा करने वाला, कृतज्ञ।
८	गोवृष	पुष्ट, चारुगात्र, बलवान, क्लेशसह।
९	तार्क्ष्ण (गरुड)	बलवान, स्वामीभक्त।
१०	हंस	गौरवर्ण, चारुगात्र, डौलदार गति।

१) ''प्रकृती परीक्षण के द्वारा आरोग्य सलाह'' यह विषय देश-विदेश में बहुचर्चित एवं महत्त्वपूर्ण है। अपितु विस्तार भय के कारण इस विषय का अधिक विवेचन यहां करना संभव नहीं।

२) द्वंद्वज प्रकृति के लिए सलाह

द्वंद्वज प्रकृति को सलाह देने के लिये संबंधित दो उत्कट दोषों में उपस्थित समायिक गुणवैशिष्ट्य समझकर सामान्य विशेष सिद्धांत का उपयोग करें। उदा.

अ) **वात – पित्त अथवा पित्त वात** प्रकृति होने पर - वात तथा पित्त दोनों दोष लघु गुण के हैं। अतः वात-पित्त व्यक्ति शरीर में अधिक लाघव, दौर्बल्य उत्पन्न न हो इस दृष्टी से प्रयत्न करें। अत्यधिक शारीरिक, मानसिक श्रम न करें, रात्र में अधिक न जागें, अति तिक्त, कषाय पदार्थ सेवन न करें, उपवास न करें।

इसके विपरीत गुरु गुण युक्त, पौष्टिक आहार ग्रहण करना चाहिये। योग्य मात्रा में निद्रा, विश्राम लेना चाहिये। शतावरी कल्प १-१ चम्मच २ बार अथवा Tab Shatavari २ गोलियां दूध के साथ लें।

ब) **वात–कफ अथवा कफ–वात** प्रकृति होने पर - वात, कफ दोनों में भी 'शीत गुण' समायिक है।

अतः इस प्रकृति के व्यक्ति शीत पदार्थ तथा शीत वातावरण से दूर रहने का प्रयत्न करें, Cold drinks, A.C. टालें। अश्वगंधा चूर्ण वटी २-२ गोलियाँ, २ बार कोष्ण जल के साथ लें।

क) **पित्त–कफ अथवा कफ–पित्त** प्रकृति होने पर - कफ, पित्त दोनों में भी ''स्निग्ध गुण'' समायिक है।

अतः इस प्रकृति के व्यक्ति अति तैलयुक्त, तले हुए पदार्थ वर्ज्य करें। अम्ल, नमकीन रुचि के पदार्थ इस प्रकृति के लिए अपथ्य और कडवे पदार्थ पथ्य।

रसायन स्वरुप में पित्त-कफ प्रकृति व्यक्ति ''गुडुची घन वटी'' २-२ गोलियाँ २ बार लें।

३) दोषज प्रकृती एवं सात्विक, राजस, तामसिकता

Doshic Constitution & Mental state

Vata Constitution

- In **Sattvic** state they are always energetic, flexible and good in communication. They possess true enthusiasm & capacity for positive change.

- In **Rajasic** state they become hyperactive, restless & disturbed, they become overly talkative & exhibit false enthusiasm. They become nervous & anxious.
- In **Tamasic** state they become secretive, dishonest & prone to sexual perversions. They disturbed mentally & become drug addict, fearful. They become self-destructive & prone to suicidal tendencies.

Pitta Constitution

- In **Sattvic** state they are intelligent, enlightened, courageous, having good will. So they can good guide and leader.
- In **Rajasic** state they become more ambitious, dominating, aggressive, angry and egoistic. Then they start manipulating to satisfy their extra ambitions and unending desires.
- In **Tamasic** state they become destructive. Then they can become criminal, drug dealer or under world don (by using their brain or intelligence in a negative manner).

Kapha Constitution

- In **Sattvic** state they are calm, peaceful, centent, stable, loving, supportive personality. They are forgiving & compassionate. They are like spiritual teachers, saints or philosophers.
- In **Rajasic** state they become more greedy, sentimental and materialistic. They are always seeking for comfort & luxury.
- In **Tamsic** state they become dull, lethargic and slow in comprehension. Then they become insensitive and also thief.

प्रकरण १५

आहार

शरीर, इंद्रिय, सत्व, आत्मा इन आभ्यंतर प्राणों के पोषण, संरक्षण के लिए बाह्य सृष्टी में उपस्थित अन्न, जल, वायु इन बाह्यप्राणों की आवश्यकता होती है। जन्म के उपरान्त शरीर का नित्य क्षरण होता रहता है।

शीर्यते तत् शरीरम्।

इस क्षरण की आपूर्ति के लिए अथवा नष्ट हुए शरीर घटकों की पुनःनिर्मिती करने के लिए आहार की आवश्यकता होती है। आहार (अन्न) का प्राणरक्षणात्मक तथा देह धारणात्मक स्वरुप उपनिषद में भी वर्णित है।

प्राणो वा अन्नम। शरीरं अन्नादम्॥ प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। ... तैत्तिरीय

साथही मनुष्य की उत्पत्ती अन्न से ही होती है, इस प्रकार का उल्लेख कुछ ग्रंथों में मिलता है।

आकाशात वायुः वायोस्तेजः तेजसः उदकम् उदकात्

पृथिवी, पृथव्या औषधयः, औषधिभ्यो अन्नम्, अन्नात् पुरुषः॥ ...तै.उ.२/१

शरीर घटकों की संधान परंपरा अनवरत चलते रहने की दृष्टी से शरीर को नित्य स्वरूप में अन्न की आवश्यकता होती है। आहार का परिणाम मन पर भी होता है। सात्विक, राजस अथवा तामस इनमें से जिस प्रकार का आहार लिया जाता है, उसी प्रकार से मन बनता है।

बल, वर्ण, इंद्रिय प्रसन्नता ये गुण आहार पर निर्भर होते हैं। अतः हितकर एवं अहितकर आहार का ज्ञान प्राप्त कर उनका सेवन करना आवश्यक होता है। इसी लिए जो खाने की दृष्टी से योग्य (खाद्य) है, ऐसे आहार्य द्रव्य को ही 'आहार' कहा जाता है।

आहारत्वमाहारस्येकविधमर्थ्यं। ... च. सू. २७ / ३

आहार्यते इति आहारः। अन्नपानादिद्रव्यम्।

आहार (अन्न) का कार्य - अन्नप्रशस्ति अथवा अन्नमहत्त्व

प्राणाः प्राणभृतानामन्नं अन्नं लोकऽभिधावति।

वर्णप्रसादः सौस्वर्य जीवितं प्रतिभा सुखम्।

तुष्टीः पुष्टीर्बलम् मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्॥ ... च. सू. २७ / ३५५- ३५६

अन्न समस्त प्राणिमात्रों का प्राण है। इसी लिए आहार ग्रहण यह प्रत्येक प्राणि की स्वाभाविक प्रवृत्ती होती है। आहार ग्रहण से ही सभीं शरीर घटकों की सुयोग्य वृद्धी होकर पुष्टी, बल प्राप्त होते है। शरीर तथा मन के सभी कार्य सम्यक् प्रकार से होते हैं। संक्षेपतः सभी शारीर क्रिया व्यापार (वर्णप्रसाद, सौस्वर्य, प्रतिभा आदि) प्राकृत रहकर सुखकर आयु की प्राप्ति होती है।

आहार द्रव्य - वर्गीकरण

हितकर, अहितकर आहार का निर्णय करने की दृष्टी से आहार द्रव्यों के विविध प्रकारों का मूलभूत ज्ञान आवश्यक है।

आहार द्रव्यों का विविध दृष्टीकोण से वर्गीकरण किया जा सकता है, जैसे -

१) **उत्पत्ति भेद से** - जांगम (दूध, घृत, मांस, अंडा), औद्भिद (वनस्पतिजन्य), पार्थिव (सैंधव)।

२) **स्वरुप भेद से** - सेंद्रिय (जांगम, औद्भिद), निरिंद्रिय (पार्थिव)।

३) **शरीर परिणाम स्वरुप** - हितकर, अहितकर।

४) **शरीर परिणाम स्वरुप** - शमन, कोपन, स्वस्थहित।

टिप्पणि - निम्न स्वस्थहित द्रव्यों का आहार में नित्य समावेश करना चाहिये, ऐसी वाग्भटाचार्य की सलाह है।

शीलयेच्छालिगोधूम यवषष्टिक जांगलम्।

पथ्यामलकमृद्वीकापटोलीमुग्दशर्कराः।

घृतदिव्योदकक्षीर क्षौद्रदाडिम सैंधवम्।

त्रिफला मधुसर्पिभ्यां निशिनेत्रबलाय च॥ ... वा.सू.

४) **गुणभेद के अनुसार बीस प्रकार** - गुरु-मंद-हिम-स्निग्ध आदि। विंशति गुणों का संदर्भ देखें। आहार के गुण का ज्ञान प्राप्त करने का महत्त्व वर्णन करते हुए निम्न संदर्भ उपयुक्त है।

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुण

भूयिष्ठैर्वाप्याहारविहारैभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति ऱ्हासं तु विपरीतगुणैर्विपरीत

गुणभूमिष्ठैर्वाप्यभ्यस्यमानैः॥ ... च.शा. ६/९

संक्षेपतः, रक्त में कमी आने पर प्रत्यक्ष समान गुणी रक्त बाह्यतः देना (Blood Transfusion) अथवा मांस, मेद में कमी आने पर गेहूँ, उडद आदि स्निग्ध, गुरु गुणी द्रव्य युक्त आहार लेना अथवा शुक्रक्षय में दुग्ध, घृत जैसे मधुर-स्निग्ध द्रव्यों का उपयोग करना।

५) **आहार द्रव्यों का रुचि के अनुसार वर्गीकरण (रसभेद से)**

आहार - मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय इनमें से किसी रुचि का होता है। स्वास्थ्यरक्षण की दृष्टी से नित्य छह रसों का समावेष होने वाला परिपूर्ण, संतुलित भोजन ग्रहण करें। अर्वाचीन विज्ञान में वर्णित 'इतने प्रोटिन्स, उतने कार्बोहाड्रेट आदि सेवन करें' इस सलाह की अपेक्षा "नित्य सर्वरसाभ्यासः' अथवा 'विशिष्ट अवस्था में विशिष्ट रुचि के पदार्थ अधिक खाना' यह सलाह रुग्ण तथा वैद्य - दोनों की दृष्टी से व्यावहारिक है।

नित्यं सर्वरसाभ्यासाः॥ ... वा.सू. ३/५२

जिव्हालौल्य अथवा अन्य कुछ कारणवश कुछ विशिष्ट रुचि का ही आहार लेने से उसके दुष्परिणाम शरीर में दोषवृद्धी अथवा दोषक्षय इस स्वरुप में दिखाई देते हैं।

नित्य आहार द्रव्यों का विचार करने पर - गेहूँ, चावल, दुग्ध, शर्करा, गुड ये द्रव्य मधुर रुचि के और नींबू, कोकम, इमली अम्ल रुचि के, लवण रस का नमक, सभीं मसालों के पदार्थ (हरी, लाल मिर्च, मसाला - दालचिनी, तेजपत्र, अद्रक, लहसून) कटु रुचि के, बहुतांश सभीं दालें तिक्त रस की और हरी सब्जीयां, तक्र आदि घटक कषाय रस के होते हैं।

षड्रसात्मक आहार

रसाः स्वाद्वम्ल लवणतिक्तोषण कषायकाः ।

षड्द्रव्यमाश्रितास्तेतु यथापूर्वं बलावहाः ॥

तत्रादयाः मारुतं घ्वन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम् ।

कषायतिक्तमधुराः पित्तम्, अन्येतु कुर्वते ॥ ... अ.सं.सू.१/१४-१५

द्रव्य के मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय इन छह रसों से युक्त आहार यही षड्रसात्मक आहार है । नित्य षड्रस युक्त आहार ग्रहण करें ।

इन सभीं रसों का साम्य होना आवश्यक है । मधुर रस की आहार में अधिक मात्रा प्रशस्त है, क्यौं कि उसमें सप्तधातुओं की वृद्धि करने का सामर्थ्य होता है । अम्ल रस के कारण रुचि निर्माण होती है, मन-इंद्रियों के सामर्थ्य में वृद्धि होती है । लवण रस अन्न की रुचि वर्धित करता है, साथही पाचक भी है । इस प्रकार मधुर रस सर्वाधिक बलदायक और क्रमशः अगले पाँच रस कम बलदायक होते हैं । तिक्त रस सर्वाधिक बलहानिकारक होता है ।

दोष	वृद्धिकारक रस	शामक रस
वात	कटु, तिक्त, कषाय	मधुर, अम्ल, लवण
पित	अम्ल, लवण, कटु,	तिक्त, कषाय, मधुर
कफ	मधुर, अम्ल, लवण	कटु, तिक्त, कषाय

आहार वर्गीकरण १ - रसानुसार

मधुर रस

१) **मधुर रस परीक्षण**

तेषां स्वादुः आस्वाद्यमानः मुखं उपलिंपति, इन्द्रियाणि प्रसादयति, देहं प्रल्हादयति षट्पद पिपीलिकानां इष्टतमः ॥

२) **मधुररस - गुण, उपयोग**

तत्र मधुरः रसः जन्म प्रभृति सात्म्यात्, सर्वधातु-विवर्धनः आयुष्यःबाल वृद्धक्षत - क्षीण - बल - वर्ण इन्द्रिय - त्वक् कंठकेश हितः, प्रीणनः बृहंणः जीवनः तर्पणः स्थैर्य - संधान - स्तन्य करः, वात -पित्त - विष - मूर्च्छा - तृष्णा - प्रशमन, स्निग्ध शीतः मृदु गुरु च ।

३) **मधुर रस अतियोग**

एवं गुणः अपि सः सदा अति - उपयुज्यमानः स्थौल्य - अग्निसाद - गुरुता - अलसक - अतिनिद्राः श्वास - प्रमेह - गलरोग - विसंज्ञता - आस्यमाधुर्य लोचनगद - अर्बुद - गंडमालाः, छर्दि - उदर्द - मूर्धरुक् - कास पीनस क्रिमीन् श्लीपद ज्वर उदर ष्ठीवनानि च आवहेत् ॥

अम्ल रस

१) **अम्ल रस परीक्षण**

अम्लः तु जिव्हां उद्वेजयति, उरः कंठं विदहति, मुखं ।

स्रावयति, अक्षिभ्रुवं संकोचयति, दर्शनात् हर्षयति रोमाणि च ॥

२) **अम्लरस - गुण, उपयोग**

अम्लः अनिल - निबर्हणः अनुलोमनः कोष्ठ - विदाही रक्त पित्त - कृत् उष्णवीर्यः शीतस्पर्शः बोधयति इन्द्रियाणि, रोचनः पाचनः दीपनः बृंहणः तर्पणः प्रीणनः क्लेदनः व्यवायी लघुः स्निग्ध हृद्यः च ।

३) **अम्लरस अतियोग**

जनयति शिथिलंत्वं सेवितः सः अति देहे कफविलयन - कण्डू - पाण्डुता- रुक् - विघातान् ।

क्षत - विहित - विसर्प रक्तपित्तं पिपासां श्वयथुं अपि कृशानां तैतसत्वात् भ्रमं च ॥

लवण रस

१) लवण रस परीक्षण

लवणः मुखं विष्यंदयति, कंठ कपोल विदहति, अन्नं प्ररोचयति ।।

२) लवण रस – गुण, उपयोग

लवणः स्तंभ – बंध – संघात विध्मापनः सर्व – रस – प्रत्यनीकः दीपनः रोचनः पाचनः क्लेदनः शोषणः स्नेहनः स्वेदनः भेदनः छेदनः सरः व्यवायी विकाशी, हरति पवनं, विश्यदयति कफं, विशोधयति स्त्रोतांसि, न अति- गुरुः स्निग्ध - तीक्ष्ण उष्णः च ।।

३) लवण रस अतियोग

खलति – पलित – तृष्णा – ताप – मूर्च्छा विसर्प श्वयथु – किटिभ – कोठ – आक्षेप – रोध – अस्रपित्तम् ।। क्षत – विष – मद – वृद्धिं वातरक्तं करोति क्षपयति बलं ओजं: सः अति वा सेवनेन ।।

कटु रस

१) कटु रस परीक्षण

कटुकः भृशं उद्वेजयति, जिव्हाअग्रं चिमचिमायति, कंठ- कपोलं स्त्रावयति, मुख अक्षिनासिकं, विदहति देहम् ।।

२) कटुरस – गुण, उपयोग

कटुकः अलसक – श्वयथु- उदर्द -स्थौल्यं – अभिष्यंद – क्रिमिवक्त्ररोग- विष – कुष्ठ – कण्डू- पशमनः व्रण – अवसादनः, स्नेह – क्लेदशोषणः, रोचनः पाचनः दीपनः लेखनः शोधनः, शोषयति अन्नं, स्फुटयति इन्द्रियाणि, भिनत्ति शोणित – संघातं, छिनत्ति बंधन् विवृणोति स्त्रोतांसि, क्षपयति श्लेष्माणं, लघु – रुक्ष – तीक्ष्ण – उष्णः च ।।

३) कटु रस अतियोग

कुरुते अति – निषेवितः सः तृष्णा – मद – मूर्च्छा – दव – मोह – देहसादान् । बल – शुक्र – गल – उपशोष – कम्प – भ्रम – ताप-ग्लपन-अतिकर्शनानि ।। कर- चरण – पार्श्व – पृष्ठ -प्रभृतिषु अनिलस्य कोपं अतितीव्रम् ।

संकोच – तोद – भेदैः वायु – अग्नि – गुण अधिकत्वेन ।।

तिक्त रस

१) तिक्त रस परीक्षण

तिक्तः विशदयति वदनं, विशोधयति कंठ, प्रतिहन्ति रसनम् ।।

२) तिक्तरस – गुण, उपयोग

तिक्तः स्वयं अरोचिष्णुः अरुचि – विष – क्रिमि मूर्च्छा – उत्क्लेद – ज्वर – दाह – तृट् – कुष्ठ – कण्डू – हरः, क्लेद – मेदः – वसा – मज्ज – विट् – मूत्र – पित्त – श्लेष्म – उपशोषणः, दीपनः पाचनः लेखनः स्तन्य – कंठ – शोधनः, मेध्यः न अतिरुक्षः शीतः लघुः च ।।

३) तिक्त रस अतियोग

धतु – बल – क्षय मूर्च्छा – ग्लानि –भ्रम – वातरोग – परुषत्वम् ।

खर – विशद – रौक्ष्य – भावैः सः अति – सं –आ – सेवितः कुर्यात् ।।

कषाय रस

१) कषाय रस परीक्षण

कषायः तु जडयति जिव्हां, बध्नाति कंठं, पीडयति हृदयम् ।।

२) कषायरस – गुण, उपयोग

कषायः बलासं स – पित्तं स – तिक्त निहन्ति आशु बध्नाति वर्च अतिरुक्षः ।

गुरुः त्वक् – स- वर्णत्वकृत् क्लेद –शोषी हिमः प्रीणनः रोपणः लेखनः च ।।

३) कषाय रस अतियोग

अति – अभ्यासात् सः अपि शुक्र- उपरोधं, तृष्णा – आध्मान – स्तंभ – विष्टंभ – कार्श्यम् । स्त्रोतो – बंधं, वात – विट् मूत्र – संग, पक्षाघात – आक्षेपक – आदीन् च कुर्यात् ।।

	रस	महाभूत	ऋतु (वनस्पति में अधिक्य)
१	मधुर रस	पृथ्वी + जल	हेमंत
२	अम्ल रस	पृथ्वी + तेज	वर्षा
३	लवण रस	तेज + जल	शरद
४	कटु रस	तेज + वायु	ग्रीष्म
५	तिक्त रस	आकाश + वायु	शिशिर
६	कषाय रस	पृथ्वी + वायु	वसंत

आहार वर्गीकरण २ - पांचभौतिक

पांचभौतिक आहार

- **पंचभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः ।**
  विपक्वः पञ्चधा सम्यगुणान् स्वान् अभिवर्धयेत् ।। ... सु. सू. ४६
- **सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकं अस्मिन् अर्थे ।**

मनुष्य देह पांचभौतिक होने के कारण उसके लिए आवश्यक आहार भी पांचभौतिक ही होना प्रशस्त है। अग्नि इस आहार पर क्रिया कर पंचमहाभूतों के गुणों की वृद्धि करता है। सभी द्रव्य पंचमहाभूतों के समुदाय से बनते हैं, किन्तु जिस द्रव्य में जिस महाभूत का अधिक्य होता है, उसके अनुसार वह उस महाभूत का द्रव्य माना जाता है।

तैत्तिरियोपनिषद में पुरुष की उत्पत्ति किस प्रकार होती है इसका विवेचन किया गया है। प्रथमतः आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधी अर्थात् वनस्पति उत्पन्न होती है। इस वनस्पति का अन्न-स्वरूप उपयोग कर पुरुष की निर्मिति होती है।

आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः, तेजसः उदकम् उदकात् पृथिवि, पृथिव्या ओषधया, ओषाधिभ्योअन्नम्, अन्नात् पुरुषः । ... तैत्तिरियोधनिषद २ / १

१) **पार्थिव द्रव्य**

तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिर गंधगुणोल्बणम् ।

पार्थिवं गौरव स्थैर्य संङ्घातोपचयावहम् ।। ... वा. सू. ९ / ५

गुरु, स्थूल, स्थिर तथ गंध गुणों से युक्त होते हैं। वे शरीर धातुओं में स्थिरत्व, काठिन्य निर्माण करते हैं। पार्थिव द्रव्यों में मुख्यतः मधुर तथा अत्यल्प तिक्त रस होता है। उदा. - गेहूँ, माष (उडद), खजूर।

२) **जलीय द्रव्य**

द्रवशीतगुरुस्निग्धमंदसान्द्ररसोल्बणम् ।

आप्यंस्नेहविष्यन्दक्लेदप्रल्हादबंधकृत् ।। ... वा. सू. ९ / ६

ये द्रव्य - द्रव, स्निग्ध, मंद, गुरु, रसयुक्त होते हैं। ये द्रव्य शरीर-स्नेहन करते हैं। तृप्ति, द्रवस्राव, स्नेहन ये कार्य उनके द्वारा किये जाते हैं।

उदा. दुग्ध, दुग्धजन्य पदार्थ, चावल, इक्षु, इक्षु-पदार्थ, तक्र, फलों के रस आदि द्रव्य जलीय हैं।

३) **आग्नेय द्रव्य**

रुक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरुपगुणोल्बणम् ।

आग्नेयदाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम् ।। ... वा. सू. ९ / ७

ये रुक्ष, तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म, तिक्त, अम्ल तथा खट्टे होते हैं।

उदा. मिर्च, काली मिर्च, चित्रक, हिङ्गु, सरसों, लहसून। योग्य मात्रा में सेवन करने पर आग्नेय द्रव्य शरीर में कांति, तेज उत्पन्न करते हैं।

४) **वायवीय द्रव्य**

वायव्यं रुक्षविशदलघुस्पर्शगुणोल्बणम् ।

रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम् ।। ... वा. सू. ९ / ८

ये द्रव्य रुक्ष, लघु, खर, सूक्ष्म, रस युक्त होते हैं। ये द्रव्य शुक्र क्षय कर शरीर में ग्लानि निर्माण करते हैं। इनका मन पर परिणाम होता है। मन में विकल्पादि वृत्ति निर्माण होती है।

उदा. एरिअेटेड ड्रिंक्स्, बाह्य वायु, धुआँ, साथही विविध संप्लवनशील द्रव्य वायवीय होते हैं।

५) आकाशीय द्रव्य

नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशद्भगुणोल्बणम्। सौषिर्यं लाघवकरम्॥...वा.सू.९/१

सूक्ष्म, प्रसरणशील, लघु स्वरुप के द्रव्यों को आकाशीय द्रव्य कहा जाता है। उनमें कोई भी रस उपस्थित नहीं होता। ये द्रव्य मार्दव, रिक्तता निर्माण करते हैं। आकाशजन्य जल, खील, चुरमुरे आदि आकाश महाभूतयुक्त होते हैं।

इस प्रकार के पांचभौतिक आहार से शरीर घटकों के क्षरण की आपूर्ति की जा सकती है।

आहार वर्गीकरण ३

सेंद्रिय द्रव्य

सेन्द्रिय चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियं अचेतनम्॥ ... च. सू. ९

सेंद्रिय द्रव्य का अर्थ है - प्राणिजन्य द्रव्य। इनमें मत्स्य, मुर्गी, बकरा आदि के पदार्थ समाविष्ट होते हैं। सेंद्रिय द्रव्यों में वनस्पति का भी समावेश होता है।

दुग्ध, घृत, नवनीत, मांस, अंडा ये प्राणिजन्य पदार्थ **जंगम पदार्थ** हैं।

सैंधव (लवण), चुना ये **पार्थिव द्रव्य** हैं। उनका समावेश सेंद्रिय पदार्थ में होता है। विविध लजा, पर्ण, फल, फूल, वृक्ष, गोंद, तेल तथा गंध ये पदार्थ वनस्पतिजन्य अर्थात औद्भिद होते हैं। मृत्तिका क्षार, चुना आदि मनुष्य के द्वारा भक्षण नहीं किए जाते क्यौं कि उन्हे पचाने वाले अग्नि का मानवी शरीर में अभाव होता है। तथापि वनस्पतियां इन पदार्थों का पचन कर सकती हैं। वनस्पति में यह पाचक अग्नि उपस्थित होता है। वनस्पति द्वारा पाचित क्षार तथा पार्थिव पदार्थ मनुष्य प्राप्त करता है।

बकरी, मृग, आदि प्राणि वनस्पति का भक्षण करते हैं और उनका मांस मनुष्य द्वारा भक्षण किया जाता हैं। इससे मनुष्य को पाचन सुलभ पार्थिव तथा वनस्पतिज पदार्थ प्राप्त होते हैं। सिंहादि मांस भक्षक प्राणियों का मांस पौष्टिक होता है। प्राणिज द्रव्यों का आहार मनुष्य की दृष्टी से सुयोग्य है, जिससे उनका पोषण उत्तम प्रकार से होता है।

जल तथा सैंधव ये **निरिंद्रिय द्रव्य** हैं।

आहार वर्गीकरण ४

द्रव्य के तीन प्रकार

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा॥ ... अ. सं. सू. १ / ३३

१) शमन २) कोपन ३) स्वस्थहितकर द्रव्य

१) **शमन द्रव्य**

जो द्रव्य दोषों का शमन करते हैं, उन्हें शमन द्रव्य कहते है।

उदा. तैल, घृत, मधु

- तैल स्निग्ध, गुरु, उष्ण गुणों से युक्त है और वह उसके विपरीत गुणों के वात का शमन करता है।
- मधुर, शीत, मंद गुणयुक्त घृत उसके विपरीत गुणों के पित्त का शमन करता है।
- रुक्ष, तीक्ष्ण, कषाय गुणयुक्त मधु उसके विपरीत गुणात्मक कफ दोष का शमन करता है।

२) **कोपन द्रव्य**

जो द्रव्य त्रिदोषों के कोपन में सहायता करते हैं, उन्हें कोपन द्रव्य कहते है।

उदा. मत्स्य, अति मसालेयुक्त, तले हुए पदार्थ पित्तदोष प्रकोप करते हैं।

३) **स्वस्थहित द्रव्य**

जो द्रव्य साम्यावस्था बनाएं रखते हैं, उन्हें स्वस्थहित द्रव्य कहते है।

उदा. चावल, गेहूँ, आँवला, शर्करा, मूग, गंगाजल ये द्रव्य स्वस्थहितक हैं। ये द्रव्य किसी भी दोष का प्रकोप क्षय नहीं करते। इस प्रकार के द्रव्यों का आहार में समावेष करना प्रशस्त है।

आहार वर्गीकरण - ५

(संदर्भ अष्टांग संग्रह)

अ) **घन आहार**

१) शूकधान्य - चावल, गेहूँ, जवार, बाजरा आदि एकदल धान्य।

२) शिंबीधान्य - मूँग, तुवर, उडद आदि फलियों से प्राप्त धान्य।

३) संस्कारित अन्न पदार्थ

४) मांसवर्ग (Non veg)

५) फलवर्ग (Fruits)

६) शाक वर्ग (Green vegetables)

ब) **द्रव आहार - ५ प्रकार**

जलवर्ग, दुग्धवर्ग, इक्षुरस, तैलवर्ग, मधुवर्ग

आहार वर्गीकरण ६ - अन्न सेवन पद्धति

१) भक्ष्य - दाँतों से चबाकर खाना - चपाती, भाकरी।

२) पान - द्रव पदार्थ प्राशन करना - दाल, जल, तक्र।

३) अशन - चबाकर खाना - चावल, फलों का मगज।

४) लेह्य - चाटकर खाना - चटनी, जाम, श्रीखंड।

प्रकरण १६

Nutrition

Nutrients in food

1) Nutrients

The chemical components of food which when consumed, nourish the body and regulate the various functions of the body are called nutrients.

2) Nutrients present in the food (Proximal principles of food)

1) Carbohydrates 2) Proteins 3) Fats
4) Vitamins 5) Minerals and 6) Water.

1) Carbohydrates

- Carbohydrates are organic compounds containing carbon (C), hydrogen (H) and oxygen (O).
- Carbohydrates are the most abundant organic compounds that are found in the living world.
- Carbohydrates are synthesized by green plants by a process called photosynthesis.
- One gram of carbohydrate provides approximately 4 calories of energy.

Plant sources of dietary carbohydrates

- Cereals and millets like wheat, rice, maize, jowar, bajra, ragi etc.
- Legumes and dals like moth beans, green gram, Bengal gram dal, etc.
- Roots and tubers such as beet, sweet potato, potato, Colocasia, etc.
- Fruits like banana, mango, sapota (Chikoo), grapes etc.
- Sugar, jaggery and honey.

Animal sources of dietary carbohydrates

Milk and milk products.

Functions of carbohydrates in the body

1) **Supply of energy** - Carbohydrates undergo oxidation in living cells of the body to release energy. The energy thus released is supplied to the cells of the body for carrying out the various life processes.

2) **Protein sparing action** - When carbohydrates are taken in large amounts to meet the energy requirements of the body, proteins are spared for their main function, i.e. body building.

3) **Regulation of fat metabolism** - Carbohydrates play an important role in proper utilization of fat in the body.

4) **Role in movement of bowels** - Cellulose, a kind of carbohydrate, is of great help in the movement of bowels, as it provides roughage.

2) Proteins

Proteins are organic compounds containing carbon ©, hydrogen (H), oxygen (O) and nitrogen (N). Some proteins contain sulphur (S) and phosphorus (P) also. Some specialized proteins contain elements like iodine and iron.

Functions of proteins

1) **Growth and maintenance**

Proteins, being the chief constituent of body tissues, are required for building new tissues in the body and for the replacement of worn out tissues. Protein requirement increases during growth, pregnancy, lactation and convalescent period.

2) **Regulation of chemical reactions in the body**

i) The chemical reactions that take place in the body are regulated by enzymes which are nothing but proteins.

ii) Hormones which regulate the growth and development of the body are mostly protein compounds.

3) **Protection**

Antibodies which protect the body from infections are also proteins.

4) **Source of energy**

One gram of protein gives about 4 calories of energy. However, the body uses it as the last sources of energy when carbohydrates and fats are not available.

1) **Plant sources of dietary proteins**

- Legumes and pulses like Bengal gram, lentil, rajmah, soya bean, Bengal gram dal, green gram dal and red gram dal.
- Nuts and oil seeds such as groundnut, walnut, cashewnut, sesame (til), almond, etc.

2) **Animal sources of dietary proteins**

- Flesh food such as meat, fish, and poultry.
- Eggs.
- Milk and milk products (except butter and ghee).

3) Fats

Fats are organic compounds containing carbon (C), hydrogen (H), and oxygen (O). As compared to carbohydrates, fats contain more hydrogen (H) and less oxygen (O).

Plant sources of dietary fats

- Groundnut, coconut, sunflower seeds, cotton seeds, mustard seeds.
- Vanaspati ghee and margarine.

Animal sources of dietary fats

- Whole milk and milk product like cream, butter, ghee.
- Egg, especially the egg yolk.
- Animal fats like lard, margarine.
- Fish and fish live oil.

Functions of fats

1) **Source of energy** - Fats are a rich source of energy. One gram of fat provides about 9 kilocalories of energy.

2) **Source of essential fatty acids** - There are some fatty acids, which are very essential for the good health of the human body. Dietary fats provide these essential fatty acids.

3) **Carrier of fat soluble vitamins** - Fats are carriers of fat soluble vitamins like vitamins A, D,E and K.

4) **Insulation** - Fat stored in the form of layers underneath the skin acts as insulator. Insulation helps in maintaining the body temperature.

5) **Padding** - Organs like liver and kidney are covered and protected by a thin layer of fat which serves as padding. The padding protects these organs from shocks and physical injuries.

6) **Palatability and satiety value** - Fats improve the palatability of food. They also increase the satiety value of food.

What is Margarine ?

Margarine is a substitute for butter. Margarine is prepared from vegetable and animal fats by emulsifying them with water. Skimmed milk powder, salt, vitamins and coloring and flavoring matter are also added to the emulsified fat to obtain margarine.

Disadvantages of taking fats

- Excessive intake of fat causes arteriosclerosis in which the arteries are partially or completely blocked resulting in reduced circulation of blood.
- Blockage of artery supplying blood to the heart leads to coronary heart diseases.

- Excessive intake of fats causes obesity, which in turn causes hypertension, liver disorder, renal disorder, etc.

4) Vitamins

1) Vitamins are vital organic substances, which are essential for growth, development and maintenance of the body.

2) Based on their solubility in fat or water, vitamins have been classified into two groups, viz. fat soluble vitamins and water-soluble vitamins.

i) **Fat-soluble vitamins** - Vitamins such as A, D, E and K, which are soluble in fat, are called fat-soluble vitamins. Fat-soluble vitamins are stored in the body.

ii) **Water soluble vitamins** - Vitamins of B-complex group and vitamin C, which are soluble in water, are called water-soluble vitamins. Water-soluble vitamins are not stored in the body.

1) Retinol (Vitamin A)

Retinol is vitamin A. It is a fat-soluble vitamin occurring in both plant and animal foodstuffs.

Functions of vitamin A

1) Retinol maintains the normal vision.
2) Retinol prevents night-blindness and inflammation of the eyes.
3) Retinol is necessary for the growth of skeleton and tissues.
4) Retinol keeps the skin and lining membrane of the eyes, respiratory tract and intestinal tract, healthy and moist.

Plant sources of vitamin A

- Orange or yellow-colored fruits and vegetables such as mango, papaya, orange, carrot and pumpkin and tomato.
- Green leafy vegetables like spinach, coriander leaves, colocasia leaves.

Animal sources of vitamin A

- Fish and liver
- Milk and milk products
- Eggs
- Butter and ghee.

2) Vitamin D

Natural sources of vitamin D

Plant foods are not a rich source of vitamin D. The cheapest and easiest way of obtaining vitamin D is exposure of the body to the morning sun. Besides this, it is also found in egg, liver, fish liver oils, butter etc.

Functions of vitamin D

1) Vitamin D is necessary for the growth and development of bones.
2) Vitamin D plays a vital role in absorption and utilization of calcium and phosphorus which make the bones strong and hard.

Four diseases caused due to the deficiency of vitamin D

1) Softening of bones
2) Rickets
3) Dental decay
4) Imperfect bone formation.

3) Vitamin E

Sources of vitamin E

Plant sources

- Vegetable oils such as safflower oil, groundnut oil, etc.
- Whole grain cereals.
- Legumes and pulses.
- Nuts and oil seeds.
- Dark green leafy vegetables.

Animal sources

- Liver
- Egg yolk
- Butter.

Functions of vitamin E

1) Vitamin E acts as an antioxidant. Therefore, it prevents the oxidation of fatty acids, vitamins A and C in the food and in the body.
2) Vitamin E is necessary for normal reproduction as it prevents sterility.

4) Vitamin K

Sources of vitamin K

Plant sources

- Green leafy vegetables like fenugreek, Colocasia, cabbage and spinach

- Cauliflower
- Tomato.

Animal sources

- Milk
- Egg yolk
- Liver and
- Brain.

Functions vitamin K

1) Vitamin K plays an important role in blood clotting by forming prothrombin, which is one of the necessary factors for blood clotting.
2) Vitamin K is necessary for the normal functioning of the liver.

Fat-soluble vitamins and their deficiency effects

	Name of the fat-soluble vitamin	Deficiency effects
1	Vitamin A	Night-blindness and xeroderma
2	Vitamin D	Soft bones, rickets and dental decay
3	Vitamin K	No blood clotting

Vitamin B-complex

Vitamins of B-complex group include a number of water soluble vitamins like B_1 (Thiamine), B_2 (Riboflavin), B_3 (Niacin), B_6 (Pyridoxine), B_{12} (Cyanocobalamin) and folic acid.

Thiamine

Source of Thiamine (B1)

Plant sources

- Whole grain cereals
- Legumes and pulses
- Nuts and oil seeds
- Dry yeast

Animal sources

- Meat
- Milk and milk products
- Egg yolk.

Functions of thiamine

1) Thiamine plays an important role in catalyzing the oxidation of glucose to produce energy.
2) Thiamine is essential for the proper growth of the body.

Riboflavin

Co-enzyme

1) Coenzyme is a substance which is needed by enzymes to perform their functions effectively.
2) Riboflavin is a coenzyme which plays an important role in carbohydrate, protein and fat metabolism.

3) Niacin

1) Sources of Niacin

Plant sources

- Cereals, legumes and pulses.
- Nuts and oil seeds.
- Green leafy vegetables.

Animal sources

- Meat, fish and poultry.
- Milk and milk products.

Functions of Niacin

1) Niacin acts as a coenzyme which helps in releasing energy from consumed food.
2) Niacin plays an important role in carbohydrate, protein and fat metabolism.

4) Folic acid

Sources of folic acid

Plant sources

- Fresh green leafy vegetables
- Legumes.

2) Animal sources

- Liver.

Functions (Uses) of folic acid

1) Folic acid plays an important role in multiplication and maturation of cells.
2) Folic acid is one of the essential factors in the formation of hemoglobin.

Cyanocobalmin

Sources of vitamin B_{12}

- Meat, liver
- Milk and milk products.

(Note - Vitamin B_{12} is not available in plants.)

Functions of vitamin B_{12}

1) Vitamin B_{12} is essential for maturation of cells.
2) Vitamin B_{12} is necessary for the proper functioning of the nervous system.
3) Vitamin B_{12} plays an important role in the formation of red blood corpuscles.

Deficiency-effects of vitamin B-Complex

- Retarded growth
- Nervous disorder
- Anaemia
- Beriberi and
- Pellagra.

6) Vitamin C

Plant sources of vitamin C (Ascorbic acid)

- Fresh fruits like amla, organge, guava, lemon and lime.
- Fresh vegetables like ripe tomato, capsicum, cabbage etc.

(Note - Animal foods contain little or no vitamin C).

Functions of vitamin C (Ascorbic acid)

1) Vitamin C plays an important role in healing of cuts and wounds. It is necessary for the formation of collagen (a kind of protein) which acts as cementing material in healing of cuts and wounds.
2) Vitamin C increases the absorption of dietary iron and calcium in the body.
3) Vitamin C prevents scurvy which causes the decay of gums and teeth.
4) Vitamin C helps in releasing certain hormones which help the body to deal with physical and mental tensions.

General characters of vitamin B and C

- Both vitamin B and C are soluble in water.
- Both vitamin B and C are not stored in the body.
- Both vitamin B and C are destroyed by cooking.

Ascorbic acid (Vitamin C) is the most unstable vitamin because of the following reasons

1) Ascorbic acid is easily destroyed by heat, ageing, drying, storing and oxidation.

2) Ascorbic acid is highly soluble in water. Therefore, when chopped vegetables are washed or when cooking water is discarded, the ascorbic acid is lost.

Table 1

	Items	Nutrients obtained
1	Spinach	Vitamin A
2	Moth beans	Carbohydrates and proteins
3	Bread	Carbohydrates
4	Dal	Proteins
5	Butter/Ghee	Fat
6	Lemon	Vitamin C
7	Salt	Minerals (Sodium and iodine)
8	Salad	Vitamins and minerals
9	Rice and bread	Carbohydrates

Table 2

	Foodstuffs	Vitamins / Minerals
1.	Cabbage	Vitamin C
2.	Soya bean	Vitamin B
3.	Fish, liver	Vitamin D
4.	Sprouted cereals	Vitamin C and Vitamin K
5.	Nuts	Calcium and phosphorus
6.	Carrot	Vitamin A
7.	Apple	Vitamin C

Table 3

	Food items	Nutrients supplied
1.	Ragi	Carbohydrates
2.	Ghee	Fats
3.	Green gram	Proteins
4.	Amla	Vitamin C

Table 4

	Food items	Nutrients supplied
1.	Green vegetables	Vitamins and minerals
2.	Chapati	Carbohydrates
3.	Butteermilk	Fats, water, calcium and phosphorus
4.	Salt	Sodium and iodine
5.	Mango pickle	Oil (fat), sodium, iodine, vitamin A & C
6.	Nachani papad	Calcium
7.	Dal	Proteins
8.	Rice	Carbohydrates

Table 5

	Food items	Nutrients obtained
1.	Methi vegetable	Vitamin K
2.	Moth beans	Carbohydrates
3.	Dal	Proteins
4.	Lemon	Vitamin C
5.	Rice	Carbohydrates
6.	Salt	Sodium and iodine

Note - Sago and groundnuts are the food substances (rich in carbohydrates) that are used during fast.

Minerals

Minerals are necessary for the body as they control a number of regulatory and protective functions in the body which are as follows:

1) Calcium and phosphorus are necessary for the formation of bones and teeth.
2) Calcium helps in the clotting of blood.
3) Phosphorus is necessary for the formation of ATP in cells.
4) Iron being an important constituent of hemoglobin acts as an oxygen carrier.
5) Iodine is an important component of the hormone thyroxine which controls the physical and mental growth of the body.
6) Fluorine prevents dental caries.

1) Calcium, phosphorus

Sources of calcium

- **Plant sources -** (1) Ragi (2) Legumes and pulses (3) Nuts and oil seeds (til) (4) Green leafy vegetables (5) Dry fruits such as black currants and dry dates.
- **Animal sources -** 1) Milk and milk products, 2) Fish, crab and prawns.

Sources of phosphorus

- **Plant sources -** 1) Cereals and legumes 2) Nuts and oil seeds.

- **Animal sources -** 1) Milk 2) Poultry and seafood 3) Egg.

Functions of calcium and phosphorus

Calcium and phosphorus are involved in various metabolic activities of the body, some of which are as follows:

1) **Development of bones and teeth -** Calcium and phosphorus offer rigidity and firmness to bones. They are also essential for the development of teeth.
2) **Regulation of muscles -** Calcium regulates the contraction and relaxation of muscles.
3) **Blood clotting -** Calcium helps in the clotting of blood.
4) **Conduction of nerve impulses -** Calcium plays an important role in the conduction of nerve impulses.
5) **Generation of ATP -** Phosphorus is essential for the formation of ATP in cells.

2) Iron

Sources of iron

- **Plant sources -** (1) Whole grain cereals, legumes and pulses (2) Dry fruits like black currants and dry dates (3) Green leafy vegetables.
- **Animal sources -** Kidney and liver.

Functions of iron

1) **Carrier of oxygen -** Hemoglobin of blood, which is an iron compound acts as oxygen carrier.
2) **Muscle action -** Myoglobin which is an iron-protein complex is necessary for the action of muscles of the body.

3) **Oxidation of carbohydrates, proteins and fats** - Iron facilitates the complete oxidation of carbohydrates, proteins and fats.

3) Iodine

Sources of iodine

- **Plant sources** - Fruits and vegetables grown in iodine rich soil.
- **Animal sources** - Salt, water fish and shellfish.

Functions of iodine

1) Iodine is an important component of the hormone thyroxine secreted by the thyroid gland.
2) The hormone thyroxine regulates physical and mental growth of the body.

4) Fluorine

Source of fluorine - Drinking water.

Functions of fluorine

1) Fluorine plays an important role in keeping bones and teeth healthy.
2) Regular intake of fluorine in small amounts, i.e. 0.8 ppm prevents dental caries.

Water

Sources of water for out body

- **Drinking water** - The water, which we drink, is the main source of water for our body. We should consume atleast 1.5 to 2 liters of water a day.
- **Water contributed by food** - The food substances, which we consume, contain water in varying amounts. Fruits and vegetables contain 70 to 90 per cent water while milk contains 80 to 85 per cent water.
- **Water contributed by beverages** - Beverages such as tea, coffee, aerated drinks; juices, etc. provide water to our body.
- **Water used in food preparations** - Juices, soups, dals, kheer, rice etc. provide water in plenty to our body.
- **Metabolic water** - There are number of metabolic activities that take place in our body. During these metabolic activities, water is produced as a by-product. This water, which is called metabolic water, is also available to the body.

Functions (Importance) of water

Water performs a number of important functions in our body. Some of these functions are as follows:

1) Major constituent of the body

1) Water is one of the major constituents of our body. Out body contains about 65 per cent water. Infants have a higher percentage of water, i.e. 75 per cent in their body.
2) All body fluids such as blood, saliva, digestive juices, sweat and urine contain water.

3) Water is an important constituent of protoplasm.

2) Universal solvent - Water dissolves a wide variety of substances including the products of digestion and transports them to the various organs of the body.

3) Removal of waste matters from the body - Water plays an important role in the removal of waste matters from the body.

4) Regulation of body temperature - Water plays an important role in regulating the body temperature through evaporation of water from the skin and lungs.

5) Lubrication of joints and prevention of friction - Water lubricates the joints and prevents friction between the moving parts.

The following body fluids contain water as an important constituent

(1)Blood (2) Saliva (3) Sweat (4) Digestive juices and (5) Urine.

The different forms of food that contribute water to our body are

1) Fruits 2) vegetables 3) Milk 4) Curries 5) Soups, etc.

Comparisons

Table 1

1	Carbohydrates	Proteins
1.	Carbohydrates are organic compounds containing carbon, hydrogen and oxygen.	Proteins are organic compounds containing nitrogen in addition to carbon, hydrogen, and oxygen.
2.	Cereals are the main sources of carbohydrates.	Legumes and pulses are the main sources of proteins.

3.	Carbohydrates are used as instant source of energy.	Proteins are used as the last source of energy.

Table 2

	Fat-soluble vitamins	Water-soluble vitamins
1.	Fat-soluble vitamins are soluble in fats.	Water-soluble vitamins are soluble in water.
2.	Vitamins A, D, E and K are fat-soluble vitamins.	Vitamins of B-complex group and vitamin C are water soluble vitamins.
3.	Fat soluble vitamins are stored in the body	Water-soluble vitamins are not stored in the body.
4.	Fat-soluble vitamins are chemically stable.	Water-soluble vitamins are chemically unstable.

Table 3

	Vitamin E	Vitamin K
1.	Vitamin E acts as an antioxidant.	Vitamin K does not act as an antioxidant.
2.	Vitamin E is necessary for normal reproduction.	Vitamin K is necessary for blood clotting.
3.	Deficiency of vitamin E leads to sterility.	Deficiency of vitamin K leads to bleeding.

Table 4

	Vitamin A	Vitamin C
1.	Vitamin A is necessary for the maintenance of normal vision.	Vitamin C is necessary for the healing of wounds.
2.	Vitamin A is essential for the growth of tissues.	Vitamin C is essential for the absorption of iron and calcium in the body.
3.	Deficiency of vitamin A causes night-blindness.	Deficiency of vitamin C causes scurvy.

Table 5

	Folic acid	Ascorbic acid
1.	Folic acid is vitamin B.	Ascorbic acid is vitamin C.
2.	Folic acid is obtained from liver, legumes & fresh vegetables.	Ascorbic acid is obtained from fresh fruits and vegetables.
3.	Folic acid is necessary for the formation of blood.	Ascorbic acid is necessary for the healing of wounds.
4.	Deficiency of folic acid causes anemia.	Deficiency of ascorbic acid causes scurvy.

Dietary Deficiency Diseases

The reasons for high incidence of nutritional deficiency diseases among the poorer sections of the society in India are as follows

1) Faulty food habits such as irregular meals, poor eating and unhygienic practices of handling foods.

2) The poor intake of proteins.
3) Consumption of vitamins and minerals below the desired level.
4) Nonfulfilment of basic calorie requirement.

Malnutrition

Malnutrition means disordered nutrition.

Hazards (Effects) of malnutrition

The hazards (effects) of malnutrition are as follows:

1) Malnutrition is hazardous to physical and physiological well-being of an individual.
2) Malnutrition affects mental and emotional state of an individual.
3) The physical, mental and social performance of a malnourished individual becomes subnormal.
4) An individual who is undernourished is susceptible to infectious diseases like cold, cough and fever.
5) Undernourished children become prone to diseases like rickets, marasmus and anemia.
6) The over nourished people become over-weight and obese.
7) The over nourished individuals become more prone to diseases like diabetes, arthritis, hypertension and other cardiovascular diseases.

Causes (Reasons) of energy malnutrition

The main reasons of energy malnutrition are as follows

1) Ignorance about the kind, quality and quantity of food to be taken.

2) Faulty food habits such as irregular meals, poor eating or rigid eating habits.

3) Unhygienic practices of handling of foods.

4) Faulty handling of foods.

5) Poverty.

Undernourished person

The general effects on physical and physiological well-being of an undernourished person are as follows

1) Weight and height of an undernourished person is generally below the standard level.

2) The undernourished person is susceptible to infections due to low resistance of the body.

3) The physical, mental and social performance of an undernourished person is subnormal.

4) The undernourished person becomes prone to diseases like rickets and anaemia.

Over nourished person

The general effects on physical and physiological well-being of an over nourished person are as follows:

1) An over nourished person becomes overweight and obese.

2) An over nourished person becomes more prone to diseases like diabetes, arthritis, hypertension and other cardiovascular diseases.

Four effects of deficiency of protein and energy

1) Listless and miserable.

2) Retardation of growth.

3) Diminished body weight.

4) Muscle wasting and oedema.

		Healthy child	Undernourished child
1	Face	Happy look.	Miserable look.
2	Eyes	Healthy, bright and moist with a lustrous look.	Dry, inflamed sticky and sensitive to light.
3	Skin	Lustrous, smooth and intact.	Dry with cracks, loose, rough, pigmented and scaly.
4	Tongue	Moist and pinkish.	Ulcers and cracks on tongue, magenta red color, loss of taste.
5	Posture	Good.	Bad

1) PEM

- PEM is the abbreviation of protein energy malnutrition.
- PEM results due to the deficiency of proteins, carbohydrates and fats in the body.
- PEM is the most important nutritional disorder affecting Indian children in the age group of 1 to 5 years.

2) Two diseases caused by PEM

1) Kwashiorkor and 2) Marasmus.

Symptoms of PEM

- Retardation of body growth.
- Loss in weight.
- Loss in height.
- The child becomes weak and sickly.

1) Kwashiorkor

1) Kwashiorkor is a malnutrition disease occurring due to deficiency of proteins in diet.
2) Kwashiorkor develops when babies are weaned from protein rich breast milk to other diets deficient in protein.

Symptoms of Kwashiorkor

1) The child suffering from Kwashiorkor becomes listless and miserable.
2) Retardation of growth is very common.
3) The child becomes extremely apathetic with no interest in his surroundings.
4) Cheerless with no appetite.
5) His height and weight are below normal.
6) Oedema occurs on the body due to excessive loss of nitrogen.
7) The face becomes fully rounded and is known as 'moon face'.
8) The skin cracks and becomes scaly.
9) Reddish pigmentation develops on the skin and patches of the skin become inflamed.
10) Abdomen swells and liver enlarges (pot belly).
11) The hair becomes discolored, sparse and easily pluckable.

Four effects of niacin deficiency

1) Rough, scaly and ulcerated skin.
2) Soreness of mouth.
3) Diarrhea and fatigue.
4) Headache and backache.

Four effects of lack of thiamine in the diet

1) Loss of appetite
2) Muscular weakness
3) Oedema
4) Loss of memory.

2) Marasmus

- Marasmus is a malnutrit on disease characterized by the stunted growth of a child.
- Marasmus occurs due to the deficiency of proteins, carbohydrates and fats in the diet of infants.

Symptoms of marasmus

1) The Child of reduced to skin and bones owing to wasting of muscles.
2) The skin becomes shrunken.
3) The eyes become large in size.
4) The ribs of marasmic child look very prominent.
5) Dehydration occurs in the body due to watery diarrhea and vomiting

3) Beriberi

Beriberi is a deficiency disease caused due to the deficiency of vitamin B_1 (Thiamine).

Symptoms of beriberi

1) Loss of appetite.
2) Muscle weakness.
3) Degeneration of nervous tissues.
4) Decrease in mental alertness.
5) Poor concentration.
6) Reduction in memory.
7) Sometimes, there is oedema on the body.

4) Pellagra

Pellagra is the deficiency disease caused by the deficiency of vitamin B_3 (Niacin) in the diet.

Symptoms of pellagra

1) Rough, scaly and ulcerated skin.
2) Darkening of complexion due to hyperpigmentation.
3) Soreness of mouth.
4) Diarrhea and fatigue.
5) Listlessness and depression.
6) Headache and backache.

5) Anaemia

Anaemia is a deficiency disease caused by the deficiency of iron in the diet. In anemia the hemoglobin content of the blood goes down.

Symptoms of anemia

- Pale appearance of the skin, fingernails and mucous membrane.
- Frequent headache.
- Breathlessness and palpitation.
- Constant feeling of tiredness and giddiness.
- Insomnia.

6) Rickets

Rickets is a deficiency disease caused by the deficiency of calcium, phosphorus and vitamin D.

Symptoms of rickets

1) Faulty mineralization of bones and teeth.
2) Skeletal malformation resulting into twisted bones.
3) Late eruption of teeth.

7) Scurvy

Scurvy is a deficiency disease caused due to the deficiency of vitamin C (Ascorbic acid) in diet.

Symptoms of scurvy

1) Swelling and bleeding of gums.
2) Reduction in resistance of the body to infections.

3) Poor healing of wounds.

4) Subcutaneous hemorrhage.

5) Irritability.

The main causes of undernutrition are as follows

1) **Ignorance about food** - Ignorance about the kind, quality and quantity of food to be taken for the proper nourishment of the body.

2) **Faulty food processing practices** - Faulty food processing practices such as refining, polishing of rice, overcooking, discarding the water used for cooking etc.

3) **Poverty** - Poor economic condition leads to limited purchasing power of food.

4) **Habits** - Food fads and faulty traditions about food restrict the choice and consumption of food. Even personal likes and dislikes also restrict the choice of food.

5) **Environmental factors** - Environmental factors such as faulty meal timings, over-fatigue before food consumption, overemphasis on table manner, and unusual manners of eating.

6) **Natural calamities** - Natural calamities such as floods, droughts and famines cause acute shortage and non-availability of food.

7) **Faulty distribution of food** - In most families, knowingly or unknowingly, food is served unevenly. Preference is given to male members of the family. Leftover and stale food is given to ladies. Girls are often neglected.

8) Goitre

1) **Goitre** - Goitre is an endemic nutritional deficiency disease characterized by an abnormal enlargement of the thyroid gland.

Goitre belt - The region where the iodine content of the soil and water is low is known as goitre belt.

Goitre areas (regions) of our country

1) sub-Himalayan regions from Kashmir to Arunachal Pradesh.

2) Dhule, Aurangabad, Jalna, Wardha, Amravati, Buldhana, Satara and Thane districts of Maharashtra.

Control of goitre

Goitre can be controlled by adding iodine salts such as potassium iodate (KIO_3) to drinking water and consuming iodine enriched (iodized) salt.

Goitre is observed among tribal people of Dhule district.

Mineral deficiency diseases

1) Goitre 2) Anemia.

Both the central and the state governments have taken many measures for improving the nutritional status of the needy community. These measures are as follows:

1) Implementation of programmes like ICDS (Integrated child development scheme) MCHP (Mother child health programme), MDMP (Mid day meal programme), FFWP (Food for work programme) and NREP (National rural employment programme).

2) Foodstuffs like sukhada or sukadi, milk powder, breads, eggs, nutri-biscuits, preparations of bulgur wheat and soya bean are distributed by the government to needy and vulnerable people, such as pregnant women, lactating mothers and children.

3) Foodstuffs are enriched by specific nutrients to avoid malnutrition. For example, hydrogenated fat is enriched with vitamins A and D. Similarly, common salt is enriched by iodine. Milk products and baby foods are fortified with vitamins A, B, C and D and minerals such as calcium and iron.

4) To avoid protein energy malnutrition (PEM) deficiency of protein, deficiency of vitamin A and nutritional anaemia, the above mentioned projects (1 to 3) are adopted as protective measures against them. These nutritional programmes are getting good response but unfortunately, owing to tremendous increase in population, these programmes are limited to a very few people. It cannot reach the masses.

Table 1

	Scurvy	Rickets
1.	Scurvy is caused due to the deficiency of vitamin C.	Rickets is caused due to the deficiency of vitamin D, calcium and phosphorus.
2.	Swelling and bleeding of gums, poor resistance of infection, poor healing etc. are common symptoms of scurvy.	Faulty mineralization of bones and teeth, late eruption of teeth are common symptoms of rickets.

Table 2

	Kwashiorkor	Marasmus
1.	Kwashiorkor is a deficiency disease of children caused by the deficiency of protein in their diet.	Marasmus is a deficiency disease of children caused by the deficiency of proteins, carbohydrates & fats in their diet
2.	In Kwashiorkor, there is oedema on the body of the child.	There is no oedema on the body of the child suffering from marasmus.
3.	The circumference of the upper arm of the child is reduced due to muscle wasting.	The child is reduced to mere skin and bone due to muscle wasting.
4.	The skin of the child cracks and becomes scaly.	The skin becomes shrunken.
5.	The face looks like a moon (moon face).	The face looks like an old person's face.

प्रकरण १७

अन्नपचन प्रक्रिया

आहार पचन (स्थूल)

स्थूल पचन का अध्ययन निम्न तीन स्तरों में किया जाता है -

१) स्थूल पचन के संदर्भ में अवयव।

२) स्थूल पचन के संदर्भ में दोष-धातु-मल विचार।

३) स्थूल पचन के संदर्भ में शेष महत्त्वपूर्ण मुद्दे

(१) अवयव विचार

महास्त्रोतस

चरकाचार्य ने तीन रोगमार्ग का वर्णन किया है।

बाह्यरोगमार्ग मध्यम रोगमार्ग अभ्यंतर रोगमार्ग.

इनमें से महास्त्रोतस का समावेश अभ्यंतर रोगमार्ग में होता है।

कोष्ठः पुनरुच्यते - महास्त्रोतः शरीरमध्यं, महानिम्नम्।

आमपक्वाशयश्चेति पर्याय शब्दै स्तंत्रे स रोगमार्ग अभ्यंतरः ।। ...च.सू.११/४८

महास्त्रोतस को ही कोष्ठ, शरीरमध्य, महानिम्न कहते है। महास्त्रोतस के मुख से लेकर गुद तक पचन की दृष्टी से चार भाग होते हैं।

अ) अन्नप्रवेशस्थान

इसमें १) मुख तथा २) कंठनाडी का समावेश होता है।

१) मुख

मुख में निम्न उपांगों का समावेश होता है।

ओष्ठौच दन्तमूलानि दंता जिव्हा च तालु च गलो सकलं सप्तांग मुखमुच्यते।

... यो. र.

इनमें से दंत (दाँत) तथा जिव्हा (जीभ) का पचन के संदर्भ में विशेष महत्त्व है। दंत पितृज अवयव है। इसका कार्य मुख्यतः चर्वण तथा पीडन है। इससे अन्न को सूक्ष्मत्व प्राप्त होता है और साथही चर्वण के कारण आहार के योग्य गंध, रस का लाभ लिया जा सकता है। दंत की चर्वण क्रिया में जिव्हा, ओष्ठ, कपोल आदि अवयवों की गतिविधियाँ सहायक होती हैं।

पुरुषेण भुज्यमानमन्नं कठिनतर दशनभिघात जर्जरितम्।

... अ.सं. (इंदु टीका)

यह कार्य प्राकृत प्रकार से होने के लिए प्राकृत दंत किस प्रकार होने चाहिये ?

महदास्यं घना दंतः स्निग्धाः श्लक्ष्णाः सिताः समाः। ... अ.ह.शा.

वार्धक्यावस्था में दाँत टूटने के कारण पचन क्रिया बिगडकर आनाह, मलावष्टंभ आदि उपद्रव होते हैं।

जिव्हा

षड्रसयुक्त आहार्य द्रव्यों के संदर्भ में रसज्ञान का महत्त्वपूर्ण कार्य 'जिव्हा' इस रसनेंद्रिय के अधिष्ठान द्वारा होता है। प्राकृत रसज्ञान के कारण ही मनुष्य सुयोग्य आहार ग्रहण करता है। अन्यथा अति तिक्त, अति मधुर आदि आहार सेवन के कारण अनेक विकृतियां निर्माण होने की संभावना होती है। अतः प्राकृत जिव्हा किस प्रकार होनी चाहिए ?

स.यामविस्तारोपपन्ना, श्लक्ष्णा, तन्वी, प्रकृतियुक्ता, पाटलवर्णी जिव्हा ।।

... च.शा. ८/६७

जिव्हा का प्राकृत कार्य बिगडने पर निर्माण होने वाली 'अरोचक' (मुख में रुचि का अभाव) यह विकृति सर्वपरिचित है। इसी प्रकार जिव्हा यह एक प्रकार का आईना है जो पचनव्यापार दर्शाता है। जिव्हा पर कायम स्वरुप कीटंण (साम जिव्हा) पचन व्यापार विकृत होने का निदर्शक है।

२) **आमाशय**

आमाशय यह अन्नवहस्त्रोतस का मूलस्थान माना गया है।

अन्नवहानां स्त्रोतसामामाशयो मूलं वामंच पार्श्वम् ।। ... च.वि. ५/७

आयुर्वेद में आमाशय शद्ब का अर्थ ठीक से समझने के लिए प्रत्येक बार संबंधित ग्रंथकारोक्त संदर्भो का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। कुछ संदर्भो के अनुसार आमाशय शद्ब का व्यापक अर्थ समझते हुए, नाभि के ऊपर कंठ तक के भाग को आमाशय कहा गया है।

नाभिस्तनांतरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः। ... च.वि. २/२३

इसी लिए यकृत, प्लीहा, उर, हृदय, क्लोम, लघ्वांत्र आदि सभी अवयवों का इसमें समावेश करना पडेगा। तथापि सुश्रुताचार्य ने ग्रहणी के ऊपर के भाग को आमाशय कहा है और आमाशय के स्थान में सुषिर स्नायु (Sphincter) होते हैं, ऐसा कहा है। सुषिर स्नायु के कारण ही अन्न विशिष्ट काल संचित करना तथा विशिष्ट काल के पश्चात उसे आगे ढकेलना संभव होता है।

आमाशयांते सुषिराः स्नायवः सन्ति।

ततः अन्नस्य विमोचनं यथावत् भवति।

आमपक्वाशयांतेषु बस्तौ च सुषिराः खलु। ... सु.शा. ५/३२

वस्तुतः आमाशय प्रदेश से ही पचन प्रक्रिया का प्रारंभ होता है।

३) **ग्रहणी**

पचन व्यापार मुख्यतः जिस स्थान में होते हैं वह अवयव है - ग्रहणी। महास्त्रोतस के आमाशय तथा पक्वाशय इनके बीच स्थित भाग को ग्रहणी कहते है।

१) **षष्ठी पित्तधरानाम या कला परिकीर्तिता।**

पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ।। ... सु.उ.४०/१६९

२) **पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य।** ... सु.सू. २१/६

३) **अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता ।।** ... च.चि.१९/५३

ग्रहणी यह मातृज अवयव है तथा अग्नि का मुख्य स्थान है। ग्रहणी के प्राकृत मापन के लिए निम्न संदर्भ सहायक हैं।

सार्धत्रिव्यामानि अंत्राणि पुंसाम्।

स्त्रीणामर्ध व्याम हीनानि ।। ... सु.शा. ५

ग्रहणी के कार्य का विस्तृत स्पष्टीकरण निम्न श्लोक के द्वारा मिलता है।

अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। ... च.चि.१९/५४

अपक्व अन्न का धारण कर, पक्व अन्न को पक्वाशय की ओर विक्षेपित करने का कार्य ग्रहणी के द्वारा होता है।

४) **पक्वाशय**

महास्त्रोतस में ग्रहणी के पश्चा भाग को पक्वाशय कहते है। कटि तथा गुद के ऊपर और नाभि के नीचे पक्वाशय स्थित होता है।

तत्र समासने वातः श्रोणिगुदसंश्रयः।

तदुपरि अधो नाभेः पक्वाशयः। ... सु.सू. २१/५

आमाशय के समान ही पक्वाशय में भी सुषिर स्नायु होते हैं, जिनके द्वारा पाचित भाग आगे विक्षेपित होने की क्रिया सुनियंत्रित रुप से होती है।

आमपक्वाशयांन्तेषु बस्तौच सुषिराः खलु।

पक्वाशय पुरीषवह स्त्रोतस का मूलस्थान है और इस स्थान में मुख्यतः सार-किट्ट विभजन प्रक्रिया पूर्ण होकर मलभाग उत्सर्जन के लिए आगे विक्षेपित किया जाता है।

पंचमी पुरीषधरा नाम याऽन्त कोष्ठे मलमभिविभजेत पक्वाशयस्थाः ।।

... सु.शा. ४/५

५) **यकृत** ~~कार्य १~~

मल का संबंध

स्थूल पचन के अंत में घनमल स्वरूप में पुरीष की और द्रवमल के स्वरुप में मूत्र की उत्पत्ति होती है।

हालांकि यहाँ महास्त्रोतस में यद्यपि यकृत का उल्लेख पचन के संदर्भ में नहीं किया गया किन्तु यकृत अप्रत्यक्ष रुप से पचन क्रिया से संबंधित होता है। यकृत रक्तवह स्त्रोतस का मूलस्थान है। आयुर्वेद ने पित्त को रक्तका मल माना है। अतः यकृत - रक्त - पित्त - पचन यह संबंध स्पष्ट होता है। तद्वत ही यकृत पचन से संबंधित है।

यकृत क्रियायाः वर्णनम्

- **कोष्ठे हृदयस्य अधः दक्षिणतः यकृत वामतः प्लीहा च ।।** ... सु. शा. ४

कोष्ठ में हृदय के नीचे बाम बाजू में प्लीहा तथा दक्षिण बाजू में यकृत ये अवयव होते हैं ।

- **यकृत् प्लीहाच मातृजानि लोहितं च ।** ... च. शा. ३ /१२
- **गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ ।** ... सु. शा. ४

यकृत मातृज होता है और उसकी उत्पत्ति रक्त से होती है।

- **द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यंतरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीहाहोश्च भवति ।** ... सु. शा. ४/१०
- **रक्तवहे द्वे तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्याश्च धमन्यः ।** ... सु. शा. ९

यकृत, प्लीहा रक्तवह स्त्रोतस का मूलस्थान हैं और रक्तधाराकला इस स्थान में होती है।

- **स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति । शोणितस्य स्थानं सकृत्प्लीहानौ तत्रस्थमेव ।।** ... सु. सू. १४ - ४

शेषाणां शोणितस्थानानाम् अनुग्रहं करोति ।

रंजक पित्त के कारण यकृत, प्लीहा में रस को रंजकत्व प्राप्त होता है।

'यकृत - रक्त - पित्त' यह संबंध समझने पर स्पष्ट होता है कि पित्त के परिमणन कार्य की दृष्टी से 'यकृत' इस अवयव को विशेष महत्त्व है। प्रत्यक्षतः भी यह दिखाई देता है कि, शरीर व्यापार में सर्वाधिक विशेष स्वरुप का पचन तथा रासायनिक बदलाव करने का कार्य यकृत में होता है। आयुर्वेद शास्त्र ने रुद्धपथ कामला में यकृत से स्त्रवित पित्त आंत्र के भीतर आने में असमर्थ होने से पुरीष को 'तिलपिष्टनिभं' यह स्वरुप प्राप्त होता है, ऐसा वर्णन किया है।

(२) पचन के संदर्भ में दोष-धातु-मल विचार

दोषों का संबंध

१) वातदोष – पचन प्रक्रिया के संदर्भ में सभीं अवयवों की गतिविधियाँ (हलचल) करना, अन्न तथा अग्नि जैसे पचन कराने वाले घटकों का संयोग कराना।

२) पित्तदोष – पचन तथा परिणमन की प्रत्यक्ष क्रिया पित्तांतर्गत अग्नि के कारण होती है।

३) कफदोष – प्राकृत पचन के लिए अन्नघटकों में शिथिलता लाने का कार्य कफ दोष करता है, साथही पित्त के दाहक, तीक्ष्ण गुणों से संबंधित अवयवों का रक्षण भी कफदोष के कारण ही होता है।

धातुओं का संबंध

पचन के संदर्भ में अवयवों की निर्मिति में मुख्यतः विभिन्न धातुओं का संबंध समझा जा सकता है।

गर्भस्थ यकृताप्लीहानौः शोणितजौ । ... सु. शा. ४

मल का संबंध

स्थूलता के अंततः घनमल स्वरुप में पुरीष की और द्रवमल स्वरुप में मूत्र की उत्पत्ति होती है, ऐसा आयुर्वेद ने वर्णन किया है। इसी प्रकार पचन प्रक्रिया को जिम्मेदार त्रिदोष वात, पित्त, कफ की निर्मिति भी मलस्वरुप में होती है, ऐसा कहा है।

उदा. रस धातु का मल कफ, रक्त धातु का मल पित्त आदि।

त्रिदोषों के उपप्रकारों का पचन से संबंध

वातदोष प्रकार

१) **प्राण वायु**

शरीर में मुख के द्वारा अन्न ग्रहण करने की क्रिया मुख्यतः प्राणवायु के द्वारा होती है।

उरः कंठचरो ... निश्वास अन्न प्रवेशकृत् । ... वा.सू. १२

२) **समान वायु**

समान वायु अग्नि सान्निध्य में रहकर अन्न ग्रहण, पचन, सारकिट्ट विभजन (विवेचयति) तथा मलभाग उत्सर्जन (मुञ्चति) इ। सभीं क्रियाओं को जिम्मेदार होता है।

- **समानो अग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः।** ... अ.ह.सू. १२
- **अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति।** ... अ.ह.सू. १२

३) **अपान वायु**

मुख्यतः शरीर के निचले भाग में रहकर मलभाग उत्सर्जित करने का कार्य अपानवायु के द्वारा होता है।

- **अपानो ऽ पानगः श्रोणि बस्तिमेढ्रोरुगोचरः।** ... अ.ह.सू. १२
- **शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः।** ... अ.ह.सू. १२

पितदोष प्रकार

१) **पाचक पित्त –** मुख्यतः प्राकृत पचन को जिम्मेदार होता है।

पित्तं पंचात्मकं तत्र पक्वामाशयमध्यगम्।
पंचभूतात्मकत्वेऽपि यतैजसगुणोदयात्॥
त्यक्तद्रवत्वं पाकादि कर्मणाऽनल शब्दितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक्तथा॥ ... अ.ह.सू. १२/१०

कफदोष प्रकार

१) **बोधक कफ**

आहारद्रव्यों की रुचि का प्राकृत ज्ञान होने के लिए बोधक कफ की आवश्यकता होती है।

रसबोधनात्। बोधको रसनास्थायी। ... अ.ह.सू. १२/१९

अन्नपचन प्रक्रिया का प्रारंभ मुख से बोधक कफ के कार्य से ही होता है। यदि अति जलद भोजन किया जाए तो बोधक कफ का संपर्क सम्यक मात्रा में नहीं मिलता। बोधक कफ के कारण रसज्ञान के साथही पचन के लिए आवश्यक आर्द्रता भी अन्न को प्राप्त होती है।

२) **क्लेदक कफ**

पचन के लिए आवश्यक शैथिल्य क्लेदक कफ की आर्द्रता के कारण प्राप्त होता है। अन्न का भिन्नसंघात होने से ही पित्त के अंश, पचन कार्य संपन्न करने के लिए अन्न के अणुरेणु तक पहुँच सकते हैं । इसी प्रकार क्लेदक कफ के स्निग्ध, शीत, गुरु आदि गुणों के कारण पचन संबंधि अवयवों का पित्त के उष्ण, तीक्ष्ण गुणों से रक्षण होता है।

यत्त्वामाशयसंस्थितः। क्लेदकः सोऽन्न संघात क्लेदनात्॥ ...अ.ह.सू. १२

संक्षेपतः त्रिदोष एवं 'पचन' विचार

अब तक पचन के संदर्भ में दोष-धातु-मलों की जिस विस्तृत भूमिका का अध्ययन किया गया, उसके सारांश स्वरुप में चरकाचार्य का निम्न श्लोक महत्त्वपूर्ण है।

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसंघातैः स्नेहेन मृदुतां गतम्।
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक्पचत्यायुर्विवृद्धये॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्। ... च.चि. १५/४-६

विशेष टिप्पणि

उपरोक्त श्लोक में प्राणः (व पवनेन), स्नेहेन, अग्नि इन शद्धों के द्वारा क्रमशः वात, कफ, पित्त का कार्य स्पष्ट होता है।

२) प्राण का कार्य केवल मुख के द्वारा अन्न ग्रहण करना यह नहीं बल्कि उस अन्न को संपूर्ण कोष्ठमार्ग से आगे की ओर विक्षेपित करने का भी है, क्यौं कि महास्त्रोतस, शरीरमध्य, महानिम्न, आम-पक्वाशय ये सभी कोष्ठ शद्ध के पर्यायवाची शद्ध हैं।

कोष्ठः पुनरुच्यते महास्त्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नम्।
आमपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैः तंत्रे च रोगमार्ग आभ्यतरः॥

... च.सू. ११/४८

अग्निविचार

ग्रहण किया गया आहार मूल स्वरुप में शरीर की वृद्धी नहीं कर सकता (शरीरोपयोगी नहीं होता)। इसके लिए उस आहार का रुपान्तर करना पडता है।

आहार द्रव्य को शरीर सात्म्य अथवा प्रत्यक्ष शरीर स्वरुप प्राप्त कराने वाली शक्ति को अग्नि कहते है।

आहार पर अग्नि द्वारा पचन संस्कार होकर ही उससे शरीर की वृद्धी होती है। रुपान्तर अथवा परिणमन करना यह अग्नि का प्रमुख कार्य है, जो शरीर के प्रत्येक धातुपरमाणु में नित्य चलता रहता है। आयुष्य यह शरीरस्थ धातुघटकों की संधान परंपरा है। वह चलती रखने के लिए अग्नि की आवश्यकता होती है।

अग्नि के प्रकार

परमाणु भेद से अग्नि के अनेक प्रकार होते हैं, क्यौंकि प्रत्येक परमाणु में नवनिर्मिति करना तथा जीर्ण परमाणुओं का नाश करना यह अग्नि का कार्य है। यह क्रिया शरीर में सर्वत्र चलती रहती है। अतः अग्नि भी असंख्य होते हैं। परंतु उनके स्थूल स्वरुप के अनुसार कुल १३ प्रकार किये गएं हैं, जैसे - कोष्ठाग्नि, ७ धात्वाग्नि तथा ५ पांचभौतिक अग्नि।

१) कोष्ठाग्नि (जाठराग्नि / कायाग्नि)

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, अंतकोष्ठ में कार्यरत वह कोष्ठाग्नि है। उसके सामर्थ्य पर शेष अग्नि का बल निर्भर होता है। यह अग्नि सभी महाभूतों पर, सर्व रसात्मक द्रव्यों पर कार्य कर उनका रुपान्तर आहार रस में कर सकता है। कोष्ठाग्नि का कार्य संपन्न होने पर आहार रस सर्व शरीर में जाकर अन्य अग्नियों को उनके पाचक अंश प्रदान कर सकता है। कोष्ठाग्नि को ही कायाग्नि अथवा जाठराग्नि भी कहा जाता है।

कायाग्नि का कार्य सुव्यवस्थित न होने पर विकृत रस निर्माण होता है। अतः अन्य अग्नियों को स्वसमान घटक नहीं मिल सकते। इन तेरह अग्नियों में कोष्ठाग्नि सर्वश्रेष्ठ है। इसकी वृद्धि अथवा क्षय होने पर शेष बारह अग्नियों का क्षय होता है।

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ॥
ओजस्तेजो ऽ ग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मन्निरुच्यते ॥ ... च. चि. १५/२

- **जाठरो भगवान अग्निः।** ... सु. सू. १५/३

इस कायाग्नि पर आयुष्य, बल, वर्ण, उत्साह, स्वास्थ, शारीरिक वृद्धी तथा शेष अग्नि निर्भर होते हैं। जब तक आहार का उपयुक्त स्वरुप में रुपान्तर करने का सामर्थ्य कोष्ठाग्नि में होता है, तभी तक सभी गतिविधियाँ सम्यक् प्रकार से होती हैं। परंतु अग्नि की प्रतिकूल स्थिति निर्माण होने पर रोग परंपरा निर्माण होती है। अग्नि क्रिया बंद होने पर मृत्यु भी हो सकती है।

२) धात्वग्नि

आहाररस सर्व शरीर में संचरण करते हुए प्रत्येक धातु में स्थित अग्नि द्वारा उसका पचन किया जाता है। आहाररस में स्थित स्वधातु समान घटक इन धात्वाग्नि के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। उनपर उन धातुओं में स्थित अग्नि की क्रिया होकर उन घटकों को शरीर धातु का स्वरुप प्रदान किया जाता है।

मांस अधिक मात्रा में सेवन करने से निर्मित आहार रस में मांसधातु समान घटक अधिक मात्रा में होते हैं। परंतु उन्हें यकायक (तुरंत) ही शरीर स्वरुप प्राप्त नहीं होता। इसके लिए उन घटकों का रुपान्तर करना पडता है। यह रुपान्तर करने वाले अग्नि को मांस धात्वाग्नि कहते है। दैनंदिन व्यापार में जीर्ण हुए मांसधातु के अंश पचन कर उन्हें मांसधातु से विलग किया जाता है। उन्हे मलस्वरुप प्रदान किया जाता है। उन्हें उत्सर्जित करने के लिये पुनः रस में छोडा जाता है। साथही मांसधातु के उपधातु भी इस पचन में निर्माण किये जाते हैं। ये सभी क्रियाएं मांस धात्वाग्नि के द्वारा की जाती हैं। इस प्रकार शरीर में सात धातुओं के धात्वाग्नि कार्य करते रहते हैं। धात्वाग्नि के कार्य में स्ववैशिष्ट्य होता है। अतः उनके कार्य मे मर्यादा होती है। कायाग्नि सर्व धातु पोषक आहार पर पचनसंस्कार करने में समर्थ होता है। किन्तु धात्वाग्नि स्वधातु समान धातु घटकों पर ही कार्य कर सकता है। धात्वाग्नि की मंदता के कारण तद्-तद् धातु के अपाचित स्वरुप के घटक शरीर में संचित होने लगते हैं और शनैः-शनैः उन धातुओं की विकृत वृद्धि होने लगती है।

उदा. नितंब, स्तन, उदर इन स्थानों में होने वाली मेद धातु की अत्यधिक वृद्धि। इसके विपरीत यदि धात्वाग्नि बलवान हुआ तो वह आहाररस का पचन करते हुए धातुघटकों का भी पचन करता है और धातु नाश करता है।

३) पांचभौतिक अग्नि

मानवी शरीर पांचभौतिक होता है। उसकी वृद्धी के लिए बाह्य सृष्टी में उपस्थित पांचभौतिक द्रव्य आहार के स्वरुप में ग्रहण किये जाते हैं। इन विजातीय द्रव्यों को सजातीय पांचभौतिक स्वरुप प्रदान करने के लिए उन द्रव्यों पर पांचभौतिक अग्नि का कार्य होना आवश्यक होता है। आहार के पार्थिव घटकों पर पार्थिवाग्नि के पचन संस्कार होकर उन्हें शरीर के पार्थिव घटकों का स्वरुप प्राप्त होता है। इसी प्रकार आप, तेज, वायु तथा आकाश इन महाभूतों के अग्नि शरीर में आप, तेज महाभूतों के घटक निर्माण करते हैं। पांचभौतिक अग्नि सर्व शरीर में प्रत्येक अणु-परमाणु में कार्य करते रहते हैं। वे धात्वाग्नि रस, रक्त मांसादि धातु निर्माण करते हैं। ये सभी धातु स्वतंत्र रुप से पंचमहाभूतों से निर्मित होते हैं। परंतु प्रत्येक के महाभूत संघटन में भेद होता है। रस, रक्त, मांस इन सभी में आप, जल महाभूत है ही तथापि उनके संघटन में, रचना में तथा प्रमाण में भिन्नता है। अतः विविध स्वरुप के घटक शरीर में निर्माण होते हैं। भौतिक अग्नि द्रव्य तथा गुण का रुपान्तर करते हैं। तद्-तद् धातुविशिष्ट महाभूतों के गुण तद्-तद् द्रव्य को प्रदान करते हैं। इन भौतिक अग्नि के मर्यादित सामर्थ्य के कारण वे केवल स्वमहाभूतात्मक अंश का ही पचन करने में समर्थ होते हैं। जाठराग्नि, धात्वाग्नि तथा भूताग्नि परस्पर सहकार्य से कार्य करते हैं। जाठराग्नि के कार्य पर शेष अग्नि की स्वाभाविकता निर्भर होती है। जाठराग्नि द्वारा निर्मित आहाररस में शेष अग्नि के पोषक अंश होते हैं। जाठराग्नि के कार्य सुव्यवस्थित न होने पर शेष अग्नियों को स्वपोषक अंश नहीं मिल सकते और उनके कार्य में विकृति उत्पन्न होती है। अतः जाठराग्नि सर्वश्रेष्ठ है। विविध धातुओं को विविध स्वरुप प्राप्त होने की दृष्टी से उनमें धात्वाग्नि एवं भूताग्नि दोनों कार्यरत होते हैं। उनका संतुलित स्वरुप होने के बगैर स्वाभाविक धातु निर्माण नहीं हो सकते।

अग्नि व दोष यांचा संबंध

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः॥ ... वा. सू. १ / ८

यद्यपिं अग्नि एक ही होता है तथापि वातादि दोषों का परिणाम होकर स्वाभाविक स्थिति में उसके चार प्रकार होते हैं।

- वात के कारण विषमाग्नि,
- पित्त के कारण तीक्ष्णाग्नि,
- कफ के कारण मंदाग्नि
- समदोष के कारण समाग्नि निर्माण होते हैं।

१) समाग्नि

यः पचेत्सम्यगेवान्नं भुक्तं सम्यक् समस्त्वसौ।

जो अग्नि सम्यक् काल में सम्यक् मात्रा में ग्रहण किए आहार का सुयोग्य काल में सम्यक् पचन करता है, उसे समाग्नि कहते है।

२) विषमाग्नि

विषमो ऽ सम्यगप्याशु सम्यक् क्वाचि चिरात्पचेत।

जो क्वचित् सम्यक् पचन करता है अथवा क्वचित् आध्मान (पेट फूलना), शूल (वेदना), अतिसार, जडत्व (गौरव) आदि लक्षण निर्माण कर अन्न पचन करता है, उसे विषमाग्नि कहते है।

साथही देश, काल, मात्रा, विधि, आहार का पालन किए बगैर ग्रहण किए अयोग्य आहार का भी यह अग्नि सत्वर पचन करता है अथवा योग्य काल में योग्य आहार ग्रहण करने पर भी उसके पचन में विलंब होता है।

३) तीक्ष्णाग्नि

तीक्ष्णो वन्हिः पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम्।

विधीविरहित अन्न सेवन करने पर भी जो अग्नि सत्वर पचन करता है, उसे तीक्ष्णाग्नि कहते है। अधिक मात्रा में अन्न ग्रहण किया जाने पर भी यह अग्नि सत्वर ही उस का पचन कर देता है। इस तीक्ष्णाग्नि की योग्य काल में चिकित्सा न करने पर 'भस्मक' व्याधि होता है। इस अग्नि को पचनार्थ आहार न मिलने पर वह शरीर धातु का ही पचन करने लगता है।

४) मंदाग्नि

मन्दस्तु सम्यगप्यन्नमुपभुक्तं चिरात्पचेत्।

योग्य प्रकार से, योग्य मात्रा में, योग्य काल में अन्न सेवन करने पर भी उस का पचन जो अग्नि विलंब से करता है, उसे मंदाग्नि कहते है। पचन के दौरान मस्तिष्क जाड्य, कास (खाँसी), श्वास (थकान), प्रसेक (मुँह में पानी भर आना), उल्टी आदि लक्षण निर्माण होते हैं। इस प्रकार के अग्नि पर दोषानुसार उपचार करें। समाग्नि बना रहने की दृष्टी से योग्य प्रकार से अन्नपान करें।

अग्नि एवं पित्त - साम्य-भेद

पित्त तथा अग्नि एक ही हैं या भिन्न ?

वस्तुतः चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेद तज्ञों से लेकर आधुनिक आयुर्वेद के प्रत्येक अभ्यासक ने उपरोक्त प्रश्न का निश्चित उत्तर निम्न प्रकार से दिया है।

पित्त तथा अग्नि ये दोनों निश्चित ही भिन्न हैं।

अ) चरक

पित्त तथा अग्नि में भिन्नत्व स्पष्ट करते हुए चरकाचार्य कहते है -

अग्निरेव शरीरे पित्तांतर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यता पक्तिमपक्तिं, दर्शनमदर्शनं ... ॥ **... च.सू. १२/११**

(अग्नि यही शरीर में पित्त में प्रविष्ट होता है। वह अकुपित अवस्था में पचन तथा फलदायी कर्म करता है और कुपित होने पर अनिष्ट, अजीर्णादि विकार उत्पन्न करता है।) पित्त में अग्नि का प्रवेश इस वर्णन में ही चरक यह दर्शाते है कि अग्नि और पित्त मूलतः भिन्न ही हैं।

२) चरकोक्त उदाहरण

तप्त तैल से जलने पर हम कहते है कि, तैल से जल गया। वस्तुतः तप्त तैल में उपस्थित अग्नि की क्रिया से जलन होती है। इसी प्रकार पित्त से पचन होता है अर्थात पित्त में उपस्थित अग्नि के कारण पचन होता है।

३) पित्त तथा अग्नि के भिन्नत्व के संदर्भ में चरकोक्त और एक आधार

पित्त तथा अग्नि भिन्न होने के कारण पित्त का द्रव गुण वर्धित होकर अग्नि मंद होता है, ऐसा चरक ने ग्रहणी चिकित्सा में वर्णन किया है। यदि पित्त और अग्नि एक ही होते तो पित्तवृद्धि के कारण अग्नि भी वृद्ध हुआ होता, मंद नहीं।

सुश्रुत

सुश्रुताचार्य भी अग्नि और पित्त के भिन्नत्व का स्पष्ट वर्णन करते है।

१) समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः। इस प्रकार पित्त (समदोष) और अग्नि (समाग्नि) का स्वतंत्र उल्लेख स्वस्थ व्यक्ति का वर्णन करते हुए किया है।

२) साथही पलित (बाल सफेद होना) व्याधि का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते है कि क्रोध, शोक, श्रम इनसे उत्पन्न उष्मा और पित्त मस्तक में जाकर केश का पचन करते हैं, और इस वजह से बाल सफेद होते हैं। अर्थात् संप्राप्ति में उष्मा (अग्नि) और पित्त का स्पष्ट रुप से अलग वर्णन किया है।

३) सुश्रुत ने सूत्रस्थान में कहा है कि, जाठराग्नि साक्षात् भागवान ईश्वर ही है और बाकी द्रव्यों के विपरीत शरीर में उसका मूर्तस्वरुप में अस्तित्व नहीं देखा जा सकता। जाठराग्नि को अतिसूक्ष्म बताया गया है। किन्तु इसके विपरित पित्त वर्णयुक्त होता है। उसका रस अम्ल, कटु है, उसे गंध और साथही द्रवता भी है।

४) सुश्रुत टीकाकार डल्हण ने भी अग्नि और पित्त में भिन्नता स्पष्ट करने के लिए निम्न उदाहरण दिये हैं -

- घृत पित्त का शमन करता है, तथापि अग्नि की वृद्धी करता है।
- बकरी का दूध तथा मांस पित्त की वृद्धी करते हैं, किन्तु अग्नि मंद करते हैं।
- दिवास्वाप के कारण पित्त वर्धित होता है, लेकिन अग्नि मंद होता है।

अग्नि और पित्त के भिन्नत्व के विषय में आशंका किस कारण ?

उपरोक्त वर्णन से अग्नि और पित्त भिन्न हैं, यह स्पष्ट होता है। तथापि अग्नि और पित्त एक ही हैं, यह आशंका क्वचित किस कारण निर्माण होती है? इसका कारण भी सुश्रुत संहिता में ही बताया गया है। सुश्रुत ने ही सूत्रस्थान में निम्न प्रकार से प्रश्न उपस्थित किया है -

अत्र जिज्ञास्यं किं पित्त व्यतिरेकादन्योऽग्निः ?
अहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ॥ **... सु.सू. २१/९**

इस श्लोक के अनुसार, पित्त के बगैर अग्नि की उपलब्धता नहीं होती। सुश्रुत के अनुसार, पित्त ही अग्नि है। किन्तु इस श्लोक के द्वारा आशंका निर्माण करने का सुश्रुत का उद्देश नहीं है, बल्कि यह विषद करना चिकित्सा की दृष्टी से सहायक है। अर्थात् -

अग्नि पर चिकित्सा करनी हो तो पित्त पर चिकित्सा करनी चाहिए।

यह महत्त्वपूर्ण संदेश इससे मिलता है।

सारांश

उपरोक्त संपूर्ण विषय के सारांश स्वरूप में निम्न मुद्दे महत्वपूर्ण हैं -

१) अग्नि और पित्त ये दोनों भिन्न तथापि निकट संबंधि हैं।

२) अग्नि यह पित्तांतर्गत उष्मा है।

३) अग्नि यह महाभूत कारण द्रव्य है और पित्त यह अग्निगुणभूयिष्ठ पांचभौतिक कार्यद्रव्य है।

४) अग्नि और पित्त में होने वाले सामायिक उष्ण, तीक्ष्ण गुण के कारण पचन यह समायिक कार्य होता है, किन्तु पित्त के वर्णप्रकाशन, उष्मा नियंत्रण आदि अन्य कार्य भी हैं।

५) उष्ण, तीक्ष्ण गुणों के व्यतिरिक्त पित्त में उपस्थित संस्नेह, विस्त्र तथा द्रव गुण अग्नि में नहीं होते।

आहार परिणामकर भाव

Factors responsible for digestion.

आहार परिणामकारस्तु इमे भावा भवन्ति।

तद्यथा उष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति॥

तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनाम् आहारपरिणामकराणां भावानाम् इमे कर्मविशेषाः भवन्ति तद्यथा - उष्मा पचति, वायुः अपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यं आपादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिः अभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः संपद्यते। ... च. शा. ६ / १३, १४

अन्न पचन के दोन हेतु हैं – अ) प्रधान हेतु ब) सहायक हेतु

उष्मा यह प्रधान हेतु और श्लेष्मा, स्नेह, वायु, काल यह सहायक हेतु है।

अ) प्रधान हेतु

जाठराग्नि (उष्मा)

- **उष्मा पचति।** ... च. शा. ६/१३

  अग्नि पित्तांतर्गत होकर कार्य करता है, ऐसा चरकाचार्य ने कहा है।

- **अग्निरेव शरीरे पित्तांतर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति।**

  तद्यथा पक्तिम अपक्तिम्॥ ... च. सू. १२/१४

  सुश्रुत के अनुसार भी पित्त व्यतिरेक से अग्नि यह दूसरा पदार्थ नहीं।

- **एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।**

  पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यम् ओदनायांबुतंडुलम्॥ ... च. चि. १५/५

जिस प्रकार बाह्य अग्नि (स्थूल व्यवहार में - आग) स्थालि अर्थात बर्तन में पानी और चावल को भात में रुपान्तरित करता है, उसी प्रकार आमाशयस्थ अन्न जाठराग्नि के द्वारा रस निर्मिती और मलोत्पत्ति के द्वारा पचन किया जाता है।

सुश्रुताचार्य ने कहा है कि, आमाशय और पक्वाशय में स्थित अग्नि चतुर्विध अन्न का पचन कर, उस का विवेचन कर, दोष-रस-मूत्रादि की उत्पत्ति करता है।

तात्पर्य सभी आचार्यों के अनुसार अन्न का पचन जाठराग्नि के द्वारा होता है।

यद्यपि अग्नि अचिंत्य होता है, फिर भी वह पाचक पित्त आश्रित होने के कारण उपचार की दृष्टी से उसे भी मूर्त कहा गया है। पित्त को ही अग्नि कहा गया है। उष्ण तैल से जलने पर जलन यह क्रिया तैल के कारण न होकर उसमें उपस्थित उष्णता के कारण होती है, इसी प्रकार यहाँ भी होता है। पित्त पचन करता है, इसका अध्यहृत अर्थ है - पित्त में उपस्थित अग्नि पचन करता है।

पाचक पित्त और अग्नि एक ही हैं, परंतु रंजक, भ्राजकादि पित्त तथा अग्नि भिन्न होते हैं। अ.हृ.सू. १२/१२ पर टीका में यह समन्वय मिलता है।

वायु

प्राण - अपान - समान यह स्वस्थान में प्राकृत होने पर प्राणापान द्वारा अग्निध्यापन, समान द्वारा अग्निपालन होता है। इस प्रकार जाठराग्नि इन वायुओं पर निर्भर होता है। इसमें से प्राण यह वक्त्रसंचारी, समान का आमाशय, पक्वाशय संचार

और अपान पक्वाशय संचारी होता है। कुल मिलाकर तीनों वायु महास्रोतस में संचार करते हैं।

अ) प्राणवायु

आहार का मुखप्रवेश, उसका दाँतों द्वारा चर्वण, कवल निर्माण कर उसे निगलना, आहार को अन्ननाडी के द्वारा आमाशय में पहुँचाना आदि सभी अन्न आदान कर्म नियंत्रण प्राणवायु के द्वारा होते हैं। प्राणवायु स्पर्शगम्य न होकर अनुमानग्राह्य होता है। अन्न का आमाशय अथवा कोष्ठ में वहन होना आवश्यक होता है। यह वहन गति प्राण की है।

ब) समान वायु

यह आमाशय, ग्रहणी, कोष्ठ आदि कोष्ठ स्थानों में संचार करता है। समान वायु भी प्रत्यक्ष न होकर कार्यानुमेय ही होता है। वह अग्निसंधुक्षण कर पचन कार्य में सहायता करता है। पाचित अन्न में स्थित वात, पुरीष, मूत्र का विभाजन करने में यही वायु सहकार्य करता है। साथही पक्व आहाररस का रसायनी द्वारा शोषण होकर उसका आगे वहन समान के द्वारा ही होता है। आमाशय में पचन के समय होने वाले गति, मंथन, आंदोलन आदि कार्य समान के द्वारा किए जाते हैं। कोष्ठाश्रित विविध ग्रंथीयों को पाचक स्राव स्रवण करने की प्रेरणा देना, स्राव ग्रहणी तक वहन करना ये सभी क्रियाएं समानवायु के द्वारा ही की जाती हैं।

क) अपान वायु

स्थूलांत्र अथवा पक्वाशय में यह वायु संचार करता है। अन्न पचन के अंततः जो अन्नकिट्ट पक्वाशय में आता है, उसमें से मूत्र और पुरीष पृथक् करने का कार्य अपानवायु के द्वारा होता है। इस प्रकार अपान वायु अप्रत्यक्षतः अन्न पचन में सहायता करता है।

ब) आहार पचन में अन्य सहायक भाव

क्लेद तथा स्नेह

अन्न को शैथिल्य प्रदान करने का कार्य करता है।

अन्न को मृदुता प्रदान करता है। क्लेद तथा स्नेह भाव के कार्य प्रायः क्लेदक तथा बोधक कफ करते हैं। इनमें से बोधक कफ जिव्हा मूल के पास कंठप्रदेश में उत्पन्न होता है और क्लेदक कफ आमशय में निर्माण होता है। रसबोधन कर्म के द्वारा अप्रत्यक्ष रुप

से बोधक कफ अन्नपचन में सहायता करता है। क्लेदक कफ आमाशय के ऊर्ध्व भाग में स्रवित किया जाता है।

आमाशये संभवति श्लेष्मामधुरशीतलः।

इस कफ के कारण अन्न का कठिन्य दूर होकर वह क्लिन्न, मुलायम, आर्द्र बन जाता है। क्लेदक कफ के संस्कार के कारण अन्न अगले पचन की दृष्टी से सुयोग्य बन जाता है। अन्न का भिन्न संघात होने से सूक्ष्मत्त्व एवं शोषण सुलभता प्राप्त होती है। इस प्रकार ये भाव अन्नपचन में सहायता करते हैं।

अन्न के साथ तथा अलावा ग्रहण किया गया जल, साथही विविध स्त्रावों में उपस्थित जलांश, तक्र, दुग्ध, फलों के रस, लालास्त्राव, पाचकरस इनके कारण आहार का मूल स्वरुप बदलकर वह पतला, शिथिल हो जाता है। ऐसे अन्न पर अग्निकार्य होता है, अर्थात् द्रव तथा स्नेह ये दो भाव पचन में शामिल होते हैं।

काल

आहार परिणामन के लिए कुछ काल आवश्यक होता है। अष्टांग संग्रहकारों के अनुसार, गुरु अन्न का पचन चार याम अर्थात आठ घंटों में होता है। यह काल आहार पचन के लिए लगने वाला अधिकतर काल है। तीक्ष्णाग्नि के कारण चार घंटे पहले भी पचन होता है और मंदाग्नि के कारण आठ घंटों से भी अधिक कालावधी की आवश्यकता हो सकती है।

समयोग

उष्मा, वायु, क्लेद, स्नेह इन सभी का सम्यक् योग होने पर ही अन्नपचन सुव्यवस्थित होता है। अग्निबल के समान ही आहारमात्रा एक भाग घन, एक भाग द्रव और एक भाग दोषों के लिए शेष रहे इस प्रकार से ग्रहण किया आहार ठीक से पचता है। इन सभीं भावों के सम्यक् योग की पचन के लिए नितांत आवश्यकता होती है।

आहारविधी विशेषायतन विचार

तत्रखल्विमान्यष्टौ आहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति।

तद्यथा प्रकृति - करण - संयोग - राशि - देश - काल - उपयोगसंस्था - उपयोक्ता - इति अष्टेमानि भवन्ति। ... च. वि. १/२०

पांचभौतिक देह के पोषण के लिए ग्रहण किया गया आहार पांचभौतिक, चतुर्विध, षड्रसयुक्त, गुर्वादिविंशति गुणयुक्त, उष्णशीत आदि द्विविध वीर्ययुक्त इस प्रकार विविध दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण होता है। तथापि किसी भी स्वरुप का आहार सेवन करते हुए कुछ विशेष नियमों का (विशेष + आयतन = विशेषातयन) विचार करना आवश्यक होता है। इन विशेष आठ नियमों को अष्टोआहार विधी विशेषायतन कहते है, जैसे -

१) प्रकृति २) करण ३) संयोग ४) राशि

५) देश ६) काल ७) उपयोग संस्था ८) उपयोक्ता

१) प्रकृति

तत्र प्रकृतिः उच्यते स्वभावो यः स पुनः आहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः तद्यथा माषमुद्गयोः शूकरैणयोश्च। ... च. वि. १/२१

प्रकृति का अर्थ है - द्रव्य का स्वभाव।

अन्नपदार्थ के स्वभाव, गुण का ज्ञान प्राप्त करना हितकारक होता है। इस ज्ञान के आधार पर वह पदार्थ कितनी मात्रा में सेवन करना प्रशस्त है, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

उदा. मूँग, खील, उष्ण जल स्वभावतः ही लघु गुण के होते हैं। अतः व्याधि पीड़ित व्यक्ति को इनके सेवन की सलाह दी जाती है। इसके विपरीत श्रीखंड, रबडी ये पदार्थ गुरु गुण के होने के कारण अग्नि कितना भी बलवान होने पर भी इनका सेवन अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।)

२) करण

करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणा अभिसंस्कारः।

संस्कारो हि गुणांतराधानं उच्यते।

ते गुणाश्च तोयअग्नि सन्निकर्ष शौच मन्थन देश कालवशेन भावनादिभिः कालप्रकर्षभाजनादिभिश्चाधीयन्ते। ... च. वि. १/२२

करण का अर्थ है - संस्कार।

(संस्कारो नाम गुणान्तराधानम्।)

जिस कृति के कारण द्रव्य के गुण में बदलाव आता है, उस कृति को संस्कार कहते है।

उदा. भोजन पकाने के दौरान परोसना, तलना, पकाना, कूटना, मंथन करना ऐसे विविध संस्कारों का उपयोग किया जाता है जिससे सुयोग्य, अपेक्षित बदलाव किये जाते हैं। सामान्यतः भूनना और पकाना इन संस्कारों के कारण पदार्थ पचने में हल्का हो जाता है (कच्चे पदार्थ की अपेक्षा)। तेल में तलने से पदार्थ विदाही, पित्तकर हो जाता है। दही स्वभावतः ही अभिष्यंदी अर्थात् शरीर में स्राव बढाकर कफप्रकोप करने वाला है, किन्तु दही का मंथन कर बनाया गया तक्र पथ्यकर (तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्।) होता है।

३) संयोग

संयोगास्तुः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः स विशेषमारभते, यं पुननैकशो द्रव्याण्यारभन्ते, तद्यथा मधुसर्पिषो, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः॥

... च. वि. १ / २३

संयोग का अर्थ है - दो भिन्न द्रव्यों का एकत्रिकरण।

कुछ पदार्थों में संयोगविरुद्ध गुण दिखाई देता है।

उदा. आयुर्वेद ने फलों को उष्ण और दूध को शीत माना है। इसी लिए फल और दूध के संयोग स्वरूप में निर्मित फ्रूटसॅलड जैसे पदार्थ आयुर्वेद के अनुसार निषिद्ध (विरुद्ध आहार) होते हैं। मधु तथा घृत ये द्रव्य स्वतंत्र रुप से अत्यंत उपकारक होते हैं, किन्तु सम मात्रा में एकत्र करने पर अत्यंत हानीकारक होते हैं।

४) राशी

राशिस्तु सर्व ग्रहपरिग्रहौ, मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः।

प्रकृतः तत्र सर्वस्य आहारस्य प्रमाणग्रहणं एक पिण्डेन सर्वग्रहः, परिग्रहश्चः पुनः प्रमाणग्रहणम् पकैकत्वेनाहारद्रव्याणाम्।

सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रह सर्वतश्च परिग्रहः उच्यते। ... च. वि. १/२४

राशी का अर्थ है - प्रमाण / मात्रा।

प्रत्येक व्यक्ति के लिये भोजन सुयोग्य मात्रा में ही लेना प्रशस्त है। धार्मिक अथवा अन्य कारणों से किये गए अति उपवास अथवा अति लंघन के कारण वातप्रकोप होकर दौर्बल्य, मूर्च्छा ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। आवश्यकता से अधिक मात्रा में,

केवल जिव्हालौल्य के खातिर अतिमात्रा में मधुर रसात्मक, गुरु आहार लेने वाले व्यक्ति स्थौल्य, प्रमेह आदि व्याधियों से ग्रस्त होते हैं।

राशी अथवा प्रमाण का विचार दो प्रकार से किया जाता है।

- **सर्वग्रह** – अर्थात् संपूर्ण आहार का एकत्रित विचार कर सुनिश्चित की गई मात्रा।
- **परिग्रह** – अर्थात् भोजन के विशिष्ट घटकों की विशिष्ट मात्रा।

भोजन/आदर्श अन्नपान की मात्रा के संदर्भ में निम्न श्लोक के द्वारा मार्गदर्शन किया गया है।

द्वौ भागो पूरयेत अन्नैः तोयेनैकं प्रपूरयेत।

मारुतस्य प्रचारार्थ चतुर्थ अवशेषयेत्॥

गुरुणां अर्ध सौहित्य, लघुना ना ऽ तितृप्तता॥

५) **देश**

देशः पुनः स्थानं,स द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे। ...च.वि.१/२५

इसका दो प्रकार से विचार करना पड़ता है।

- भूमि देश
- मनुष्य शरीर स्वरुपी देश

इनमें से भौगोलिक सीमा के संदर्भ में जो भूमिदेश है, उसका वर्णन आयुर्वेद ने साधारण, आनूप और जांगल इन तीन दोषप्रकारों में किया है। जांगल देश वातप्रधान, अति रुक्ष तथा उष्ण होने के कारण राजस्थान जैसे प्रदेश के निवासी को दूध, तूप जैसे स्निग्ध पदार्थ अधिक खाने चाहिए। मनुष्य देहरुपी देश का विचार करते हुए वह व्यक्ति शाकाहारी है अथवा मांसाहारी है, यह जानना आवश्यक है। व्यक्ति के प्रकृति के अनुसार भी आहार्य पदार्थ का चुनाव करना पडता है।

६) **काल**

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च।

तत्र आवस्थिको विकारं अपेक्षते, नित्यगस्तु ऋतुसात्म्यापेक्षः।

काल का विचार करना भोजन के दौरान आवश्यक है। इसी सिद्धांत पर ही ऋतुचर्या का विचार स्थापित है।

उदा. ग्रीष्म ऋतु में अति तीखे, पित्तप्रकोपक पदार्थ टालने चाहिए यह विचार काल के अनुरुप है।

सामान्यतः तद्-तद् ऋतु में निर्माण होने वाले फलों का सेवन करना प्रशस्त है।

उदा. गरमी में द्राक्ष, करवंद आदि का सेवन करें। नित्य भोजन भी समय पर ही करें। अकाल भोजन दोषप्रकोपक होता है।

बाल्य, तारुण्य तथा वार्धक्य ये अवस्थाएं भी काल के अनुसार ही हैं। अतः इन विशिष्ट अवस्थाओं में विशिष्ट आहार सेवन करने का उपदेश किया गया है। वार्धक्यावस्था में अति रुक्ष, अति शीत पदार्थ अहितकारक होते हैं।

७) **उपयोग नियम / उपयोग संस्था**

उपयोगसंस्था तु उपयोगनियमः स जीर्णलक्षणापेक्षः॥ ... च. वि. १/२८

प्रत्यक्ष भोजन समय में पदार्थ किस प्रकार के होने चाहिए ? आसपास का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए ? भोजन करने वाले व्यक्ति का आचरण किस प्रकार होना चाहिए ? इस संबंध में आयुर्वेद में अत्यंत उपयुक्त मार्गदर्शन किया है। इसीको **आहार विधी विधान** यह पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। इन नियमों का और उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का विचार करते है।

तत्र इदं आहारविधि विधानम् अरोगानाम् आतुराणां च केषांचित्काले प्रकृति एव हिततमं भुञ्जानानां भवति उष्णं स्निग्धं मात्रावत् जीर्णे वीर्यविरुद्धम् ईष्ट देशे ईष्ट सर्वोपकरणं नाति द्रुतम् नाति विलंबितम् न जल्प अन्न अहसन तन्मना भूञ्जीत आत्मानम् अभिसमीक्ष्य सम्यक्॥ ... च. वि. १/३६

८) **उपयोक्ता**

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते, यदायत्तमोकसामत्म्यम्।

इति अष्टौ आहारविधिविशेषातनानि भवन्ति॥ ... च.वि.१/२८,२९

जो आहार ग्रहण करता है, उसे उपयोक्ता कहते है। किसी आहार्य पदार्थ में रुचि -अरुचि यह धारणा व्यक्तिसापेक्ष होती है। आदत के परिणाम स्वरूप कोई पदार्थ अपथ्यकारक अथवा पथ्यकारक होता है।

उदा. कुछ व्यक्ति अधिक तीखा पसंद करते हैं, तो कुछ कम।

इस प्रकार उपरोक्त आठों मुद्दों को आहार विधिविशेष आयतन कहते हैं। इस प्रकार विचार कर, आहार लेने से आरोग्य उत्तम रहता है।

(1) **उष्णं अश्नीयात**

भोजन नित्य ताजा और गरम होना चाहिए। इससे अग्निसंधुक्षण तथा पचन सुव्यवस्थित होने में सहायता होती है। गरम अन्न को स्वाद भी विशिष्ट तथा उत्तम प्रकार का होता है।

सामान्यतः आमाशय का तापमान १००° सें. इतना अर्थात् उबलते पानी के तापमान जितना होता है। इससे कम तापमान पर पचनकार्य नहीं हो सकता। तापमान कम होने पर पचन बिगडता है, अतः भोजन के पूर्व पानी नहीं पीना चाहिए, क्यौं कि शीत जल आमाशय का तापमान कम करता है। अतः मूल तापमान प्राप्त होने में कुछ समय खर्च होता है। स्वाभाविक रुप से ही पानी पीकर किया हुआ भोजन ठीक से पचता नहीं। थंडे, बासी भोजन से भी यही परिणाम होता है। ऐसे भोजन के पचन के लिए व्यर्थ ही उष्णता खर्च होती है। अतः उष्णम् अश्नियात्। ऐसा कहा गया है। इस संकेत के अनुसार ताजा, उष्ण भोजन पचनकार्य में सहायता करता है।

(2) **स्निग्धं अश्नीयात**

तैल-घृत का यथायोग्य उपयोग करने से अंतडीयों की प्राकृत गतिविधि हो सकती है। शरीर पुष्टी की दृष्टी से लाभ हो सकता है। सद्य काल में चपाती, सब्जी, दाल, घी इस नित्य आहार की अपेक्षा वडापाव, पावभाजी, Canned food, सेंव, चिवडा जैसे पदार्थ के अति सेवन के कारण अपचन, गॅसेस, मलावष्टंभ आदि व्याधि बढते ही जा रहे हैं।

(3) **मात्रावत् अश्नीयात**

योग्य मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए।

(4) **जीर्णे**

पहले सेवन किया हुए अन्न का पचन होने के पश्चात ही पुनः अन्न सेवन करें।

आहार पचन के लक्षण निम्न हैं।

१) पुनः क्षुधा की अनुभूति होना।
२) पेट में हल्कापन महसूस होना।
३) शुद्ध उद्गार।
४) मलमूत्र विसर्जन सुखपूर्वक होना।

(5) **वीर्यविरुद्ध**

वीर्यविरुद्ध अन्न सेवन न करें। उदा.- फ्रूटसॅलड आदि विरुद्ध अन्न खाने से चिरकालीन त्वक् विकार हो सकते हैं।

(6) **ईष्ट देशे ईष्ट सर्वोपकरणे**

भोजन का स्थान स्वच्छ तथा प्रसन्न होने से उसका परिणाम मन तथा शरीर पर होता है। योग्य मात्रा में पाचक स्त्रावों की निर्मिती होती है। बर्तन भी साफ होने चाहिए। स्टार होटल और छोटे होटल के स्तर का विचार करने पर 'ईष्ट देशे ईष्ट सर्वोपकरणे।' यह अंतर स्पष्ट होता है।

(7) **नातिद्रुतम्**

न + अति + द्रुतम् अर्थात जल्दबाजी में भोजन न करें। इससे अन्न कितना भी अच्छा, स्वादिष्ट, पोषक होने पर भी उसका अपेक्षाकृत लाभ नहीं होता। लोकल, बस पकडनी है अथवा स्कूल, ऑफिस के लिए देर हो जाएगी इस भावना से जल्दबाजी में चार निवालें गटकना सर्वथा अयोग्य है।

(8) **नातिविलंबीतम्**

जल्दबाजी के समान ही अत्यंत विलंब के साथ भोजन करना भी अप्रशस्त है।

(9) **अजल्पन् (अहसन्)**

भोजन के समय चित्तवृत्ति आहार ग्रहण के प्रति ही होनी चाहिए। बाते करते हुए, हँसते-खेलते भोजन न करें (बफेट = बुफे प्रकार का भोजन)। अन्न सेवन की ओर ध्यान न होने से अधिक अन्न खाने के कारण पचन विकृति निर्माण हो सकती है। (अहसन का अर्थ है - गांभीर्यता से भोजन करना. चित्तवृत्ती प्रसन्न न रखना यह नहीं।)

(10) **तन्मना भुंजीत आत्मानम् अभिसमीक्ष्य सम्यक्**

खुद की अन्न की आवश्यकता पहचानकर, मन लगाकर भोजन करें। इससे अन्न सेवन का सुयोग्य परिणाम शरीर और मन पर होता है।

(11) **उपभोक्ता**

उपभोक्ता का अर्थ है - भोजन ग्रहण करने वाली व्यक्ति।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी आयु, बल, अग्नि, कोष्ठ, सात्म्य का और रुग्ण को पथ्यापथ्य का विचार करके ही आहार सेवन करना चाहिए।

पचन प्रक्रिया में महत्वपूर्ण तीन अवस्था (अवस्थापाक)

अविदग्धः कफं पित्तं विदग्धःपवनं पुनः ।

सम्यग्विपक्वोनिस्सारः आहारः परिबृहयेत् ।। ... सु. सू. ४६ / ५३४

बाह्य सृष्टी से प्राप्त किए अन्न पदार्थ से आहार रस की निर्मिती होने के लिए जो स्थूल पचन होता है वह मुख्यतः तीन अवस्थाओं अथवा स्तरों में होता है । इसीको अवस्थापाक, ग्रपाक अथवा परिणामन कहते है । ये अवस्थाएं निम्न प्रकार की होती हैं -

१) प्रथमावस्था - अविदग्धावस्था - मधुर अवस्था

स्थान

इस अवस्था में मुख से प्रारंभ होता है । मुख्यतः आमाशय के स्थान में इस अवस्था का पचन होता है ।

काल

अति लघु अथवा अति गुरु पदार्थ के व्यतिरिक्त सर्वसामान्य नित्य आहार में भोजन के पश्चात पहले तीन से साडेतीन घंटे यह मधुरावस्था का काल होता है ।

पचन क्रिया

पांचभौतिक आहार का सेवन करने पर प्रथम पृथ्वी तथा जल महाभूत घटकों का विघटन होने लगता है । सामान्यतः पृथ्वी और जल महाभूतों के द्रव्य में मधुर रस की मात्रा अधिक होती है, किन्तु प्रत्येक पदार्थ पांचभौतिक होने से पृथ्वी, जल महाभूत घटकों की मात्रा अत्यल्प होने पर भी इन्हीं घटकों का विघटन सर्वप्रथम होने लगता है । पृथ्वी, जल महाभूत घटकों का विघटन, शरीर सात्म्य स्वरुप में परिवर्तन होने से ही इस अवस्था में अन्न को मधुरता प्राप्त होती है ।

कफदोष उदीरण

सामान्य विशेष सिद्धांत के अनुसार पृथ्वी, जल महाभूत प्रधान कफदोषों का उदीरण होता है, अतः इस अवस्था में कफ के कारण शिथिलीकरण होता है ।

शरीर पर बाह्य लक्षण

प्रथमावस्था में कफदोषों का उदीरण होने से ही भोजन के पश्चात मंदता, सुस्ती, आलस्य, मुँह में मीठा पानी छुटना, तृप्ती ये कफ के लक्षण दिखाई देते हैं ।

इस लक्षण की विशेषता यह है कि, केवल कफकर तथा मधुर पदार्थ के सेवन से ही उपरोक्त लक्षण नहीं दिखते, साथही चिवडा, वडापाव जैसे मधुर स्वाद न होने वाले पदार्थ खाने पर भी प्रथमावस्था में कफ के उदीकरण के कारण ये लक्षण दिखते हैं । चरकाचार्य ने प्रथमावस्था में होने वाले सभी लक्षणों का विवेचन निम्न श्लोक में किया है ।

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।

मधुराद्यात कफोद् भावात फेनभूत उदीर्यते ।। ... च. चि. १५/८

अर्थ - सेवन किये गए षड्रसात्मक अन्न के प्रथम पाक से आद्य मधुर भाव से फेनभूत कफ उदीरित होता है ।

२) द्वितीय अवस्था - विदग्धावस्था - अम्ल अवस्था

स्थान

पचन की मुख्य क्रिया इस अवस्था में होती है, अतः इस अवस्था को विदग्धावस्था कहते है । यह क्रिया मुख्यतः ग्रहणी के स्थान में अधिक्य से होती है ।

काल

अति लघु अथवा अति गुरु वर्जित नित्य आहार का विचार करते हुए छह से साडे छह घंटों तक इस अवस्था का काल होता है ।

पचन क्रिया

द्वितीयावस्था में मुख्यतः आहार में स्थित तेज महाभूत के घटकों का विघटन होता है । सृष्टी में स्थित विजातीय घटकों को शरीर उपकारक स्वरुप प्राप्त कराने का कार्य चलते ही रहता है । इस अवस्था में अन्न को अम्लता प्राप्त होती है ।

पित्त दोष उदीरण

सामान्य विशेष सिद्धांत के अनुसार इस अवस्था में तेज महाभूतप्रधान पित्तदोष का उदीकरण होकर पचन में सहायता होती है ।

शरीर पर बाह्य लक्षण

द्वितीयास्था में पित्तदोष उदीरण होने से प्रत्यक्ष पचन के दौरान शरीर में क्वचित गरमाहट का अहसास होता है । प्रथमतः आर्द्र हुआ मुख शनैः-शनैः शुष्क होने की भावना

उत्पन्न होती है। द्वितीयावस्था का स्पष्टीकरण चरकाचार्य ने निम्न श्लोक के द्वारा किया है।

परं तु पच्यामानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।

आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ ... च. चि. १५/९

अर्थ – तथापि पचन के दौरान आशय (आमाशय) से नीचे आने वाले विदग्ध अन्न के अम्लभाव से अच्छ (अघन) पित्त उदीरीत होता है।

यह पित्त 'त्यक्त द्रवत्व' इस स्वरुप का होता है।

३) तृतीय अवस्था – पक्वावस्था अथवा कटु अवस्था

यह अवस्थापाक की अंतिम अवस्था है। इसी अवस्था के अंत में सृष्टी से लिये गये आहार का पचन प्राथमिक स्तर पर पूर्ण होकर धातु निर्मिति के लियें आवश्यक आहाररस की निर्मिति होती है।

स्थान

मध्य कोष्ठ के अंत में पक्वाशय के स्थान में स्थूल पचन की अंतिम अवस्था दिखाई देती है।

काल

छह - साडेछह घंटों के पश्चात बारह घंटों तक अनिश्चित काल में अंतिम अवस्था में यह पचन पूर्ण होता है।

पचन क्रिया

पांचभौतिक घटकों में से शेष अर्थात् वायवीय तथा आकाशीय महाभूत घटकों का विघटन इस अवस्था में अधिक्य से होता है।

इस अवस्था में अम्लीभूत अन्न का पचन होकर उसे कटुभाव प्राप्त होता है।

वात दोष उदीरण

सामान्य विशेष सिद्धांत के अनुसार इस अवस्था में वात दोष का उदीकरण होता है। (वात अव्यक्त होता है, अतः वात दोष का उदीरण अर्थात् वातदोष का वियोग यह कार्य अधिकतर तृतीयावस्था के अंत में होता है।)

अवस्था	स्थान	विघटक महाभूत	दोष उदीरण	चिकित्सा
मधुरावस्था	आमाशय	पृथ्वी + आप	कफ	वमन
अम्लावस्था	ग्रहणी	तेज	पित्त	विरेचन
पक्वावस्था	पक्वाशय	वायु + आकाश	वात	बस्ति

शरीर पर बाह्य लक्षण

सार किट्ट विभजन की प्रक्रिया संपूर्ण होने पर अपने-आप पचनक्रिया पूर्ण होने की इस तृतीयवस्था के समीप वात दोष का हलचल (गतिविधि) यह कार्य बाह्यतः भी प्रतीत होता है। अन्न पचन के पश्चात व्यक्ति की हलचलें (गतिविधियाँ) बढती है, उत्साह प्राप्त होता है, पुनश्च अग्निसंधुक्षण होकर क्षुधा की भावना उत्पन्न होती है। तृतीयावस्था का ग्रंथोक्त संदर्भ निम्न प्रकार से है।

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वन्हिना।

परिपिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात् कटु भावतः ॥ ... च.चि.१५/१०

अर्थ – परंतु पक्वाशय में प्राप्त हुए अग्नि द्वारा शोषण किए जा रहे परिपिण्डित पक्व अन्न के कटु भाव से वायु निर्माण होता है।

टिप्पणि – उपरोक्त श्लोक में 'शोष्यमाणस्य वन्हिना' ये शब्दा विशेष अर्थपूर्ण हैं। अग्नि द्वारा अन्न का शोषण किस प्रकार होता है, यह स्पष्ट करने के लिए समर्पक उपमा दी गई है। जिस प्रकार तप्त तवे पर डालने से पानी क्षण में ही भाप बनकर उड जाता है, अदृश्य होता है, उसी प्रकार तृतीय अवस्थापाक में अग्नि के कारण आहाररस का तत्काल (रक्तवाहिनियों के द्वारा) शोषण किया जाता है।

उपरोक्त श्लोक में और एक महत्त्वपूर्ण शब्द है - 'परिपिण्डित पक्वस्य'।

परिपिण्डित का शब्दशः अर्थ है - पक्व, पकाया हुआ चावल का गोला।

किन्तु इसका गर्भितार्थ यह है कि, चावल पकने के दौरान अग्नि + चावल + जल इस हर एक पदार्थ का स्वरुप स्वतंत्र रुप से दिखाई देता है। तथापि चावल पूर्णतः पकने पर चावल का दाना (परिपिण्डित) यह पूर्णत्व प्राप्त हुआ तथा अग्नि + चावल + जल इन तीनों घटकों से संमूर्च्छता प्राप्त पदार्थ होता है। आहार पचन में भी अन्न + अग्नि (पाचकपित्त) + आर्द्रता (कफ) इनके एकत्रिकरण से तृतीयावस्थापाक में अन्न को पूर्णपाचित स्वरुप प्राप्त होता है।

अवस्थापाकों के काल

स्वरुप

कौनसा अवस्थापाक कितने समय तक होगा यह अन्न के स्वरुप के साथही संबंधित व्यक्ति की प्रकृति अथवा अग्नि स्वरुप पर निर्भर होता है।

उदा. कफ प्रकृति अथवा मंदाग्नि व्यक्ति में प्रत्येक अवस्थापाक यदि दीर्घकाल तक हुआ तो तीक्ष्णाग्नि व्यक्ति में पचन सत्वर होता है। अतः प्रत्येक अवस्थापाक का काल अल्प होगा।

अवस्थापाक में महत्त्वपूर्ण घटक

अ) बाह्य सृष्टी में स्थित अन्न पदार्थों का विजातीय स्वरुप रुपान्तर कर सजातीय रुप प्राप्त होना यही परिणमन है, पचन है। इसी लिए अवस्थापाक शद्ब में 'पाक' शद्ब उपस्थित है।

ब) क्रमशः महाभूतों मे स्थित विशिष्ट घटकों का विघटन होने से तथा उस समय विशिष्ट दोषों का उदीरण होने से तीन अवस्थाएं स्वतंत्र रुप से वर्णन की गई हैं।

क) तीन अवस्थाओं में महाभूत घटकों का विघटन, विलगीकरण होता है, किन्तु उन महाभूत घटकों का अंतिम पचन, परिणमन भौतिकाग्नि के द्वारा स्थूल पचन के पश्चात होता है।

ड) तीनों अवस्थाओं में विभिन्न दोषों का उदीरण।

अवस्थापाक का चिकित्सा में उपयोग

विशिष्ट अवस्थापाक का काल और संबंधित दोषों के उदीरण का चिकित्सा के दौरान ध्यान रखना पडता है।

उदा. पेट में दर्द होने की शिकायत लेकर रुग्ण आने पर, भोजन के पश्चात कितने समय के बाद दुखना शुरु होता है, इससे किस अवस्थापाक में और उससे किस दोष में विकृति है, यह अनुमान से समझा जा सकता है।

अवस्थापाक ज्ञान के लिए निसर्गावलोकन

सृष्टी में स्थित विविध वस्तुओं में वातावरण की उष्णता के कारण विशिष्ट अवस्थाओं द्वारा बदलाव होता रहता है।

उदा. ताजा अदमुरा दही मधुर, शीत, गुरु, कफकर गुणात्मक होता है। यही दही छह घंटों तक खुला रखने पर उसमें वातावरण की उष्णता के कारण अम्ल अवस्थापाकसदृश बदलाव होते हैं और वह स्वाद में अम्ल बन जाता है और पित्तकर गुण का होता है। इसी दही का वातावरण की उष्णता से पुनः संपर्क रहने पर वह फूटने लगता है। उसमें बुलबुलें दिखने लगते है और वह स्वाद में कटु बन जाता है। यह कटु अवस्थापाक सदृश बदलाव है।

विपाक

आहार अथवा औषधि द्रव्य का संपूर्ण पचन होने के पश्चात आहार का जो अंतिम रस निर्माण होता है, उसीको विपाक कहते है।

आहारस्य परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः।

विपाक सेवन किये दव्य के रस पर निर्भर होता है और इसके अनुसार विपाक के तीन प्रकार होते हैं।

१) मधुर, लवण रसयुक्त द्रव्य का - मधुर विपाक

२) अम्ल रसयुक्त द्रव्य का - अम्ल विपाक

३) कटु, तिक्त, कषाय रसयुक्त द्रव्य का - कटु विपाक

कार्य

विपाक	कार्य
मधुर विपाक	सृष्टविण्मूत्र, शुक्रल, कफकर
अम्ल विपाक	सृष्टविण्मूत्र, शुक्रघ्न, पित्तकर
कटु विपाक	बद्धविण्मूत्र, शुक्रघ्न, वातकर

मधुरादि अवस्थापाक के पश्चात भी द्रव्य अपना मूल स्वरुप नहीं छोडता। किन्तु विपाक में द्रव्य अपना मूल स्वरुप त्याग कर रसांतर युक्त बनता है।

स्थानों के अनुसार अवस्थापाक होते हैं और द्रव्यों की भूतादिक स्थिति के अनुसार विपाक होता है। अवस्थापाक तत्-तत् द्रव्य नियत होता है और विपाक प्रतिद्रव्य नियत होता है।

द्रव्य का पचन होने पर उसमें जो रस निर्माण होता है, वह विपाक 'स्थायी' होता है। अतः विपाक को ही 'निष्ठापाक' भी कहा जाता है।

मधुरविपाकी द्रव्य शुक्रवृद्धिकर होते हैं, अर्थात् उनके द्वारा रस से शुक्र तक सभी धातुओं का पोषण होता है।

सामान्यतः मधुर एवं लवण रसों का विपाक मधुर होता है। अम्ल रस के द्रव्य का विपाक अम्ल और कटु, तिक्त कषाय द्रव्य का विपाक कटु होता है, यह हमने पहले ही पढा है। अपवाद - पिप्पली कटु रस की किन्तु विपाक मधुर।

द्रव्याश्रयी रसों को रासायनिक रस (Chemical Rasas) कहा जाता है और शरीरभावप्रत परिवर्तित रसों को 'शरीर रस' (Biological Rasas) अथवा विपाक कहा जाता है।

भेद

	अवस्थापाक	विपाक
१	पचन के दौरान पचनपूर्व काल में दिखाई देता है।	पचन पूर्ण होने के पश्चात पचन पश्चात काल में दिखाई देता है।
२	स्थान सापेक्ष होता है।	स्थान निरपेक्ष होता है।
३	काल सापेक्ष होता है।	काल निरपेक्ष होता है।
४	क्रमशः तीन होते हैं।	कोई एक ही होता है।
५	द्रव्य का द्रव्यांतर होता है।	द्रव्य का रसांतर होता है।
६	प्रतिद्रव्य नियत नहीं बल्कि सामान्य।	प्रतिद्रव्य नियत
७	अस्थायी।	स्थायी।

कोष्ठ विचार

अन्नपचन जिस अन्तः कोष्ठ अथवा अन्नवहस्त्रोतस में सातत्य से होता है, उस अवयव का अर्थात् कोष्ठ का स्वभाव किस प्रकार है ? इसके विषय में वैद्य को विचार करना पडता है। अतः 'कोष्ठ' के विषय में अध्ययन करना आवश्यक है।

वस्तुतः ''कोष्ठ'' शद्ब का अर्थ अत्यंत व्यापक है। मानवी शरीर का विचार करते हुए आयुर्वेद ने शाखा तथा कोष्ठ इस स्वरुप का विचार किया है। हस्त, पाद जैसे अंगों में अवकाश की अपेक्षा घन भाग अधिक मात्रा में होने के कारण उन्हें ''शाखा प्रदेश'' कहा जाता है और उर तथा उदरप्रदेश में रिक्त (आकाशीय) भाग अधिक होने के कारण उन्हें ''कोष्ठ भाग'' ऐसा व्यपदेशस्तू भूयसा न्याय के अनुसार कहा जाता है।

आयुर्वेद ने त्रिदोषों के अल्प-अधिक प्रभाव के अनुसार होने वाले कोष्ठ के प्रकार बताएं हैं।.

१	वातदोष आधिक्य के कारण	क्रूरकोष्ठ
२	पित्तदोष आधिक्य के कारण	मृदुकोष्ठ
३	कफदोष आधिक्य के कारण	मध्यकोष्ठ
४	समदोष के कारण	मध्यकोष्ठ

कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यास्यात्तैः समैरपि। ... वा.सू.१/१२

उपरोक्त प्रकारों के कारण मुख्यतः आंत्र के स्वभाव तथा संवेदनशीलता का आकलन होता है और इससे किट्ट अथवा मल भाग उत्सर्जन किस प्रकार होगा ? स्नेहन उपचार कितने समय तक करने पडेंगे ? उपयोग में लाए जाने वाले विरेचक औषधि की तीव्रता कितनी होनी चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त हो सकते हैं।

इन प्रश्नों के अनुरोध से ही एक-एक कोष्ठप्रकार का विचार करते है।

१) क्रूरकोष्ठ

वात के रूक्ष गुण का परिणाम होकर क्रूरकोष्ठी व्यक्ति में मलप्रवृत्ती असमाधानकारक होती है, क्यौं कि, रुक्षता के कारण पित्त के 'सर' कार्य में अवरोध निर्माण होता है और इन रुग्णों में कई बार मलावष्टंभ की शिकायत होती है।

अतिरुक्षता के कारण क्रूरकोष्ठी रुग्ण को स्नेहन अपेक्षाकृत अधिक अर्थात सात दिन तक लेना पडता है।

स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥ ... च.सू. १३/६५

क्रूरकोष्ठी मनुष्य में विरेचनार्थ त्रिधारी निवडुंग, जयपाल (अश्वकंचुकी, ईच्छाभेदी, नाराच रस) आदि तीव्र विरेचक द्रव्य उपयोग में लाने पडते हैं, अतः इन व्यक्तियों को 'दुर्विरेच्य' कहा जाता है।

२) मृदुकोष्ठ

पित्त के उष्ण तीक्ष्ण गुण के कारण आंत्र प्रदेश अत्यंत नाजुक स्वभाव का होता है। पित्त के सर गुण के कारण मल प्रवृत्ती सहजता से होती है। साथही सौम्य सारक द्रव्य के उपयोग से भी (उदा. दूध, इक्षु रस, बाहवा, द्राक्ष रस) इन व्यक्तियों में मलप्रवृत्ती द्रव स्वरुप की होती है।

बहुपित्तो मृदुःस्यात् सः दुग्धेनापि विरिच्यते ॥ **... सु.चि. ६३**

मृदुकोष्ठी व्यक्ति को केवल तीन दिवस सिर्फ घृत देने पर भी उत्तम स्नेहन होता है।

मृदुकोष्ठस्तिरात्रेण स्निह्यात्यच्छोपसेवया ॥ **... च.**

३) मध्यम कोष्ठ

उपरोक्त दो कोष्ठ के मध्यम प्रकार का कोष्ठ यह है - कफदोषप्राबल्य अथवा समदोष के कारण होने वाला मध्यमकोष्ठ अथवा साधारणकोष्ठ।

इन व्यक्तियों में मलप्रवृत्ती प्राकृत, बाँधकर, सहजता से होती है। साथही आवश्यकता होने पर त्रिफला चूर्ण आदि मध्यम स्वरुप के विरेचन से लाभ होता है।

स्नेहन का योग्य लाभ होने की दृष्टी से मध्यम कोष्ठी व्यक्ति को लगातार पाँच दिन स्नेहपान देने की आवश्यकता होती है।

कोष्ठ ज्ञान की उपयुक्तता

मलप्रवृत्ती का स्वरुप कैसा होगा ? कौनसे विरेचन द्रव्य उपयोग में लाने चाहिये? औषधोपचार कौनसे स्वरुप के करने चाहिये ? स्नेहपान कितने दिन तक करना चाहिये? शोधनकर्म किस स्वरुप के करने होंगे ? आदि सभीं प्रश्नों के उत्तर ''कोष्ठ ज्ञान से'' प्राप्त हो सकते हैं।

२) सूक्ष्म पचन

आहार सेवन से लेकर, आहार रस की निर्मिती और सारकिट्ट विभजन तक का अध्ययन स्थूल पचन इस स्वरुप में हमने अब तक किया। इसके पश्चात है - सूक्ष्म पचन के संदर्भ में अधिक ज्ञान।

सूक्ष्मपचन

आहार रस में स्थित पोषक घटकों के द्वारा शरीर के सप्त धातु और बाकी भावपदार्थों का पोषण सूक्ष्म पचन के द्वारा होता है। स्थूल पचन के बाद सूक्ष्म पचन होता है, अतः चक्रदत्त ने इसके लिए 'अनुपाक' इस संज्ञा का उपयोग किया है।

(अनु = पश्चात, पाक = परिणमन / पचन)

विशेष टिप्पणि

सूक्ष्मपचन के द्वारा धातुओं का पोषण होता है। यहाँ पर धातुओं की ''उत्पत्ती अथवा निर्मिती'' न कहकर हेतुतः ''धातुओं का पोषण'' यह शब्दप्रयोग किया है, क्यौं कि शुक्र शोणित संयोग के पश्चात गर्भउत्पत्ती के समय, मानवी शरीर के अंगप्रत्यंगों के बीजभूत अंश इसमें होते ही हैं। इसी कारण धातुओं का अस्तित्व होता है। तथापि प्रतिदिन आहार रस के पोषक अंश की प्राप्ति होकर, धातु पुष्ट होकर उनकी वृद्धि होती रहती है। अतः सूक्ष्म पचन के द्वारा अन्नरस से होने वाली धातुवृद्धी को दैनंदिन धातुपोषण कहा गया है।

संज्ञ परिचय

आहाररस से लेकर अंतिम शुक्रधातु तक की पोषण प्रक्रिया में मुख्यतः २ घटकों का विचार नित्य करना पडता है।

१) जिसके द्वारा पोषण होता है, वह भाग = **पोषक** और

२) जिसका पोषण होता है, वह भाग = **पोष्य**

पोषक तथा पोष्य इन संज्ञाओं के पर्यायवाची शब्द निम्न २ गट के द्वारा दिये जा सकते हैं।

गट १ - पोषक = अस्थायी = परिणाम आपद्यमान = मार्गग

गट २ - पोष्य = स्थायी = परिणमित = मार्गस्थ

प्राकृत सूक्ष्म पचनार्थ आवश्यक घटक

पचन और अग्नि में अन्योन्य संबंध है। जिस प्रकार स्थूलपचन के लिए जाठराग्नि, उसी प्रकार सूक्ष्म पचन के लिए धातुओं के स्तर पर उपस्थित धात्वग्नि का विचार अपरिहार्य है। धातुओं के पोषक अंश संबंधित स्थान तक विक्षेपित होने की दृष्टी से

आहाररस को व्यान वायु के द्वारा गति प्राप्त होना आवश्यक है। साथही सम्यक् आर्द्रता भी पचन के लिए आवश्यक होती है। अतः स्थूल पचन से संबंधित क्लेदक कफ आमाशय में स्थित होने पर भी वह स्वशक्ति से शेष कफस्थान और शरीरभाव इन्हें उदककर्म से उपकृत करता है, ऐसा शास्त्रकारों ने कहा है।

संक्षेपतः, सूक्ष्म पचन प्राकृत होने के लिए वात, पित्त, कफ का प्राकृतत्व आवश्यक है। साथही सूक्ष्म पचन जिन स्थानों में, स्त्रोतसों में होने वाला है, उनकी प्राकृता आवश्यक है।

उपरोक्त घटकों में से कोई एक भी घटक यदि अप्राकृत होगा तो भी सूक्ष्म पचन बिगडकर धातुओं का योग्य पोषण, वर्धन नहीं होगा, ऐसा चक्रपाणी कहते है।

यदा हि एकोऽपि धातुपाचको ऽग्निरुपहन्यते, मारुतो वा धातुपोषक रसवहि व्यानरुपः क्वचिदुपहतो भवति तथा स्त्रोतो वा धातु पोषकरसवहमुपहतं स्यात् तदा अशितार्दिक धातूनामवर्धकत्वान्नोपचयादिकारकमिति भावः ॥

... च.सू. २८/३, टीका

सूक्ष्म पचन प्रक्रिया

आहार घटकों का स्थूलपचन के द्वारा सम्यक् पचन होने पर उन्हे तेजोभूत, परमसूक्ष्म सारभाग अर्थात 'आहाररस' कहते है। यह रसधातु सूक्ष्म सिराओं द्वारा हृदय में प्रविष्ट होकर वहाँ से व्यान वायु की प्रेरणा से, धमनीयों द्वारा समस्त शरीर में प्रक्षेपित होता है। सभीं धातुओं के पोषक अंश इस विक्षेपण के द्वारा ही संबंधित स्थान पर पहुँचते हैं और धातुओं का तर्पण, धारण, वर्धन, यापन होता है।

तत्र पांचभौतिकस्य, चतुर्विधस्य षड्रसस्य, द्विविधवीर्यस्य, अष्टविधवीर्यस्यवानेक गुणयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यः तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते, तस्य च हृदयं स्थानं स हृदयात् चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य उर्ध्वगाः दश दशाचाधोगामिन्यश्चतस्त्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति च अदृष्ट हेतुकेनकर्मणा।

... सु.सू.१४/३

पोषक अंश का जिस प्रकार विक्षेपण होता है, उसी प्रकार सूक्ष्मपचन में निर्मित सूक्ष्म मलांश हृदय की ओर वापस लाये जाते हैं।

हृदि रसः निःसरति, तत एव च सर्वतः।

सिराभिः हृदयं याति, तस्मात् हृत्प्रभवः सिराः। **... भेडसंहिता**

उपरोक्त धातुपोषण प्रक्रिया सदासर्वकाल-नित्य चलती रहती है।

संतत्या भोज्य धातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। **... च.चि.**

धातुउत्पत्ति – पोषण क्रम

सूक्ष्म पचन होकर धातु पोषण होता है, यह आकलन होने के बाद यह समझना आवश्यक है कि धातुउत्पत्ति, पोषण का क्रम कौनसा है ?

इसका उत्तर शास्त्रकारों ने निम्न प्रकार से दिया है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थिच।

अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते ॥ **... च.चि.१५/१६**

अर्थात् रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र इस क्रम से धातुओं की उत्पत्ति, पोषण होता है।

धातु उत्पत्ति – पोषण काल

धातु उत्पत्ति, पोषण किस क्रम से होता है, इस विषय में सभीं शास्त्रकारों का एकमत है। किन्तु धातु उत्पत्ति, पोषण काल के विषय में मतमतांतर दिखाई देते है।

१) सुश्रुत के मूल सूत्र के अनुसार डल्हण ने निम्न मत प्रदर्शित किया है।

रसः किलैकाहेनैव संपद्यते तदनन्तरं ये षडधातवस्ते प्रत्येकं पंचभिः पंचभिरहोभिः संपद्यते ॥ **... डल्हण**

भावार्थ

पहले दिन रस की निर्मिती होती है और इस के बाद रक्तादि ६ धातु हर ५ दिन के बाद एक इस प्रकार निर्माण होते हैं। अर्थात पहले दिन रस, पाँच दिन के पश्चात रक्त, १० वे दिन मांस, १५ वे दिन मेद, २० वे दिन अस्थि, २५ वे दिन मज्जा और ३० दिन के बाद शुक्र की निर्मिती होती है।

२) चरकाचार्य के मूल सूत्र पर चक्रदत्त ने निम्न भाष्य किया है।

कियता कालेन धातुपरिवृत्तिभवेतीत्याह - षड्भिरित्यादि।

षड्भिरहोरात्रै रसस्य शुक्ररुपतया परिवर्तनं भवतीति केचिदिच्छन्ति।

... चक्रदत्त

भावार्थ

आहाररस का एक दिन में रस में रुपांतर होता है और बाद में ६ दिन के बाद शुक्रोत्पत्ति होती है। अर्थात पहले दिन से गिना जाए तो साँतवे दिन शुक्रोत्पत्ति होती है।

उपरोक्त मत के साथही चरकाचार्य ने ऐसा भी कहा है कि भोज्य धातुओं का परिवर्तन किसी चक्र के समान नित्य होता रहता है।

संतत्या भोज्या धातूंना परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। ... च.चि.१५/३३

कालनिश्चिति – व्यावहारिक स्पष्टीकरण

धातुउत्पत्ति, पोषण के विषय में चरक, सुश्रुत इन प्रमुख शास्त्रकारों के विचार उद्धृत करने के बाद छात्रों के मन में संभ्रम निर्माण होने की संभावना है। अतः सद्यकालीन व्यावहारिक निरीक्षण तथा आयुर्वेदीय अभ्यासकों के विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

रसक्षय होने पर समान गुणयुक्त, सिद्ध द्रवद्रव्य का (नींबूपानी, सलाईन आदि) सेवन करने से रसक्षय त्वरित नष्ट होता है। अस्थिभग्न (Fracture) होने पर भी अस्थि पुनः जुडने के लिए (सांधने के लिए) २१ दिन लगते हैं। शुक्रक्षय होने पर शुक्र वर्धन के लिए प्रायः एक मास लगता है। ऐसी घटनाएँ प्रत्यक्ष-निरीक्षण-सिद्ध हैं।

इन निरीक्षणों से सुश्रुताचार्य द्वारा उपदेशित कालविचार समझा जा सकता है। तथापि चरकाचार्य के काल मत के विषय में स्पष्टीकरण क्या है ? इस विषय में ज्येष्ठ आयुर्वेदिक अभ्यासको ने कहा है कि, सुश्रुताचार्य के मत के अनुसार पाँचवे दिन रक्त का दूसरे दिन से ही (चरक मत का विचार करते हुए) शुरु होती होगी। साथही सुश्रुताचार्य के अनुसार तीसवें दिन अस्थिपोषण की प्रक्रिया पूर्णावस्था प्राप्त करती हो, तो भी उस का प्रारंभ आहार सेवन के पाँचवे दिन से ही (चरक मत का विचार करते हुए) होती होगी।

इस प्रकार **पोषण का प्रारंभ होने का काल और पोषण पूर्ण होने का कालावधी** इनका तालमेल बिठाने पर चरक, सुश्रुत मतों का सुसंवादी स्पष्टीकरण दिया जा सकता है, ऐसा विचार ज्येष्ठ आयुर्वेदिक अभ्यासक प्रतिपादित करते हैं। (अर्थात, अद्यपि इसका स्वरुप सर्वदूर, सर्वसंमत न होने के कारण छात्र इसे संशोधन का विषय ही समझें।)

सूक्ष्म पचन का परिणाम

किसी भी स्वरुप की पचन प्रक्रिया का परिणाम २ प्रकार से होता है। पचनोत्तर मुख्यतः २ प्रकार के भावपदार्थों की निर्मिती होती है - १) प्रसाद भाग

२) किट्ट भाग

सर्वेषामेव पाके पाकव्यापारात् द्विधा फलमभिनिर्वतते।

प्रासादभागश्च मलभागश्च।

तत्राहारपाके फलं प्रसादाख्यो रसो मलाख्यं किट्टं मूत्र पुरीषम्।

यथो तण्डुलपाके प्रसादाख्य ओदनः मलाख्यं फेन मंडमिति।

... च.सू. २८/३ (गंगाधर टीका)

जिस प्रकार चावल पकाने पर प्रसादरुप ओदन और मलरुप फेनमंड उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्मपचन के कारण रसादि धातुओं की प्रसादभाग स्वरुप में उत्पत्ति और किट्ट स्वरुप में धातु मलों की उत्पत्ति होती है। ये धातुमल कौनसे ?

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।

स्नेहोऽक्षिविट्त्वचामोजः धातुनां क्रमशो मलाः॥ ... सु.सू.४६/५२७

सूक्ष्म पचन के द्वारा जिस प्रकार धातु तथा धातुमलों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार और भी एक विशेष भावपदार्थ की निर्मिति होती है - उपधातु।

उपधातु क्या है ?

धातु के समान ही शरीरधारणा की दृष्टी से आवश्यक, धातुसदृश किन्तु सप्त धातुओं की अपेक्षा ''गौण'' शरीरस्थ भावपदार्थों को उपधातु कहा जाता है। इन भावपदार्थों को उपधातु कहने का और एक महत्त्वपूर्ण कारण चक्रदत्त इस टीकाकार के अनुसार ''गतिविवर्जित'' यह है। अर्थात जिस प्रकार रस से रक्त, रक्त से मांस तथा एक

धातु से दूसरे धातु की उत्पत्ति होती है, उसके विपरीत उपधातुओं से कोई भी भावपदार्थ उत्पन्न नहीं होते।

सारांश तालिका

सूक्ष्म पचन के महत्त्वपूर्ण स्थान, संबंधित पोषक, पोष्य भाव इनका लेखा-जोखा निम्न तालिका के द्वारा किया जा सकता है।

	पोषक द्रव्य	पोष्य धातु	उपधातु	मल	स्थान	अग्नि
१	आहार	आहार रस	------	पुरीष, वायु, मूत्र	महास्त्रोतस	जाठराग्नि
२	आहाररस	रसधातु	स्तन्य,रज	कफ,	रसवहस्त्रोतस	रसाग्नि
३	पोषक रक्त	रक्तधातु	कंडरा, सिरा	पित्त	रक्तवहस्त्रोतस	रक्ताग्नि
४	पोषक मांस	मांसधातु	वसा, षट्त्वचा	ख मल	मांसवहस्त्रोतस	मांसाग्नि
५	पोषक मेद	मेदधातु	स्नायु, संधिबंध	स्वेद, केश, लोम	मेदोवहस्त्रोतस	मेदोग्नि
६	पोषक अस्थि	अस्थिधातु	------	केश,लोम, नख,श्मश्रु	अस्थिवहस्त्रोतस	अस्थ्याग्नि
७	पोषक मज्जा	मज्जाधातु	------	अक्षि,विट्स्नेह	मज्जावहस्त्रोतस	मज्जाग्नि
८	पोषक शुक्र	शुक्रधातु	------	ओज	शुक्रवहस्त्रोतस	शुक्राग्नि

पूरक अध्ययन

'अन्न पचन' के विषय में आयुर्वेद की भूमिका समझने के बाद तौलनिक अध्ययन की दृष्टी से अर्वाचीन वैद्यक शास्त्र में उल्लेखित 'पचन विषय' विचार, महत्त्वपूर्ण मुद्दों के अनुसार अगले प्रकरण में।

प्रकरण १८

Digestion

Small & Large intestine digestion

The food, after ingestion, passes along the various parts of the digestive tract, where it is converted into simple absorbable constituents.

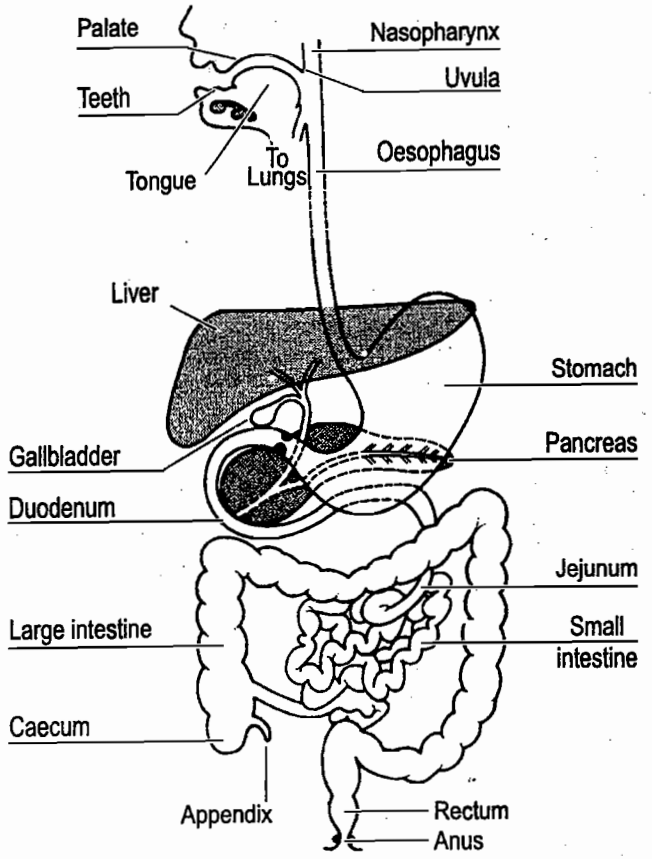

The digestive system and accessory organs.

Digestive tract

The important parts of digestive tract are

1) Oral cavity
2) Pharynx
3) Oesophagus
4) Stomach
5) Small intestine (Duodenum, Jejunum & Ileum)
6) Large intestines (Caecum, ascending colon, transverse colon, descending colon, iliac colon, sigmoid colon, rectum & anus)

The salivary glands, liver and pancreas are also developmentally associated with alimentary canal.

Structure of Digestive Tract

1) Oral cavity is lined by stratified epithelium.
2) From oesophagus onwards, the digestive tract on transverse section show 4 layers –

a) serous layer (outermost)
b) muscular layer consists of longitudinal & circular muscle fibers
c) submucous layer
d) mucous layer.

Structure and appearance of teeth

A tooth consists of a crown, a neck and a root. The **crown** is the portion projecting above the gum. The slight constriction where it is surrounded by the gum margin is the **neck** and the part buried in the alveolus of the jaw is the **root.**

The main mass of the tooth consists of a substance called **dentine**, a very hard material which resembles bone. The exposed portion of the tooth is covered with a thin layer of **enamel**, which is even stronger than dentine.

The interior of a tooth is hollow and is called the **pulp cavity**. This contains soft connective tissue, small blood vessels and nerves, which enter the root of the tooth through a fine canal.

The teeth are firmly fixed in the alveoli of the jaw by a special calcified cement substance and a strong layer of connective tissue called the **periodontal membrane.**

The incisor teeth have a crown consisting of a sharp cutting edge, and a single pointed root. The canines have a crown, which terminates in a point, and a single root. The premolars have a single root and a crown consisting of two elevations or cusps (which explains why they are sometimes called bicuspids). The molars have a square-shaped crown with four cusps. The upper molars possess three roots, the lower two roots.

The incisors are the sharp cuttings, or biting, teeth situated in front. To the lateral side of the incisors are the canine teeth (eye teeth), used for grasping. Behind the canines are the premolars and the molars, or grinding teeth.

Class of teeth	Number on each side of both jaws
Incisors	2
Canines	1
Premolars	2
Molars	3

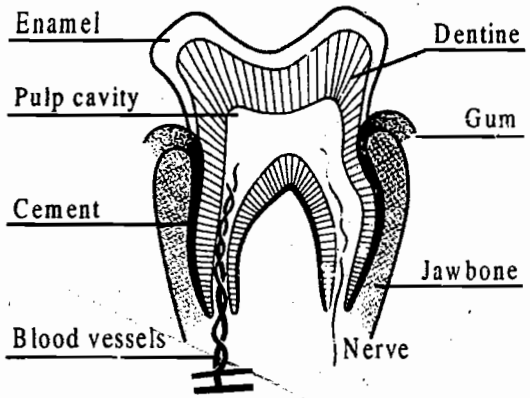

The structure of a tooth.

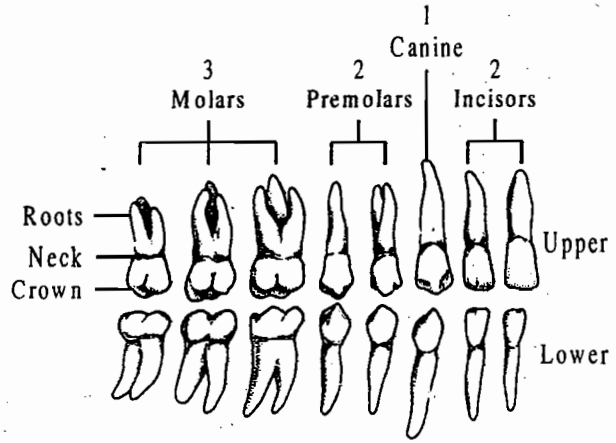

Shapes of human teeth.

1) Oesophagus

Extends from pharynx to cardiac orifice and is 2 cm. In diameter.

2) Stomach

Stomach has a J-shaped structure. It communicates above with oesophagus through cardiac orifice and below with duodenum through

pyloric orifice. It's main parts are fundus, body and pylorus. The body is bound by lesser and greater curvatures. The lesser curvature extends from cardiac end to incisuria angularis. The greater curvature extends from fundus to pylorus.

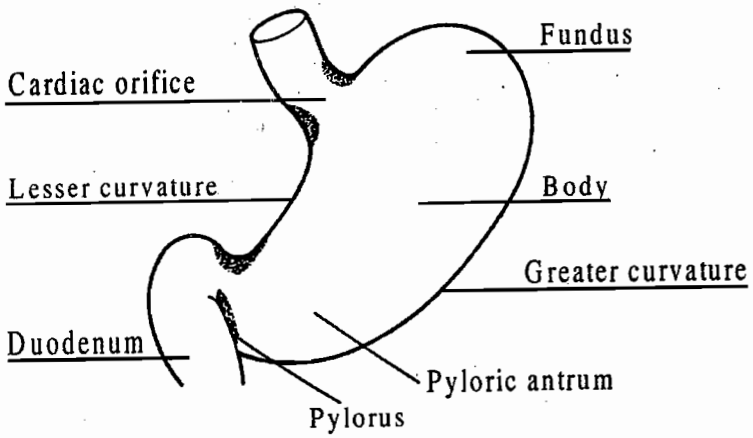

Parts of the stomach

3) Small intestines

Extend from gastric pyloric orifice onwards up to ileo colic junction which is guarded with ileocolic sphincter. Small intestines are about 6.5 meters in length, first 20-25 cm portion is formed by the duodenum, about 2/5 th by jejunum and 3/5th by ileum. The duodenum and jejunum are mainly concerned with digestive processes, while the main function of ileum is absorption (Hence it is richly supplied with villi)

4) Large intestines

It is about 1.5 meters in length and is called as large intestines because, it has large diameter than small intestines – It extends from ileo-colic junction to anus. Its different parts are caecum (and

appendix), ascending colon, hepatic flexure, transverse colon, splenic flexure, descending colon, iliac colon, sigmoid colon and anal sphincter (involuntary in function) and at the lower end at anal canal is external anal sphincter (Voluntary in function)

Important glands in connection with digestion

1) Salivary glands

Salivary glands secrete saliva. 3 pairs of salivary glands are

a) submaxillary (submandibular) glands open through Wharton duct at side of frenum of tongue at the floor of the mouth

b) parotid gland – open through stenson's duct to opposite the 2nd upper molar tooth,

c) sublingual glands open through ducts of Rivinus (10-12 ducts) at side of frenum of tongue, at the floor of the mouth.

2) Pancreas

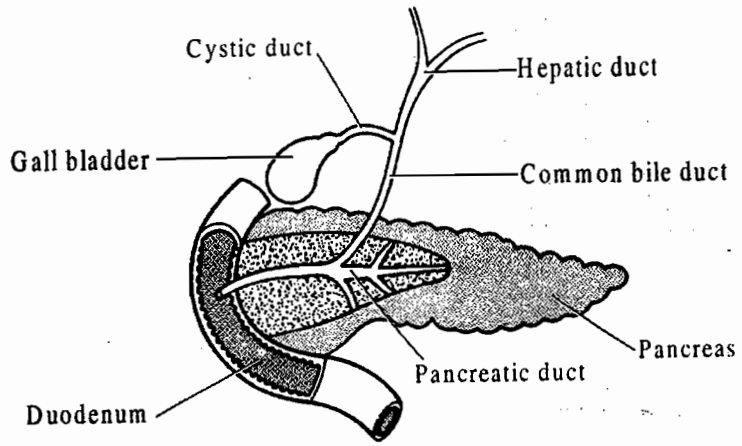

Biliary tract and pancreas

It is an elongated racemose gland; situated at posterior wall of the abdomen. Pancreas secretes pancreatic juice and also it has alpha and beta cells of islets of Langerhans. The beta cells secrete insulin and alpha cells glucagon. Pancreatic juice contains digestive enzymes (trypsin, chymotrypsin)

3) Liver

It is an important and essential metabolic organ of the body. The liver cells secrete bile. Although bile is not a digestive juice, in its strict sense, it is helpful, rather essential, for digestion and absorption of fats, hence it is considered along with digestive juices.

4) Gall bladder

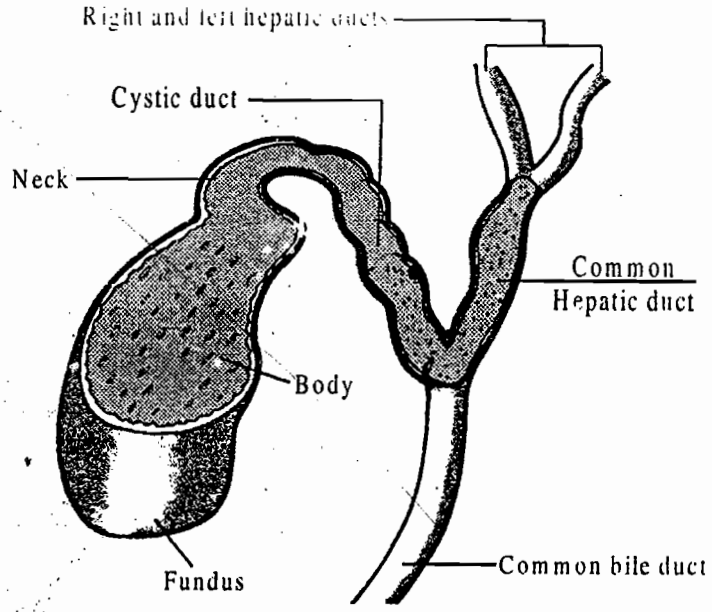

Structure of gall bladder

It stores and concentrates the bile received from liver via hepatic duct. Through cystic duct it joins hepatic duct to form common bile

duct, which in turn joins pancreatic duct to form ampulla of Vater guarded by "Sphincter of Oddi", which relaxes after fatty meal to allow drainage of bile in the duodenum.

Functions of Liver

1) In Connection With Blood And Circulation

- RBC formation, in foetal life.
- RBC destruction in adult life.
- Store house of blood and regulates blood volume.
- Manufactures prothrombin and fibrinogen and thus essential for clotting. Mast cells form heparin and prevent intravascular clotting.
- Related to activity of its R. E. system in immune mechanism.
- It transfers blood from portal to systemic circulation.
- Manufactures all plasma proteins.
- Stores iron, haematinic factor known as Vit. B_{12} and copper and thus helps in the formation of red cells and haemoglobin.
- Hepatic and portal circulation control.

2) Manufactures Bile

Bile is secreted continuously from the liver cells and stored in the gall bladder. Bile contains water, total solid, mucin and pigments, neutral fat, fatty acids, phospholipids, cholesterol and inorganic ions.

Bile acids in conjugation with glycerin and taurine form the compounds – bile salts – glycochloric acid and taurocholic acid respectively. Bile salts perform important function of emulsification of fats.

3) Relation With Carbohydrate Metabolism

- Converts non glucose monosaccharides into glucose.
- Converts lactic acid, pyruvic acid and glycerol into glucose and also glycogen.
- Stores carbohydrates in the form of glycogen.
- Takes part in blood sugar regulation.
- Manufactures fats from carbohydrates etc.
- Alchohol metabolism - The liver is the main seat of alcohol metabolism. The direct effect of alcohol may be alcoholic fatty liver, which is the cause of increased hepatic fatty acid oxidation.

4) Relation With Fat Metabolism

- It stores fat.
- It helps in the oxidation of fat, releasing energy in the form of A. T. P.
- Site of synthesis of cholesterol from acetate.
- Synthesizes fats from carbohydrates and proteins.
- It is the seat of ketone body formation.
- Unused free fatty acid (FFA) released from fat depot is converted to triglycerides and other lipids to meet energy requirement.
- In a carbohydrate deficiency, the fat metabolism in the liver is increased and fat is partially converted to glucose or glycogen.
- Fat soluble vitamins, e.g.- A, D, E and K are stored here.

5) Relation With Protein Metabolism

- Synthesis of some amino acids takes place here.
- Plasma proteins are manufactured here except immune globulin.
- Main seat of urea and uric acid formation.
- It is the seat of specific dynamic action of protein.
- It is the seat of nitrogen metabolism.

6) Hormone Metabolism

- Reduces the circulating adrenal cortical and sex hormones by degradation and conjugation.
- Inactivation of insulin, glucageon, anti - diuretic hormones (ADH) and anterior pituitary tropic hormones etc. occur here.

7) Relation With Vitamins

- Manufactures prothrombin with the help of vit. K.
- It forms vit. A from carotene and stores vit. A and D.
- Chronic liver disease is always associated with folic acid deficiency.
- The liver is the principal storage organ for vit. B_{12}.

8) Excretory Functions

- Certain heavy metals are temporarily fixed by the liver cells, which are then excreted in the bile.
- Various toxins, bacteria and drugs are excreted through bile.
- Cholesterol and bile pigments are excreted in the bile.

9) Detoxicating And Protective Functions

The liver is the site of detoxication of different toxic substances either produced in the body or taken along with food.

10) Takes Part In Heart Regulation

The liver produces a large amount of heat and takes part in heart regulation.

11) It is also responsible for the liberation of a depressor principle.

12) It is the store house of Fe, fat soluble vitamins, glycogen, labile protein, fat etc.

Digestive system

Functional term that differentiate between dead and living body i.e. metabolism.

1) Accumulation or storage of energy is called as anabolism (चय)

2) Loss of energy – catabolism (अपचय)

Due to catabolism, our body is able to perform physical and mental activities.

Let us try to understand, how energy enters in living body, how it get stores, or loosed by body (Energy turn over)?

The human body gets the energy from food. Actually sunrays, which are electromagnetic radiation, are the true source of energy in world. Human living cells do not have the capacity for absorbing energy of sun rays and form the food by themselves. Plants capacity of absorbing energy of sun rays is mainly due to green pigments called as chlorophyll. Chlorophyll molecules take CO_2 and water from air and soil respectively and they are tied together to form a compound

carbohydrate. This binding function is done with the help of energy from sunrays. So radiation energy is converted into material form of food, which a human being can use as a source of energy for performing physical and mental activities.

$$6CO_2 + 12H_2O \xrightarrow{+E(Trap)} C_6H_{12}O_6 + 6(H_2O) + 6O_2 \uparrow$$

Glucose

(E = Energy)

Glucose is called as monosaccharides (Glucose). In plant, chain of glucose molecules is formed (to store more energy) which are called as polysaccharides

1) Our food is mainly made up of polysaccharides or complex carbohydrate
2) Binding carbohydrates with nitrogen molecule, higher energy molecules of proteins are formed.
3) Fats are very high energy molecules which are formed by combining carbohydrates with fatty acid (COOH)

For performing body activities, the food that is complex molecules should be broken up for absorption purpose. In digestive system, due to action of different enzymes and chemicals (Bile, HCL) complex molecules break up and simpler molecules are formed

Carbohydrates $\xrightarrow{-}$ Glucose

Protein $\xrightarrow{-}$ Amino acid

Fats $\xrightarrow{-}$ Fatty acid and glycerol

This simpler molecule should reach to different cells of body. This transport is done through blood. Proper blood circulation is maintained by **cardiovascular system.**

These molecules are oxidized with oxygen to liberate energy. O_2 for oxidation is provided by **respiratory system.**

Waste product formed during oxidation are carried back to kidneys, lungs, skin through **excretory system**. The total regulation and co-ordination of all these metabolic activities is done by **nervous system and endocrine system.**

Physiology is nothing but to understand the concept of **GOD** i.e. energy turn over → **G**enesis + **O**peration + **D**estruction

Functioning of digestive system

	5 secretions	5 movements
1	Salivary	Mastication
2	Gastric	Deglutition, segmentation
3	Pancreatic	Movements of stomach (Peristasis, Antiperistalsis)
4	Bile	Movements of small intestine
5	Succus enterius	Functions of large intestine

To study the physiological aspect, we have to consider composition, function and regulation.

1) Secretions

1) Salivary secretions

i)	Parotid	20%	Serous
ii)	Sub mandibular	70%	Mixed
iii)	Sublingual	10%	Mucus

Structure

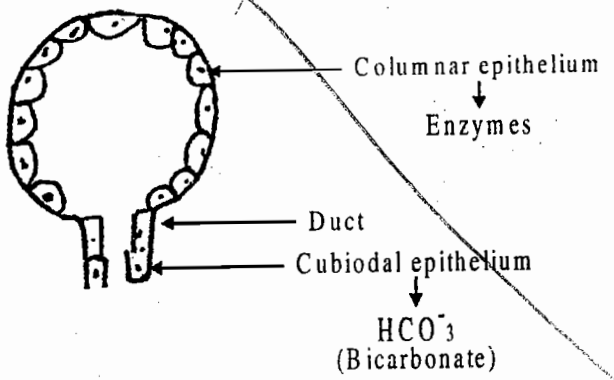

Secretions

1) Salivary amylase (Ptyline)
2) Mucin
3) Na^+, K^+, HCO_3^-
4) Blood group antigen

Functions

1) Cleaning of oral cavity
2) Prevents caries, antiseptic action (due to Lysozyme)
3) Alkaline medium and so Ca^{++} deposited on teeth
4) Formation of bolus
5) Lubrication of bolus
6) Softening of food
7) Boiled starch.

Starch $\xrightarrow[\text{Alkaline medium}]{\text{Ptyline}}$ Dextrine and maltose

8) Helps in speech
9) Taste perception

10) Neutralizes acidity in stomach
11) Water balance

Regulation = Nervous, hormonal

Salivary gland is exception for above route. Only nervous regulation is done by parasympathetic nerve.

7th cranial nerve (facial) → submandibular, sublingual

9th cranial nerve (glossopharyngeal) → parotid

Phases

1) Cephalic phase 2) Oral phase 3) Gastric phase

Salivary secretions

1) Tubo acinar glands

- Acini – lobule – columnar epithelium → manifacting of enzymes
- Duct – cuboidal epithelium – secretes bicarbonates – HCO_3^-

2) Blood group determination from saliva is important in medicolegal cases.

3) Decomposition of carbohydrates forms acid. This acid medium will dissolves the calcium and caries of teeth will develop. To avoid this, function of saliva (killing of microorganism) is important.

4) Precursor (पोषक) $\xrightarrow[\text{medium}]{\text{enzyme}}$ Converted product (पोष्य)

In the mouth partial digestion of carbohydrates take place as follows

Starch is converted ⟶ Dextrin and maltose

Polysaccharide ⟶ Diasaccharide

This digestion is completed by pancreatic amylase. The importance of proper chewing food lies in above concept. If we do not give the proper time for action of salivary amylase there will be burden on Pancreas. Naturally functional capacity of Pancreas will be reduced at early stage of life and patient will land into Diabetes mellitus.

5) Parasympathetic nerves are "secretomotor" in action in G.I. tract i.e. they will increase secretion and also motility. These nerves stimulate acini.

a) **Cephalic phase** – saliva increases after thought of food or sight of food.

b) **Oral phase** – It is most important. It is due to contact of food with Taste buds. Signals pass to brain from these Taste buds (Gustatory pathway)

c) **Gastric phase** – Presence of food in stomach increases salivary secretions. After eating spicy food, saliva increases, as a protective mechanism.

6)

a) Mumps virus has specific affinity to salivary cells.

b) Hyperthyroidism – serum calium level increases.

Hence stone formation takes place in may places in body.

(Gall stones, salivary stones, and pancreatic stones)

2) Gastric secretion

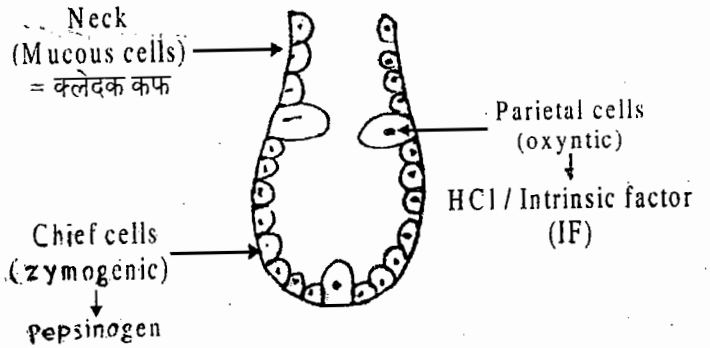

Secretions

1) HCL / NaCl / KCl
2) Intrinsic factor (IF)
3) Pepsinogen
4) Mucin
5) Enzymes – Pepsinogen, Renin

Functions

1) HCL - Antiseptic

- Activation of pepsinogen
- Provides acidic medium for action of enzymes
- Fe^{+++} (Ferric) $\xrightarrow{HCl}$ Fe^{++} (Ferrous)
- Iron & calcium absorption

2) Digestive

a) Pepsinogen $\xrightarrow{HCl}$ Pepsin

b) Proteins $\xrightarrow{Pepsin}$ Peptone + Proteoses

c) Intrinsic factor is essential for absorption of Vit B_{12} factor

d) Mucin – Protects mucosa against acidity

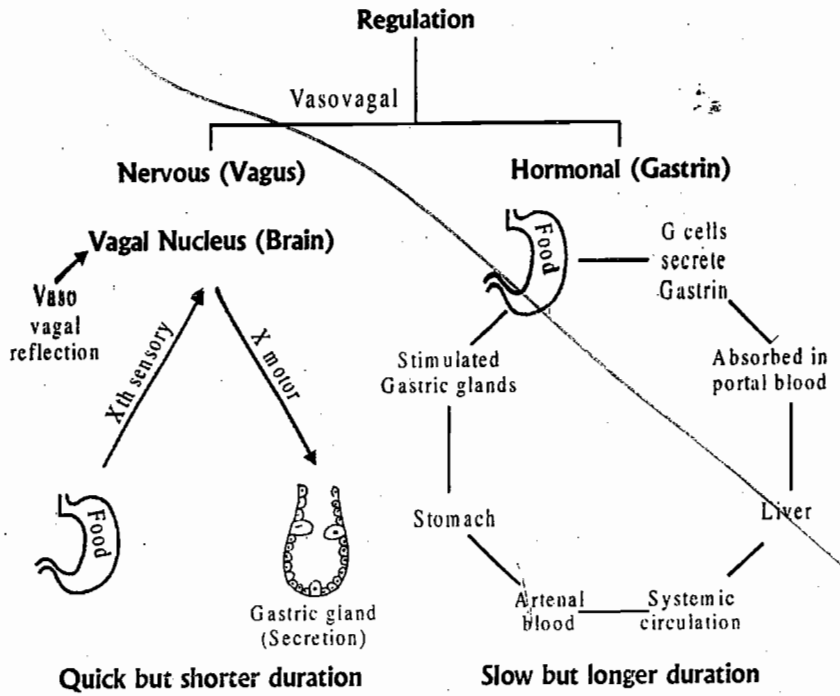

Phases

1) Cephalic 2) Gastric 3) Intestinal

Abnormality
(In HCl in stomach)

Hyperchlorhydria
(Hurry-Worry-Curry syndrome)
(Burning pain – after intake of food)

Achlorhydria
Auto immune disease
No acid & no intrinsic factor
Vit. B_{12} deficiency
Pernicious Anaemia
(Megaloblastic anaemia)

Notes

1) Salivary glands are 3 in number but gastric glands are many.

2) Pepsinogen (Gen = genesis) is inactivated form. Due to HCl only, it is converted into active form i.e. pepsin

3) Ferric (Fe^{3+}) cannot be absorbed. Due to effect of HCl it is converted into ferrous form (Fe^{++}) which can be absorbed.

4) Ferrous iron can only be absorbed and this form is needed for hemoglobin formation.

   Iron preparation is always given with vitamin C (ascorbic acid) vitamin C keeps iron in ferrous form.

5) Proteins that we eat are polypeptide (amino acid linkage) Due to pepsin break down of this linkage takes place.

6) Mucin is alkaline and sticky. It forms the buffer coat on gastric mucosa.

   In gastric mucosa rapid mitosis takes place.

   Above two facts prevent ulceration in stomach (Peptic ulcer) 99% of ulcers occur in duodenum because there is no protective mechanism.

7) Presence of food and distention of stomach causes afferent sensation. Hence vagotomy is the surgical treatment in peptic ulcer (afferent and efferent both are cut)

8) In duodenum ulcers mid night pain is common (i.e. after 2 ½ to 3 hr. after eating pain starts. That means when food comes in duodenum from stomach pain starts.)

9) HCl maintains appetite hence hyper acidity patients eat frequently. In hyper acidity patient gastric emptying time is also shorter.

10) Gastric moments are affected by type of food

- More acidic food – fast emptying time
- More carbohydrates or protein – faster emptying time.
- More fats – delayed emptying time (Reason – Due to fatty food CCK hormone is stimulated. This hormone inhibits gastrin, hence motility is reduced.)

11) For testing of stomach functioning → following three tests can be done

- Gastric analysis (Out dated)
- Barium meal X-ray
- Gastroscopy – by Gastroenterologist

Treatment for hyperacidity

1) Milk neutralizes HCl → thus milk diet is important.
2) Anticholinergic drugs which block vaso vagal action.
3) Histamine blocking drugs (H_2 Receptor Blockers)

Tab omez (Omeprazole) - 1BD
Tab Histac - 1 BD

When there is pyloric stenosis (complication of ulcer) Surgical treatment is 'gastrojejunostomy'

3) Pancreatic secretion (Tubulo acinar gland)

1) Trypsinogen
2) Chymotrypsinogen
3) P. Amylase
4) Lipase
5) Trypsin inhibitor
6) HCO_3 / Na and K

Function of Pancreatic secretion

$$\text{Trypsinogen} \xrightarrow[\text{Alkaline}]{\text{intestinal juice}} \text{Trypsin}$$

$$\text{Chymotrypsinogen} \longrightarrow \text{Chymotrypsin}$$

Trypsin and chymotrypsin acts on proteins i.e. peptones & proteoses.

$$\text{Peptone, Proteoses} \xrightarrow[\text{Chymotrypsin}]{\text{Trypsin}} \text{Dipeptide (protein)}$$

$$\text{Starch (Carbohydrates)} \xrightarrow[\text{Alk}]{\text{P.amylase}} \text{Dextrins} + \text{maltose}$$

$$\text{Tryglycerides (Fats)} \xrightarrow[\text{Alk}]{\text{Lipase}} \text{FFA (Free fatty acid)} + \text{glycerol}$$

Note

1) Enterokinase enzyme is present in Duodenum (intestinal juice) which converts inactive enzyme (Trypsinogen) into active form (Trypsin)
2) In pancreas, enzymes are not in active form – Due to trypsin inhibitor. Enzymes get activated when they come in duodenum.
3) When trypsin inhibitor is absent Auto digestion of Pancrease takes place. Exocrine and endocrine functions lost – which is irreversible. This condition is called as Acute Pancreatitis. This case is of acute abdomen. Patient get severe stabbing pain in the epigastric region, referred to back. Alcohol consumption is predisposing factor.

4) Bile secretion

Bile is formed in Liver & stored in gall-bladder and through the bile duct it enters into duodenum

Contents

i) Bile salts (Sodium taurocolate, Sodium glycolate)

ii) Bile pigments (Bilirubin and Biliverdin)

iii) Cholesterol (ester)

iv) HCO^-_3 (Na and K)

Function

Emulsification of fats (Big fat molecules are broken down into smaller particles.) Hence surface area increases, so action of Lipase becomes easier)

Note

In urine examination test for Bile salt (Sulphur test) is based on this information.

Control of bile secretion and expulsion of bile from Gall bladder

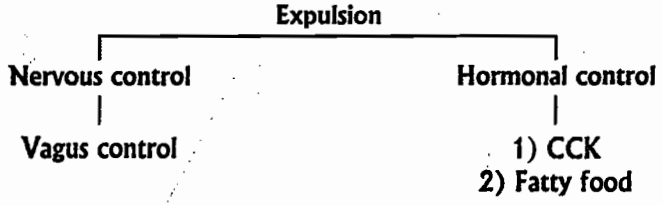

Due to CCK hormone, Gall bladder contraction increases.

Note

Bile does not contain any enzyme

1) But still it is very necessary for fat digestion (for action of Lipase enzyme) by emulsification of fat

2) Pathoiogically – Gall stones can cause Obstructive jaundice

Gall stones are common in fat, fertile, female of forty complaining of flatulence. (Remember as 'SF')

5) Intestinal Juice – Succus Entericus

- Maltose $\xrightarrow{\text{Maltase}}$ Glucose
- Lactose $\xrightarrow{\text{Lactase}}$ Glucose
- Sucrose $\xrightarrow{\text{Sucrase}}$ Glucose
- Polypeptide or Dipeptide $\xrightarrow{\text{Erepsin}}$ Amino acid
- Tryglycerides $\xrightarrow{\text{Lipase}}$ FFA + Glycerol

Large intestinal functions

1) Absorption of H_2O, electrolytes (Cl, HCO^-3)

2) Colonic bacteria – They are useful for production of Vit. B_{12} and Vit. K. These lactobacillus are the example of symbiosis.

Due to antibiotics these intestinal bacterial flora gets disturbed so antibiotics should be supplemented with vitamin tablets.

Buttermilk contains these lacto bacillus so this is best diet in patients of Colitis.

3) Movements of large intestine push undigested food ahead into the rectum. After filled with faecal matter signal goes through spinal cord to the brain

Dorsal column sensory tract → Parital lobe → Frontal lobe → Motar centre of evacuation. It will decide according to place and condition, whether to evacuate or not. Then signal from pyramidal tract come to spinal cord.

From spinal cord parasympathetic fibers contract rectum.

Through CNS motar signals to external sphincters are given, to open it.

Absorption

Amino acids and glucose are absorbed into blood capillaries and fatty acids are absorbed into lacteals (Lymph vessels)

Assimilation

Absorbed food is taken up by the protoplasm. Then building up process is called 'Assimilation'

Metabolism

Metabolism = Anabolism + Catabolism

Anabolism = Storage of energy and new construction.

Catabolism = Use of energy

1) Carbohydrate Metabolism

All complex sugars in G-I tract are broken down to – glucose, fructose and galactose (which all are monosaccharides)

Absorption of glucose and galactose is fast while absorption of fructose is slower. All monosaccharides appear in the liver via 'Portal vein'.

Monosaccharides are again converted into polysaccharide – Glycogen. By the process called as **Glycogenesis**. As per requirement of the body the glycogen of the liver is broken down to 'glucose' (Process is **Glycogeno-lysis**)

Except glucose no other form of monosaccharide is normally found in the blood.

Blood glucose is distributed to various tissues of body – brain, muscle and adipose tissue.

The fate of glucose in the tissue is as follows

Glucose may be catabolized to produce energy. Energy is stored as ATP which is used for different kind of work like – muscle contraction, glandular secretion etc.

Stages of Catabolism

1) **First stage**

'Glycolytic pathway' (EMP Pathway – Embden, Mayer, Phoff pathway)

The six 'C' atoms structure (Glucose) is converted into 3 'C' structure (Pyruvic/Lactic acid). This stage can occur in absence of O_2 and small amount of 'ATP' is generated.

Instead of EMP, Glucose molecule may be broken down via another pathway (eg. – HMP or PPP pathway)

2) **Second stage**

Pyruvic acid enters into the kreb's cycle (Citric acid cycle) and broken down into CO_2 and H_2O. This stage cannot occur without O_2 and acquire more ATP molecule.

Anabolism of Glucose/Carbohydrate

Glucose may be taken up by the muscle to synthesize – 'Muscle glycogen' or an intermediate product of glucose metabolism like acetic acid.

This acetic acid is utilized for the synthesis of fatty acids.

2) Protein Metabolism

The food proteins are digested in G.I. tract and ultimately converted into amino acid.

The human body has, **amino acid pool**. The pool includes places like plasma and tissue fluid.

Various body tissues pick up the required amino acids from the pool and synthesize their own productive and characteristic protein. Also simultaneously disintegrating tissues, discharge amino acid into the pool. The size of this pool, remain practically constant.

Protein Anabolism

1) Amino acids are taken up by the tissues for the replacement of wear and tear.
2) For growing children, additional quantity of protein is required for the growth.
3) Some endocrine glands, like pancreas, parathyroid, hypothalamus pick up amino acid for manufacturing their specific hormones (protein in nature) – Insulin.
4) Lactating mother require extra amount of protein.
5) Enzymes are protein in nature, so the cells, which secrete enzymes, pick up 'amino acids'.

Protein Catabolism (Energy Liberation)

In catabolism, amino group from amino acid is removed. From $-NH_2 \rightarrow$ Urea is synthesized and excreted in urine. $-NH_2$ group from amino acid is removed with "Transamination" process. This reaction is catalyzed by "Glutamate, Oxaloacetate, Transaminase." High value of this enzyme in the serum i.e. High SGOT indicated 'M.I." or "Liver damage' or "skeletal muscle damage'

In short NH_2 group of amino acids is ultimately removed as NH_3. NH_3 is highly toxic, so it is converted into urea. In liver failure, urea cannot be formed and blood ammonia concentration is increased, which damages the brain (Hepatic coma) and death.

Normal blood urea = 20 - 40 mg %

(In renal failure, blood urea = 200 mg%. This condition is called as 'Uremia')

Creatine/Creatinine

Creatine phosphate is present in the muscles and due to high energy phosphate compound, take part in the contraction of skeletal muscle.

A part of creatine phosphate is converted into 'Creatinine' and is excreted through the urine, as a creatine.

Normal serum creatine = 0.6 – 1.5 mg%

In renal failure serum creatinine ↑.

3) Fat Metabolism

Among different types of lipids, Triglyceride mainly generate energy. Fatty acids of 'Triglycerides' are the main agent for 'ATP Generation".

Triglycerides are hydrolyzed in adipose tissue. Fatty acid are release and appear as FFA (Free Fatty Acid).

Plasma albumin and FFA complex in the plasma is mainly transported.

FFA are brought to different organs (liver, muscle and heart) where further catabolism occurs. Fatty acids are catabolized by a process called oxidation within the mitochondria. The end products of fatty acid catabolism are active acetate molecules which immediately enter into 'Krebs's cycle'.

The H atom liberated during oxidation are removed by respiratory chain (H carrier system)

Movements of GI tract

1) Deglutition

1) Process of swallowing of food.

2) Phases
   i) Oral phase
   ii) Pharyngeal phase
   iii) Oesophageal phase.

i) Oral Phase

Masticated food is mixed with saliva. Bolus is pushed back to pharynx, by movement of tongue. This phase is voluntarily controlled by muscle of tongue. (Supplied by Hypoglossal nerve)

ii) Pharyngeal phase - Involuntary

Events are

a) Elevation of trachea.

b) Epiglottis falls on trachea, to close it.

c) Nasopharynx is closed by contraction of muscle of soft palate.

d) Pharyngo-oesophageal sphincter opens.

e) Vocal cords are approximated.

f) In all these events, respiration stops temporarily (Diglutition Apnoea)

Control

Reflex mechanism. Presence of food in pharynx, stimulate touch receptors. Afferent impulses travel via 9th, 10th and 5th cranial nerves to the brain stem. Deglutition center is situated in medulla. Efferent impulses come through 9th, 10th and 11th cranial nerves and bring about synchronized events of this phase.

iii) Oesophageal Phase

Involuntary phase. Two components

a) **Primary peristalsis** – due to activity of pacemaker at pharyngo-oesophageal center.

b) **Secondary peristalsis** – presence of food causes distention of oesophagus. Afferent impulses travel via Vagus nerve. From Vagus center efferent impulses come via Vagus nerve and increase peristalsis.

When food reaches cardiac sphincter, it opens by receptive relaxation. Food enters into stomach and sphincter closes. This prevents regurgitation.

Pathology

- **Dysphagia - Difficulty in deglution**

Main cause – Cancer of oesophagus. Also occurs in 'Achalasia cardia – when cardiac sphincter is not relaxing properly.

- **Regurgitation of food from nose or into Trachea**

(Causing coughing reflex)

This can happen if nerves are damaged near pharynx – Pharyngeal phase cannot occur in synchronized manner (e.g. Diphtheria)

2) Mastication

Definition

Process of grinding of food under teeth.

Teeth functions

Incisiors – To cut the food.

Molars and premolars – Mastication

Function of Mastication

Big food particles are converted to small particles. Surface area increases and digestive enzymes can act better.

Muscles of mastication

1) **Temporalis** – Originates from temporal bone and is inserted on mandible. Fan shaped muscle.
2) **Masseter** – Originates from maxillary part of bone and is inserted on mandible.

Functions

These muscles when contract upward, movement of jaw takes place which helps in grinding.

3) **Medial and lateral Pterygoid** – Located on inner side of mouth. Due to these muscles side to side movement of jaw occurs which helps in grinding.

All these muscles are supplied by – Mandibular branch of 'Trigeminal nerve'

Mastication Reflex

- This is stretch reflex.
- Due to presence of food bolus in the mouth jaw drops down. Stretch receptors in the muscles of mastication are stimulated.
- Afferent impulses go through trigeminal nerve – to its motor nucleus in pons.
- Efferent impulses again via mandibular nerve give signals to the muscle to contract. Jaw is elevated.
- Process occurs again and again automatically.
- This process can also controlled voluntarily, by motor cortex. We can stop or start the act of mastication voluntarily.

Pathology

- Injury or pain or stiffness of TM joint – movement of mastication suffers.

In Tetanus there is a spasm of muscles of mastication – leading to 'locked jaw' and mastication reflex suffers.

- If molars, premolars are in inadequate number – i.e. in the old age → mastication suffers.

- If tongue is injured, mastication suffers because for mastication, movements of tongue are helpful to push the food under teeth.

3) Movements of stomach

- When food enters into stomach it undergoes receptive relaxation. Then food is stored.

- **Mixing waves (घुसळणाऱ्या) and propulsive waves (पुढे ढकलणाऱ्या)**

Mixing waves are initiated at rate of every 20 sec. And are due BER (Basic Electrical Rhythm). This helps to mixed the food with gastric juice.

Then waves start moving down from fundus to pylorus. They become powerful which increases pressu e of antral contents.

- **Emptying of stomach**

Antral peristalsis (Pyloric pump) and relaxation of pyloric sphincter, releases gastric contents to duodenum.

In stomach food is stored for 2 to 2&1/2 hrs. It is called as "Gastric emptying time".

It can be studied by 'Barium Meal examination. (BA swallow) Waves of BER, become five to six times powerful which push fluid food (Chyme) towards pylorus. This is called 'Pyloric pump activity'. Emptying of stomach is proportionate to the volume of food.

Factors, which modify, gastric emptying

Stomach factors

Food in the stomach try to hasten gastric emptying. Stimulation of vagus increases pyloric pump activity and also causes relaxation of sphincter.

Hormone gastrin also has the same effect.

Duodenal factors

With feed back inhibition, distention of duodenum stimulates local nerve plexuses, which inhibit gastric emptying.

Duodenal hormones like GIP and CCK – PZ cause inhibition of gastrin and inhibit gastric emptying.

Fatty food

Delays gastric emptying.

Chilly food, Protein food has got quick emptying effect.

In pyloric stenosis (which is a complication of chronic duodenal ulcer) Gastric emptying is delayed.

4) Movements of small intestine

Peristalsis – Definition

Wave of relaxation, followed by wave of contraction. This is the basic property of all tubular structures.

In intestine it is more prominent due to myenteric plexus.

Types of movement

1) **Mixing movement** – Only one segments contracts and relaxes (Segmental peristalsis). Wave is not spreading to the next segment. Food is mixed with digestive juices.

2) **Propulsive waves** – Spread from one segment to another and food is pushed ahead and ahead. Speed = 5 to 6 hrs are required to reach the food from duodenum to Caecum.

3) **Rush peristalsis** – When irritation of mucosa, high segments contracts and large quantity of food is pushed ahead. Structures lined by smooth muscle.

4) **Antiperistalsis** – Normally wave of peristalsis – From oral to rectal direction. But when there is excessive irritation (Gastro-enteritis, food poisoning, obstruction) – Waves move in opposite direction, leading to vomiting.

5) **Gastrocolic reflex** – Presence of food and distention of stomach, increases peristalsis in small intestine. This is due to stimulation of local nerve plexuses and release of hormone of GIT.

Movements of Villi

Due to movement of submucosa of intestine thin coat of muscle contract due to presence of food and distention of small intestine. Villi movement help in absorption process

Role of ilio cecal valve

It allows unidirectional movement of food. Contents of cecum cannot regurgitate back.

Causes of Peristalsis

1) **Role of Nerves**

i) **Role of Myenteric plexus (intrinsic supply)**

In muscularis layer of intestine this plexus is present. Presence of food and distention of intestine stimulate this plexus and they send signal to smooth muscle –increasing movement. This is called as local reflex/ myenteric reflex.

ii) **Role of sympathetic and parasympathetic nerves (Extrinsic supply)**

Parasympathetic nerves – increases the peristalsis.

Sympathetic nerves – decreases peristalsis.

iii) **Role of Hormones**

CCKPZ, Gastrin, Serotonin etc. hormones directly act on smooth muscle and increase peristalsis.

Functions of Peristalsis

- Mixing of food with digestive juices.
- Push the food on absorptive surfaces, to facilitate absorption
- Undigested food is pushed to large intestine.
- To increase the blood supply of intestine.

Pathology

- In cholera, food poisoning – peristalsis is stimulated excessively – which causes loose motion and dehydration.
- Postoperatively or due to anticholinergic drug (Tab Baralgan, Tab Spasmindon) – Movements are reduced.

Defecation Reflex

- Mass peristaltic movement, push faecal matter from sigmoid colon into the rectum.
- Distention of rectal wall stimulates – Stretch receptors.
- This receptors send – sensory nerve impulses to the – sacral spinal cord.
- Motor impulses, from the spinal cord travel along parasympathetic nerves – back to the descending colon, sigmoid colon, rectum and anus.

- Contraction of longitudinal rectal muscle, shortens the rectum, which increases the inside pressure.

This pressure, along with voluntary contraction of diaphragm and abdominal muscle – open the internal sphincter and feces are expelled through the anus.

- If external sphincter voluntarily relaxed – defecation occurs. But, if it is voluntarily constricted, defecation can be postponed.
- In infants, the defecation reflex causes – automatic emptying of the rectum, because voluntary control of the external anus sphincter has not yet developed.

Pathology

1) Diarrhoea

- Defecation of liquid feces
- Due to increased motility of intestine and decreased absorption of water. It may be due to lactose intolerance, stress and microbes which irritate the gastro intestinal mucosa.
- Precaution should be taken, to avoid dehydration and electrolyte imbalance.

2) Constipation

Infrequent or difficult defecation. Due to decreased motility of the intestine – faeces remain in the colon for prolonged period and so excessive water absorption take place – feces become dry and hard.

Main causes are improper bowel habits, insufficient fibers in the diet, inadequate fluid intake and lack of exercise.

Enzyme-Digestion-Summary table

No.	Site	Glands	Secretion	Enzymes	Changes
1	Mouth	Salivary	Saliva (Alkaline)	Salivary Amylase	Starches to maltose sugar
2	Gullet or oesophagus	Mucus	Mucus	——	Lubricant
3	Stomach	Gastric	Gastric fluid (acidic)	Pepsin	Proteins to Peptones
				Rennen	Coagulates Casein
		Acid Glands	HCL	——	Stimulates glands- Dissolves insoluble mineral matter
4	Small intestine	Liver	Bile (Alkaline)	——	Emulsifies fats
a	Duodenum	Pancreas	Pancreatic fluid (Alkaline)	Trypsin	Proteins to amino acids
				Amylase	Starches to maltose sugar
				Lipase	Fats to fatty acids and glycerine
b	Ileum	Intestinal	Intestinal fluid (Alkaline)	Maltase	Maltose to glucose
				Sucrase	cane sugar to glucose
				Lactase	Lactose to glucose
				Erepsin	Peptones to amino acids

सूक्ष्म पचन

आहार रस का शरीर सात्म्य भाव में रुपान्तर होना इसे सूक्ष्म पचन कहते है।

सूक्ष्म पचन - आहार रस में उपस्थित पोषक घटकों के द्वारा शरीर के सप्त धातु तथा शेष भावपदार्थों का पोषण सूक्ष्मपचन के द्वारा होता है। स्थूलपचन के पश्चात सूक्ष्मपचन होता है। अतः उसे चक्रेदत्त ने 'अनुपाक' इस संज्ञा से संबोधित किया है।

(अनु - पश्चात्, पाक - परिणमन/पचन)

प्राकृत सूक्ष्म पचन के लिए आवश्यक - पचन तथा अग्नि का अन्योन्य संबंध होता है। जिस प्रकार स्थूलपचन के लिए जाठराग्नि, उसी प्रकार सूक्ष्म पचन के लिए धातु के स्तर पर धात्वाग्नि का विचार अपरिहार्य है। धातु के पोषक अंश संबंधित स्थान तक पहुँचने के लिए आहाररस को व्यानवायु द्वारा गति प्राप्त होना आवश्यक होता है।

संक्षेपतः, सूक्ष्म पचन प्राकृत होने के लिए वात, पित्त, कफ का प्राकृतत्व आवश्यक है। साथही सूक्ष्म पचन जिस स्थान में होता है, वह स्थान भी प्राकृत होना आवश्यक है।

उपरोक्त में से एक भी यदि अप्राकृत होगा तो सूक्ष्म पचन सम्यक् नहीं हो सकता, ऐसा चक्रपाणि का मानना है।

तत्र पांचभौतिकस्य, चतुर्विधस्य, षड्रसस्य, द्विविधवीर्यस्य
अष्टविधवीर्यस्यवानेक गुणयुक्तस्याहारस्य सम्यकपरिणतस्य यः तेजोभूतः सारः
परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते, तस्य च हृदयं, स्थानं सहृदयात्
चतुर्विंशतिधमनीहनुप्रविश्य उर्ध्वगाःदश दशाचाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः
कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति च अदृष्टहेतुकेनकर्मणा।

... सु. सू. १४ / ३

सूक्ष्म पचन प्रक्रिया

आहार घटकों का स्थूल पचन के द्वारा सम्यक् पचन होने पर तेजोभूत, परमसूक्ष्म सारभाग अर्थात् आहाररस की निर्मिती होती है। वह सूक्ष्म सिराओं के द्वारा हृदय में प्रविष्ट होता है और धमनी द्वारा सर्व शरीर में रसधातु हृदयस्थ व्यान वायु की प्रेरणा से प्रक्षेपित होता है। सर्व धातुओं के पोषक अंश इस रसविक्षेपण के कारण संबंधित स्थान पर पहुँचते है और धातुओं का पोषण, तर्पण, वर्धन, धारण, यापन होता है। उसी प्रकार सूक्ष्मपचन में निर्मित मलांश हृदय की ओर वापस लाए जाते हैं।

संतत्या भोज्य धातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्। ... च. चि.

उपरोक्त धातु पोषण क्रिया नित्यस्वरुप से शरीर में चलती रहती है। धातुओं का पोषण निम्न क्रम से होता है।

धातुउत्पत्ति पोषण क्रम

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततो ऽस्थिच।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुकाद्गर्भः प्रजायते॥ ... च. चि. १५ / १६

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सप्त धातु हैं। रस, रक्त यह पोषणक्रम है। इसी क्रम के अनुसार शरीर में पोषण होता है। साथही यही धातु उत्पत्ती क्रम भी है। अर्थात् रस से रक्त की, रक्त से मांस की, मांस से मेद की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातुओं से उत्तरोत्तर धातुओं का पोषण होता है, अतः यह क्रम महत्त्वपूर्ण है।

स्थान

सामान्यतः त्वचा मांस से बनती है। त्वचा के नीचे मेद धातु होता है। अस्थि सभी ओर से मांस धातु से आलिप्त (आवेष्टित) होता है। रस, रक्त तथा शुक्र ये धातु सर्व शरीरव्यापी हैं। शुक्र सर्व शरीरव्यापी है, क्यौं कि प्रत्येक निर्मिति के लिए फलकोष से बाहर निकलना यह उसकी कृति होती है। स्वरुप - रस, रक्त, शुक्रगतिमान होते हैं और अस्थि, मांस, मेद मज्जा स्थिर होते हैं। पंचमहाभूतों के गुण धातु में प्रतीत होते हैं, धातुओं के गुणधर्म एकसमान नहीं होते। धातुओं के गुणधर्म परस्पर-विरोधी किन्तु परस्पर-बाधकारक नहीं होते।

धातु उत्पत्ति-पोषण काल

इस विषय में मतभिन्नता है।

१) **सुश्रुत टीकाकार डल्हणाचार्य के अनुसार,**
रसः किलैकाहेनैव संपद्यते तदन्तरं ये षडधातवस्ते।
प्रत्येकं पंचभिः पंचभिरहोभिः संपद्यते॥ ... डल्हण

अर्थ - पहले दिन रस धातु की निर्मिती होती है। तत्पश्चात पाँच दिन के बाद एक-एक इस प्रकार शेष छह धातुओं की निर्मिती होती है। अर्थात पहले दिन रस, उसके बाद पाँच दिन के बाद रक्त, दसवें दिन मांस, पंद्रहवें दिन मेद, बीसवें दिन अस्थि, पच्चीसवें दिन मज्जा और तीसवें दिन शुक्र कि निर्मिती होती है।

२) चरक टीकाकार चक्रदत्त के अनुसार

आहाररस का एक दिन में रस में रुपान्तर होता है। तत्पश्चात छह दिन के बाद शुक्रोत्पत्ति होती है। प्रारंभ से दिन-मापन करने पर साँतवे दिन शुक्रोत्पत्ति होती है।

चरकाचार्य का भी यही मानना है कि, भोज्यधातु का परिवर्तन किसी चक्र की भाँति नित्य चलता रहता है।

संतत्या भोज्य धातूनां परिवृतिस्तु चक्रवत्। ... च. चि. १५ / २२

सूक्ष्म पचन का परिणाम

सूक्ष्म पचन का परिणाम भी २ प्रकार से होता है। १) प्रसाद भाग

२) किट्ट भाग

इन दो प्रकार के भावपदार्थों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार चावल पकाने पर प्रसादरुप ओदन और मलरुप फेनमंड निर्माण होता है, उसी प्रकार सूक्ष्मपचन के कारण रसादि धातुओं की प्रसादभाग स्वरुप में उत्पत्ति और किट्ट स्वरुप में धातुमलों की उत्पत्ति होती है। साथही उपधातु नामक और एक भावपदार्थ की निर्मिति होती है।

उपधातु

धातु के समान ही शरीरधारणा के लिए आवश्यक, धातुसदृश्य किन्तु सप्तधातुओं की अपेक्षा गौण, शरीरस्थित भावपदार्थ उपधातु कहलाए जाते हैं।

धातु निम्न प्रकार के होते हैं

	धातु	उपधातु
१	रस	स्तन्य, रज
२	रक्त	सिरा, कंडरा
३	मांस	वसा, षट्त्वचा
४	मेद	स्नायु, संधिबंध

चक्रदत्त के अनुसार ये भावपदार्थ गतिवर्जित होते हैं, अतः उन्हें उपधातु कहा जाता है। अर्थात्, जिस प्रकार रस से रक्त की, रक्त से मांस की उत्पत्ति होती है, उससे विपरीत उपधातुओं से किसी भी भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती।

	धातु	मल
१	रस	कफ
२	रक्त	पित्त
३	मांस	ख मल
४	मेद	स्वेद, केश, लोम
५	अस्थि	केश, नख, श्मश्रु
६	मज्जा	अक्षि, विटस्नेह
७	शुक्र	ओज

उपरोक्त धातु-मलों की उत्पत्ती सूक्ष्म पचन के कारण होती है।

अभ्यासक्रम के शेष मुद्दे

प्रतिहारिणी सिरायाः वर्णनम् तस्या यकृतसह संबंधस्य वर्णनम् च।

Portal Vein and Hepatic Circulation

Blood enters the liver through two sources

- Portal vein
- Hepatic artery

The hepatic artery is not an end artery and has got anastomotic channels with the portal vein at several levels of the interlobular regions.

The Portal Vein Is Originated From Two Vessels

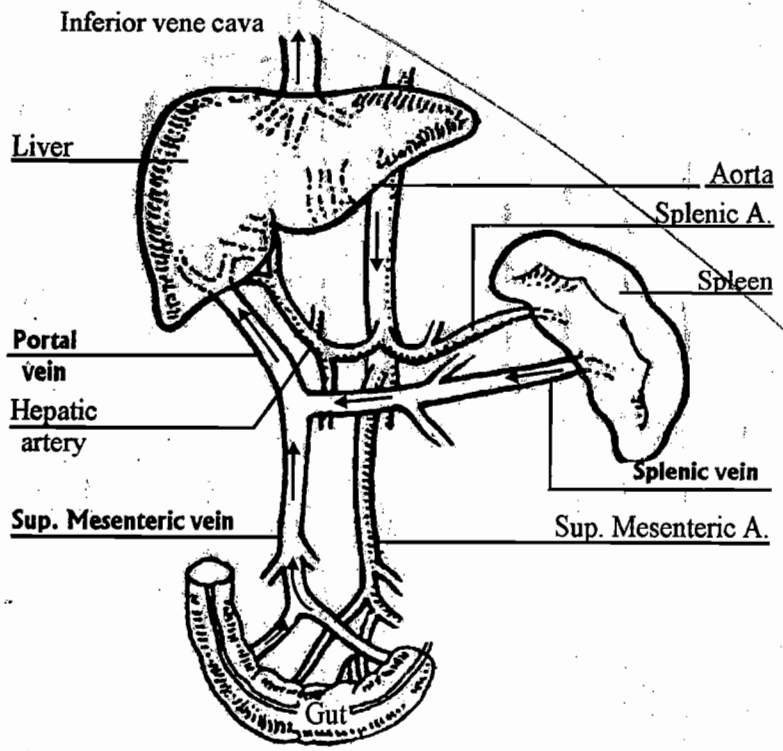

Blood circulation in liver through portal vein and hepatic artery

The superior mesenteric vein draining blood from the mesenteric bed and the splenic vein draining blood from the spleen

The left lobe of the liver gets blood from the spleen and the right lobe of the liver gets it from the superior mesenteric vein. Though the major blood supply is made by the portal vein, yet the hepatic artery ligation may or may not be compatible with survival.

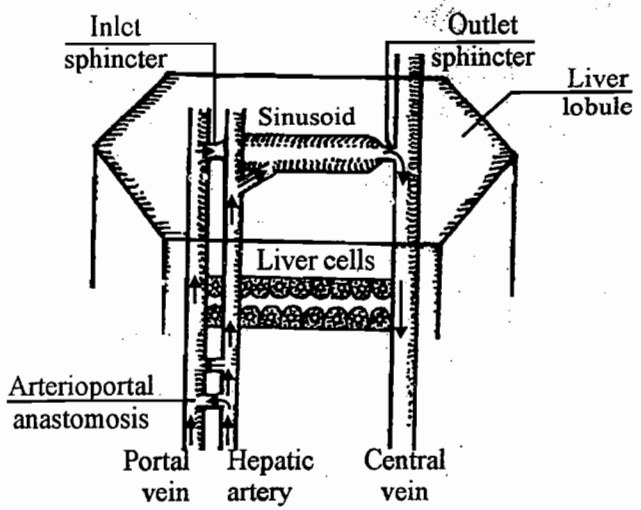

Portal vein, hepatic artery and central vein in liver

The portal vein and the hepatic artery have anastomotic connections with the sinusoid. The sinusoid is a smooth walled cylindrical tube and is lined by phagocytic cells (Kupffer). It is guarded by inlet and outlet sphincters at their terminals and these sphincters play an important role in the regulation of flow and storage of blood.

Normal Values of Hepatic Circulation

1) Hepatic Blood Flow

The Portal area can hold about a quarter of the total blood volume. The average minute of the total blood flow is about 100 ml. per 100 gm of the liver tissue. The portal vein supplies 2 / 3rd to 3 / 4th of the total blood flow, 60 % of O_2 requirement and major part of nutrition.

2) Hepatic Blood Pressure

Pressure in the portal vein is about 8 - 10 mm Hg. Measured directly at operation in man, it comes to about 14 - 22 mm of H_2O.

Factors modifying hepatic circulation

1) CO_2 and H ion concentration changes, metabolities, O_2 lack etc. after the lumen of the vessels.

2) **Respiration** - During respiration, portal flow rises.

3) Contraction of the spleen and movements of the intestine help in driving blood through the liver.

4) **Systemic blood pressure** - When pressure falls, O_2 supply of the liver decreases.

5) **Neurogenic factors** - Sympathetic stimulation changes the hepatic blood flow by increasing resistance of the hepatic blood vessels. Role of Vagi, on the hepatic blood flow is uncertain.

6) **Vasomotor reflex control** - Volume of liver is increased following increase of pressure in the carotid sinus and the aortic arch.

7) **Adrenaline and Non adrenaline** - Adrenaline has got both constrictor and dilator effects. Nor adrenaline has got constrictor effect.

8) **Effect of exercise** - Muscular exercise decreases the splanchnic blood flow.

9) **Haemorrhage** - Following haemorrhage the blood flow to the liver is decreased. But the vascular resistance in the splanchnic bed remains unaltered and normal flow is resumed within an hour.

10) **Visceral distension** - Distension of the stomach due to intake of food reduces the hepatic blood flow.

11) **Clinical condition** - In cirrhosis of liver the hepatic vascular resistance is increased and in order to maintain the normal blood flow the portal venous pressure is also increased.

Effects of portal Obstruction (Clinical)

1) Congestion at the lower end of oesophagus (oesophageal varices) and in the mucous membrane of anus (Haemorroides) etc. and in occasional haemorrhages from the dilated venules of these sites.

2) Dilated venules over the anterior abdominal wall.

Rise of portal venous pressure.

Accumulation of fluid in the peritoneal cavity (Ascites)

Note - Clinically portal obstruction is noticed in cirrhosis of liver.

प्लीहा क्रिया विचार

१) स्थान

कोष्ठे हृदयस्य अधःदक्षिणतः यकृत् वामतः प्लीहा च। ... सु. शा. ४

२) स्वरूप

यकृत प्लीहा च मातृजानि लोहितं च। ... च. शा ३

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ। ... सु. शा. ४

३) स्त्रोतस मूलस्थान

रक्तवहे द्वे तयोमूर्ले यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः। ... सु. शा. ९

४) कार्य

स खलु आप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ तत्रस्थमेव। ... सु.शा. १४/४

५) मेदक्षय

मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः मेदुरमांस प्रार्थना च। ... सु.शा. १४/ ४

Spleen

Spleen (lien) is the largest lymphoid tissue in the body and specialized bean - shaped organ for filtering blood. It is highly vascular haemopoietic organ situated in the left hypochondric region directly beneath the diaphragm, above the left kidney and descending colon, behind the fundus of the stomach and weighing about 150 gm in adults.

It also plays an important role in the metabolism and defense mechanism of the body.

Functions of spleen

1) **Formation of blood -** In embryo, the spleen functions as a haemopoietic organ but in normal adult life it never functions in the formation of R. B. C.! Spleen has got some influence on the formation of platelets.

2) **Blood destruction -** The old red cells and white cells are destroyed by the R. E. cells of the spleen.

3) **Reservoir of food -** Spleen acts as a great reservoir of food. The spleen may release about 150 ml of blood (mainly erythrocytes) to circulation.

4) **Relation to storage and metabolism**

- **Pigment metabolism -** Hb is broken down into haem and globin, the haem is further split into iron and pigment haematoidin, which becomes Bilirubin of the plasma.
- **Iron metabolism -** The iron that is liberated from Hb is at first stored in the splenic pulp cells. Then it is gradually transferred to other places.

5) **Defensive action**

- Spleen is a chief site of Immune body formation.
- The R. E. cells engulf bacteria, parasites like Leishman Donovan (L - D) bodies in kala - azar and foreign particles.
- The pulp cells unite with certain toxins, especially of diphtheria and remove them from general circulation.
- The lymphoid cells of spleen also react against infections.

6) Spleen is concerned with actual haemolysis of old red cells or prepares them for final haemolysis.

Proof

Clinical cases have been reported, where spleen was found to cause severe haemolytic anaemia in the patients after splenectomy operation.

लालाग्रंथी वर्णनम् (Salivary Glands)

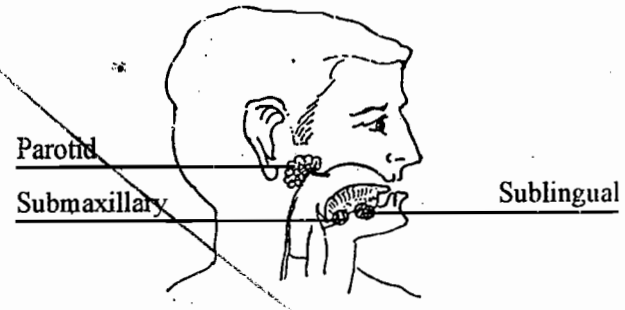

Position of salivary glands

There are three pairs of salivary glands

- *Parotidal*
- *Submaxillary or submandibular.*
- Sublingual.

One of each pair remains on one side and opens into the cavity.

1) The **parotid gland** opens upon the inner surface of the cheek, opposite the second upper molar tooth, by a single duct called 'The Duct of Stensen'.

2) The **submaxillary gland** similarly opens by 'Wharton's Duct' upon the floor of the mouth on the side of the frenulum of the tongue.

3) The **sublingual gland** on the other hand, opens by several fine ducts, upon the floor of the mouth by the side of the frenulum. These are called 'The Ducts of Rivinus'.

Histologically, salivary glands are typical racemose glands, consisting of lobules which are made up of alveoli and the interlobular septum. Each alveolus is enclosed by a basement membrane upon which the gland cells are arranged. The gland cells may be of two types - • Serous. • Mucous.

The secretion of the serous glands is thin, watery, poor in solid but rich in enzymes, such as the starch splitting enzyme, amylase also known as ptyalin. The secretion of the mucous glands is thick and viscid containing much mucus.

The secretion of the glands is conveyed through various salivary ducts.

Composition And Functions of saliva

Total amount - 1200 - 1500 ml in 24 hrs. A large proportion of this 24 hr volume is secreted at meal time when secretory rate is highest.

Composition - Water 99.5 %, Solids 0.5 %.

Functions

1) Mechanical Functions

- It keeps the mouth moist and helps speech. Decrease in salivary secretion as occur after nervousness causes impairment of speech.
- It helps in the process of mastication of the food stuff and in preparing into a bolus, suitable for deglutition. Here, saliva also acts as a lubricant.
- It dilutes hot and irritant substances and thus prevents injury to mucous membrane.
- Constant flow of saliva washes down the food debris and thereby does not allow the bacteria to grow. In acute fevers, where the salivary secretion is inhibited, the food debris are not properly washed away and the bacteria are multiplied.

2) Digestive Functions

Saliva contains two enzymes -

- Ptyalin, which splits starch up to maltose.
- Maltase converts maltose into glucose.

3) Excretory Functions

Saliva excretes urea, heavy metals (Hg, Pb, Bi, As etc.), thiocyanates, certain drugs like iodine etc. Alkaloids, such as morphine, antibodies such as penicillin, streptomycin etc. are also excreted in saliva. The excretion of ethyl alcohol by the salivary glands has prompted the recommendation that such a test should be used for 'Medico Legal Purpose'. It also excretes certain virulent micro - organisms such as the virus of hydrophobia, acute anterior poliomyelitis, mumps etc.

4) Helps In The Sensation of Taste

Taste is a chemical sensation. Unless the substance be in solution, the taste buds can not be stimulated. Saliva acts as a solvent and is thus essential for taste.

5) Helps Water Balance

Saliva keeps the mouth moist when moisture is reduced in the mouth, certain nerve endings at the back of the tongue are stimulated and the sensation of thirst arises. When body water is lost (sweating, diarrhoea etc.), saliva is reduced and thirst is felt. The subject feels the necessity of drinking water and thus water balance is maintained.

6) Helps Heat Loss

Found in animals (dog etc.) when they become hot or excited, more saliva is secreted causing greater heat loss.

7) Buffering Action

Mainly, bicarbonate and to the lesser extent phosphates and mucin present in saliva act as buffers.

8) Bacteriolytic Action

Saliva dissolves the cell wall of many bacteria and finally kills them.

अच्छ पित्त

अन्नपचन के स्थूलपचन के द्वितिय अवस्थापाक में उदीरित होने वाले पित्त को अच्छ पित्त यह संज्ञा दी गई है।

परं तु पच्यामानस्य विदग्धस्य अम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तम् अच्छम् उदीर्यते॥ ... च. चि. १५/९

आयुर्वेदीय शब्दकोश में अच्छ इस शब्द के निम्न अर्थ बताएं हैं।

१)	अघनम्	(च.चि. १/१०)	----- गाढा/घना न होनेवाला, पतला
२)	केवलम्	(सु.शा. १०/२२)	----- मिलावट/मिश्रण रहित, शुद्ध
३)	तनु	(सु.सू. ४५/१९९)	----- पतला
४)	निर्मलम्	(च.शा. ८/४८)	----- मलरहित, अच्छ स्वच्छ
५)	केवलम्	(च.सू. १३/७)	----- केवल

प्रकरण १९

धातु पोषण न्याय

रसादि सप्तधातुओं का पोषण किस प्रकार से होता है, इस संदर्भ में आयुर्वेद में तीन प्रकार से विवेचन किया गया है, उसी को 'धातुपोषण के त्रिविध न्याय' कहते है।

१) केदारकुल्या न्याय

२) क्षीरदधि न्याय

३) खलेकपोत न्याय

मूल संहिता ग्रंथों की अपेक्षा इस विषय का विवेचन चरक टीकाकार चक्रदत्त और गंगाधर, सुश्रुत, टीकाकार डल्हण तथा शिवदास ने विस्तार से किया है।

धातुपोषण न्याय का महत्त्व

धातु पोषण न्याय का ज्ञान प्राप्त करने से -

- सूक्ष्म पचन किस प्रकार होता है ?
- शरीर के विविध प्राकृतिक व्यापार किस प्रकार चलते हैं ?
- व्याधिसंप्राप्ति एवं चिकित्सा कौनसी की जा सकती है ?

इस विषय में विचार किया जा सकता है।

१) केदारकुल्या न्याय (अंशांश परिणमन)

केदार = क्षेत्र / खेत।

कुल्या = नहर।

खेतों में जिस प्रकार फसल को विविध नहरे अथवा मार्ग बनाकर पानी दिया जाता है, उसी प्रकार मानवी शरीर में धातुओं का पोषण होता है।

धातुओं का पोषण क्रमशः होता है। सर्वप्रथम आहाररस रसधातु को प्राप्त होता है, तत्पश्चात् शेष धातुओं को प्राप्त होता है। अतः इसे अंशांश परिणमन भी कहा जाता है। आहाररस सभी धातुओं की ओर युगपत् अर्थात् 'उत्पलपत्रसुचिपत्र भेद' इस न्याय से एक ही समय पहुँचाया जाता है। शरीरदृष्टी से रसादि धातु आहार की दृष्टी से

दूर-दूरतम नहीं होते किन्तु शरीर कार्य की दृष्टी से धातु दूर होते हैं। आहाररस प्राप्त कर प्रत्येक धातु स्वेच्छा के अनुसार अपना पोषण करता है।

स्पष्टीकरण

खेत तें पानी का मुख्य स्त्रोत होता है कुआँ। कुएँ का पानी पखाल/मोट तथा बैल/मोटर की सहायता से ऊपर लाया जाता है और उसे नहर तथा बांध बनाकर फसल तक पहुँचाया जाता है। इस पद्धति में निकटस्थ स्थान का पोषण सर्वप्रथम होता है, तत्पश्चात बीच वाले स्थान का पोषण होता है और अंततः अंतिम स्थान का पोषण होता है। नहर सबसे पहले स्थान को पानी सर्वप्रथम देती है और बाद में आगे पानी ले जाती है। इसी न्याय के अनुसार शरीर में धातुपोषण होता है।

हृदयस्थ व्यानवायु के द्वारा प्रक्षेपित निकटस्थ रसधातु को सर्वप्रथम उसके पोषक अंश दिये जाते हैं, अतः प्रथमतः उसका पोषण होता है। तत्पश्चात मांस, मेद आदि धातुओं को उनके पोषक अंश दिये जाते हैं और उनका पोषण होता है। वहाँ से आहाररस आगे निकलते हुए शुक्रधातु तक जाता है। यह पोषण क्रिया क्रमशः शुक्रधातु तक जाती है। सारांश - इस न्याय से आहाररस स्थित धातु पोषक अंश क्रमशः शरीर में सर्वदूर पहुँचने की क्रिया समझी जा सकती है।

विशेष टिप्पणि

सुश्रुत संहिता के पाँचवे अध्याय में (सिरावर्ण विभक्ती) सिराओं द्वारा होने वाले पोषण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि - छोटी-छोटी नहरों से प्राप्त पानी के कारण जिस प्रकार फसलों का पोषण होता है, उसी प्रकार शरीर में फैली हुई सिराओं द्वारा शरीर का अर्थात् शरीरधातुओं का पोषण होता है। यहाँ सुश्रुत ने 'केदार इव कुल्याभिः।' ऐसा शब्द प्रयोग किया है।

२) क्षीरदधिन्याय (सर्वत्र परिणमन)

क्षीर = दुग्ध।

दधि = दधि।

दूध से दही निर्माण होने के दौरान जिस प्रकार विशिष्ट प्रक्रिया होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार धातुपोषण के दौरान भी विशिष्ट प्रक्रिया होती है।

दूध —(किण्वन)→ दही —(मंथनसंस्कार / अग्नि)→ तक्र एवं प्रसाद घृत

इस प्रकार एक धातु का पूर्णतः दूसरे धातु में रुपान्तर होता है।

स्पष्टीकरण

दूध पर अग्निसंस्कार कर, उस पर अम्ल कफ का संयोग कर उसे जमाया जाए तो वह दही में रुपान्तरित होता है। इसी दही पर मंथनजन्य अग्नि का परिणाम होकर उसके मलीन अंश दूर होकर सर्वाधिक प्रसन्न तथा सारभाग घृत निर्माण होता है।

जिस प्रकार दूध पर विविध संस्कार होकर अंततः उससे उत्तम गुणधर्म युक्त घृत निर्माण होता है, उसी प्रकार मनुष्य देह में रसधातु का क्रमशः पचन होकर, उसके मलभाग का पृथःकरण होते हुए अंतिमतः शुक्र यह अधिक प्रसादभूत भाग निर्माण होता है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसन्मेदस्ततो ऽस्थिच।
अस्थ्नो मज्जाततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥ ... च.चि.१५/१६

३) खलेकपोत न्याय (पृथक् परीणमन)

खल = खलिहान।

कपोत = कबूतर।

धान्य से भरे खलिहान पर दाना चुगने के लिए अनेकों कबूतरों का जमावडा होता है। वहाँ अन्न खाने के बाद वे भिन्न-भिन्न दिशाओं में उड जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न धातु अपना-अपना धातु पोषक अंश आहाररस से प्राप्त करते हैं।

स्पष्टीकरण

कबूतरों का स्वस्थान में जल्द अथवा देरी से पहुँचना उनका स्थान निकट अथवा दूर होने पर निर्भर करता है। साथही हर एक कबूतर के उडने की गति भिन्न होती है।

यही स्थिति धातुपोषण में भी होती है। विभिन्न धातुओं के पोषक अंश विभिन्न मार्गों से उस धातु तक पहुँचते हैं। आहाररस का रसपोषक अंश स्वतंत्र मार्ग से जाकर रसपुष्टी करता है। शुक्रधातु की ओर जाने वाले स्रोतसों का मार्ग अत्यधिक दूर होने के कारण उसके पोषण के लिए अधिक समय लगता है और रसधातु का मार्ग नजदीकी होने से उसका पोषण सत्वर होता है।

धातु उत्पत्ति, पोषण इस संदर्भ में उपरोक्त तीनों न्यायों का अपनी-अपनी दृष्टी से महत्त्व है। तथापि एक-एक न्याय का स्वतंत्र रुप से विचार करने पर हर एक के लाभ-हानि समझे जा सकते हैं।

१) केदारकुल्या न्याय

ज्वर, पांडु, राजयक्ष्मा, कुष्ठ आदि सार्वदैहिक व्याधियों में मुख्यतः प्रथम आहाररस बिगडता है और उसकी विकृति का परिणाम सर्व शरीर में होता है। इसके कारण रक्तादि अगले धातु बिगडते हैं। यह स्पष्टीकरण केदारकुल्या न्याय के अनुसार दिया जा सकता है। साथही इस प्रकार के व्याधियों में रसदुष्टि पर चिकित्सा करने से व्याधि सत्वर ठीक होता है।

२) क्षीरदधिन्याय

रस से लेकर उत्तरोत्तर धातुओं में सारभाग आते हुए शुक्रधातु में मानो सभी धातु परिणत होते है। इसी लिए शुक्र से निर्मित गर्भ में सप्तधातु बीजरुप से आते हैं, यह क्षीरदधि न्याय के अनुसार समझा जा सकता है।

३) खलेकपोत न्याय

विशिष्ट मिथ्या आहार के कारण विशिष्ट धातु ही बिगडता है, यह संप्राप्ति खलेकपोत न्याय के अनुसार स्पष्ट की जा सकती है।

उदा. विशिष्ट औषधि द्रव्य विशिष्ट स्थान पर अथवा विशिष्ट धातुओं पर ही कार्य करते हैं। शतावरी, अश्वगंधा इन वनस्पतियों का मांसधातु पर कार्य, श्रृंगभस्म का अस्थिधातु पर कार्य अथवा पयः सद्यशुक्रकरः। यह खलेकपोत न्याय के द्वारा स्पष्ट होता है।

व्यावहारिक दृष्टी से तीनों भी न्याय योग्य किस प्रकार ?

१) **केदारकुल्या न्याय**

धातुपोषक अंश की वहन **वहन प्रक्रिया** स्पष्ट होती है।

२) **क्षीरदधि न्याय**

धातु उत्पत्ति अथवा पोषण में होने वाली **परिणमन प्रक्रिया** स्पष्ट होती है।

३) खलेकपोत न्याय

धातु उत्पत्ति अथवा पोषण में **विशिष्ट घटकों का ही स्वीकार** किया जाता है, यह प्रक्रिया स्पष्ट होती है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थिच।

अस्थ्यो मज्जा ततः शुक्रं शुक्रात् गर्भः प्रसादजः॥ ... च.चि.१५/१६

रस से लेकर शुक्र तक का यह परिणमन क्रमशः किस प्रकार होता है ? इसका विस्तारपूर्वक वर्णन चरकचार्य ने निम्न प्रकार से किया है।

१) रस से रक्त की निर्मिति।

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।

पित्तोष्मणः स रागेन रसो रक्तत्वमृच्छति॥ ... च. चि. १५

२) रक्त से मांस की निर्मिति।

वाय्वाम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्।

स्थिरतां प्राप्य मांस स्यात् ...॥ ... च. चि. १५

३) मांस से मेद की निर्मिति।

स्वोष्मणा पक्वमेव तत्।

स्वतेजोम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदो ऽभिजायते॥ ... च. चि. १५

४) मेद से अस्थि की निर्मिति।

पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः।

खरत्वं पकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्॥ ... च. चि. १५

५) अस्थि से मज्जा की निर्मिति।

करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये, समीरणः।

मेदसस्तानि पूर्यते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः॥ ... च. चि. १५

६) मज्जा से शुक्र की निर्मिति।

तस्मात् मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः॥ ... च. चि. १५

प्रकरण २०

अभ्यासक्रम में समाविष्ट नूतन विषयांश

प्रथम पत्रम्

मुद्दा १

१) **शरीरस्य भौतिक संगठनम्।**

इस संदर्भ में निम्न श्लोकों के संदर्भ सहायक हैं।

- **सर्वं द्रव्यं पांचभौतिकम् अस्मिन् अर्थे।** ... च.सू.१६/२६
- **सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति।** ... सांख्यकारिका
- **एतस्मात् आत्मन् आकाशः सम्भूतः, आकाशात् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेर आपः, अद्भ्यः प्रथिवी ...।** ... तैत्तरीय उपनिषद

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकरण ३ में वर्णित पांचभौतिक सिद्धांत में बताए हुए शरीर के पांचभौतिक सिद्धांतों में से शरीरगत पांचभौतिक घटकों का वर्णन, पांचभौतिक द्रव्यों के गुण एवं कार्य इनका विवेचन **शरीरस्य भौतिक संगठनम्** इस प्रश्न के उत्तर में लिखें। साथही Modern Physiology में वर्णित निम्न Terms का विवेचन करें।

1) **Matter & Energy -** All living & non living things cosist of matter. (Matter = anything which occupies space & has mass)

2) **Energy = Capacity to do work = To put mass into motion**

3) **जीवभौतिक सिद्धांत**

Energy can be neither created, nor destroyed.

This principle = conservation of Energy.

2 kinds of energy - 1) Potential 2) Kinetic.

Energy exists in various forms - Radiant, Electrical, Heat, chemical, mechanical.

4) All forms of **matter** are made up of limited number of building blocks = **chemical elements**. (Substances that can not be split into simpler substances by ordinary chemical reactions)

5) Each **element** is made up of **Atoms.** (Smallest unit of matter, that enter into chemical reactions.)

6) Atom consists of 3 major types of subatomic particles
1) Protons 2) Neutrons 3) electrons.

7) **Atomic Number** - Number of protons in Atom.

8) **Mass Number of an atom** - Number of protons & Neutrons.

9) **Isotopes** - Different atoms of an element, which have the same number of protons but different number of neutrons.

Radio active isotopes can be used to study the structure & function of particular tissue.

e.g. Thallium - 201 is used to image the heart (Thallium Imaging) & to assess, blood flow to heart muscles.

10) **Molecule** - When 2 or more atoms share electrons after a chemical reaction, the resulting combination is called as molecule (e.g. water molecule or NaCl molecule)

11) **Compound** - A chemical substance that can be broken down into 2 or more different elements by chemical means.

मुद्दा २

शरीरस्थ रासायनिक संघटन

Most of the chemicals in our body exist in the form of **compounds.**

Inorganic compounds are small & lack carbon. They include oxygen, carbondioxide, water & many salts, acids & bases.

Organic compounds always contain carbon. Important organic compounds are **carbohydrates, lipids, proteins, nucleic acids & adenosine triphosphate (ATP)**

इसी ग्रंथ के प्रकरण १६ में Carbohydrates, lipids, proteins का वर्णन किया गया है। शेष दो घटकों का वर्णन यहां किया जा रहा है।

1) Nucleic Acids (DNA & RNA)

These acids, first found in nuclei of cells, hence the name nucleic acids. These are huge organic molecules, which contain, carbon, hydrogen, oxygen, nitrogen & phosphorus.

2 Types - 1) Deoxyribonucleic Acid (DNA)
2) Ribonucleic acid (RNA)

DNA

Forms the inherited genetic material inside each cell. Each **Gene** is a segment of DNA molecule.

Genes determine, which traits we inherit. By controlling protein synthesis, they regulate most of the activities, that take place in our cells, throughout a life time.

When a cell divides, its hereditary information passes on to the next generation of cell.

The monomers of nucleic acids are called **Nucleotides.** Each Nucleotide of DNA consist of 3 parts – 1) Nitrogenous base
2) Pentose sugar
3) Phosphate group.

1) Nitrogenous base

In DNA - Adenine (A), Thymine (T),
Cytosine (C), Guanine (G),

In the **Watson-crick Double Helix model.** DNA resembles a twisted rope ladder.

Adenine always pairs with Thymine & Cytosine always pairs with Guanine.

DNA finger printing

This technique is used in research & in medico legal cases to identify & convict criminals.

This can be done with single strand of hair, a drop of semen, spot of blood. It is also used to determine identify of child's parents.

RNA

Ribonucleic acid is 2 type of Nucleic acid. RNA relays instruction from genes to guide each cells assembly of amino acids into proteins.

3 different kinds of RNA – 1) Messenger RNA
2) Ribosomal RNA
3) Transfer RNA

2) Adenosine Triphosphate (ATP)

This is the '**Energy Currency**' of living systems.

Function

Temporary store & then transfer the energy liberated in exogenic catabolic reactions to cellular activities that require energy for example

1) Muscular contractions
2) Movement of chromosomes during cell division
3) Movement of cytoplasm within cells.
4) Transporting substances across cell membranes
5) Synthesizing larger molecules from smaller ones. (Anabolism)

A) ATP ⟶ ADP + (P) + E (Energy)

The energy supplied by catabolism of ATP into ADP is constantly being used by the cell.

B) ADP + (P) + E ⟶ ATP

Energy required to produce ATP is supplied by catabolism of glucose in a process of **Cellular Respiration.**

2 Phases of cellular respiration

i) **Anaerobic** - In absence of oxygen, glucose is partially broken down by a process Glycolysis into pyruvic acid.

Each glucose molecule, that is converted into a pyruvic acid molecule yields 2 molecules of ATP.

ii) **Aerobic** - In the presence of oxygen, glucose is completely broken down into carbon dioxide & water. These reactions generate heat & a large number of ATP molecules. 36-38 ATP from each glucose molecule.

जीवरसायन एवं जीवभौतिक सम्बन्धी सामान्य सिद्धांत
(Physio - chemical laws applied to physiology)

1) Movement of materials - Across plasma membranes

a) Passive Process

Movements without using cellular energy

b) Active Process

Cell uses some of its own energy from the splitting of ATP.

A) Passive Process

i) Simple Diffusion ii) Osmosis
iii) Bulk flow iv) Facilitated Diffusion

i) **Simple Diffusion** - Random mixing of ions & molecules in a solution, due to their kinetic energy is called simple diffusion (Diffuse = spreading)

Particles diffuse from the region of high concentration to low concentration.

ii) **Osmosis** - This is net diffusion of water, through a selectively permeable membrane.

Osmotic pressure is defined as pressure required to stop movement of pure water into a solution containing solutes, when the two are separated by a membrane permeable only to water.

The higher the concentration of solutes, the higher the osmotic pressure of a solution.

iii) **Bulk flow** - The movement in the same direction of large number of ions, molecules or particles that are dissolved or carried in a medium such as fluid or air is called bulk flow.

Filtration

Example of bulk flow substances move across capillary walls from the blood into interstitial fluid. This process is called filtration.

iv) **Facilitated Diffusion** - Many ions, urea, glucose, fructose, vitamins which are too lipid insoluble to diffuse through the phospholipid bilayer, can cross the plasma membrane by **facilitated diffusion.**

Here the substance moves down its concentration gradient from a region of higher concentration to a region of lower concentration with the help of **specific proteins i.e. Transporters (carriers).**

B) Active process

Substances which need to enter or leave body cells can not move across plasma membrane passively, because they need to move against concentration gradient. Such substances can cross the membrane by active process. These are ATP consuming processes

i) Active Transport ii) Vesicular Transport

i) Active Transport

2 types

A) Primary Active Transport (Sodium pump)

Energy derived from splitting ATP directly moves or **pumps** a substance across the membrane.

B) Secondary Active Transport

Energy stored in an ionic concentration gradient is used to drive substances across the membrane.

ii) Vesicular Transport - Types

a) **Phagocytosis** - Phagein = to eat, called as **'cell eating'.**

Projections of plasma membrane & cytoplasm **(pseudo pods)** surround large solid particles, outside the cell & then engulf them.

b) **Pinocytosis** - Pinein = to drink called as **'Cell Drinking'.**

The engulfed material is a tiny droplet of extracellular fluid rather than a solid particle.

c) **Receptor mediated endocytosis** - Highly selective process in which cells can take up specific molecules or particles.

d) **Exocytosis** - Reverse process of endocytosis. It discharges substances from cells.

Dialysis

If kidney function is damaged & they are unable to excrete nitrogenous wastes, regulate pH, the blood must be artificially cleansed by **Dialysis.**

Dialysis means the separation of large particles from smaller ones, through use of a selectively permeable membrane.

2 types - a) Hemodialysis

b) Continuous Ambulatory Peritoneal Dialysis (CAPD)

Surface Tension

A thin layer of alveolar fluid lies next to air in the alveoli & **exerts a force**, known as surface tension.

Surface tension arises at all **Air Water Junctions** because polar water molecules are more strongly attracted to each other than they are to gas molecules in the air.

Surfactant, produced by **Type 2** alveolar cells, lowers the surface tension of alveolar fluid & hence reduces the tendency of alveoli to collapse completely.

Surfactant is a mixture of phospholipids & lipoproteins.

Hydrolysis & Dehydration

When 2 monomers join together the reaction usually involves the elimination of molecule of water = **Dehydration** (Dehydration = loss of water) **synthesis** - because a molecule of water is released.

- **Macromolecules -** Carbohydrates, lipids, proteins, nucleic acid are assembled in the cell by dehydration synthesis.

It is also possible for macromolecules to be broken down into monomers by the addition of water. This is **Hydrolysis** - to split apart by using water.

Hydrophilic & Hydrophobic

When cell makes a protein, the polypeptide chain folds to assume a certain shape

Reason for folding of polypeptide is that some parts are attracted to water = Hydrophilic & some part are repelled = Hydrophobic.

Gas Laws in Respiration

1) **Dalton's Law -** Each gas in a mixture of gases exerts its own pressure as if all the other gases were not present.
2) **Henry's Law -** The quantity of gas that will dissolve in a liquid is proportional to partial pressure of gas & its solubility co-efficient when the temperature remains constant.

पेपर १ - विभाग ख

धातुपाक वर्णनम् (चयापचय क्रियायाः वर्णनम्)

इसी ग्रंथ के प्रकरण १८ - Digestion में वर्णित निम्न विषयांश इस मुद्दे में समाविष्ट होता है।

1) Carbohydrate metabolism (Anabolism & Catabolism)
2) Protein metabolism (Anabolism & Catabolism)
3) Fat metabolism (Anabolism & Catabolism)

शंतनू प्रकाशन

Cell - 98 22 08 55 06
Ph. - (0241) 2 32 17 24
www.shantanuprakashan.com

फ्लॅट क्र.१३+१४, साक्षात्कार सोसायटी, १२८, बुधवार पेठ, पुणे – ४११ ००२, महाराष्ट्र.
दिल्ली गेट, सातभाई मला, डी. एड्. कॉलेज के पास, अ.नगर – ४१४ ००१, महाराष्ट्र.

हमारे हिन्दी एवं अंग्रेजी ग्रंथ

According to the syllabus of C.C.I.M., New Delhi

प्रथम वर्ष आयुर्वेदाचार्य

शरीर रचना विज्ञान - भाग १	वैद्य शिवाजी वाव्हल	यन्त्रस्थ
शरीर रचना विज्ञान - भाग २	वैद्य शिवाजी वाव्हल	३५०
Shareera Rachana Vidnyan - Part 1	Dr. Shivaji Wavhal	यन्त्रस्थ
Shareera Rachana Vidnyan - Part 2	Dr. Shivaji Wavhal	यन्त्रस्थ
शरीर रचना विज्ञान - Color atlas	वैद्य शिवाजी वाव्हल	यन्त्रस्थ
शारीर क्रिया विज्ञान - भाग १	वैद्य राजेन्द्र देशपांडे, शिवाजी वाव्हल	२००
शारीर क्रिया विज्ञान - भाग २	वैद्य राजेन्द्र देशपांडे, शिवाजी वाव्हल	२००
शारीर क्रिया विज्ञान - Handbook	वैद्य राजेन्द्र देशपांडे, शिवाजी वाव्हल	७५
पदार्थ विज्ञान - Handbook	वैद्य शिवाजी वाव्हल	५०

द्वितीय वर्ष आयुर्वेदाचार्य

द्रव्यगुण विज्ञान - Charts	वैद्य शिवानंद पाटील	६०
रसशास्त्र, भैषज्य कल्पना - Charts	वैद्य निनाद साठे	यन्त्रस्थ
अगदतन्त्र, व्यवहार आयुर्वेद	वैद्य राजेन्द्र देशपांडे	यन्त्रस्थ

तृतीय वर्ष आयुर्वेदाचार्य

स्त्रीरोग	डॉ. प्रभा शर्मा	७५
कायचिकित्सा - भाग १	डॉ. साधना बाबेल, प्रफुल्ल बाबेल, शिवाजी वाव्हल	१२५
शल्यतन्त्र - भाग १	वैद्य अनंतकुमार शेकोकार, कांचन शेकोकार	२७५
शल्यतन्त्र - भाग २	डॉ. विजय उखलकर, स्वप्नील झिमरे	२५०
Practices & principles of Agnikarma	Dr. Anantkumar Shekokar	50
PG entrance exam question set	Dr. Anantkumar Shekokar	60
CNS Examination book +VCD	Dr. A.R.Joshi,Deshpande,Wavhal	100

श्लोकावली मालिका

आयुर्वेद अभ्यासक्रम के सभी विषय

प्रथम वर्ष आयुर्वेदाचार्य

शरीर रचना विज्ञान	- श्लोकावली	-----	६०
शारीर क्रिया विज्ञान	- श्लोकावली	-----	५०
पदार्थ विज्ञान	- श्लोकावली	-----	४०
अष्टांग संग्रह	- श्लोकावली	-----	२०
अष्टांग हृदय	- श्लोकावली	-----	५०

द्वितीय वर्ष आयुर्वेदाचार्य

स्वस्थवृत्त	- श्लोकावली	-----	४०
द्रव्यगुण विज्ञान	- श्लोकावली	-----	३५
संपूर्ण द्रव्यगुण विज्ञान	- श्लोकसंग्रह	-----	१५०
रसशास्त्र, भैषज्य कल्पना	- श्लोकावली	-----	३०
रोगविज्ञान, विकृतिविज्ञान	- श्लोकावली	-----	३५
अगदतंत्र	- श्लोकावली	-----	५०
चरक संहिता (पूर्वार्ध)	- श्लोकावली	-----	२५

तृतीय वर्ष आयुर्वेदाचार्य

प्रसुतितंत्र स्त्रीरोग	- श्लोकावली	-----	३५
कौमारभृत्य (बालरोग)	- श्लोकावली	-----	४०
कायचिकित्सा	- श्लोकावली	-----	१२५
कायचिकित्सा	- श्लोकसार संग्रह	-----	८०
शल्यतंत्र	- श्लोकावली	-----	५०
शालाक्यतंत्र	- श्लोकावली	-----	२०
चरक संहिता (उत्तरार्ध)	- श्लोकावली	-----	४५

Any queries ? Call directly the publisher at - 0 98 22 08 55 06 / 0241 - 2 32 17 24

Visit us at www.shantanuprakashan.com to view the SAMPLE PAGES OF OUR BOOKS and much more informative links for UG & PG students of Ayurveda.